भारत का सामाजिक एवम् सांस्कृतिक इतिहास

(1200 ईसवी से 1757 ईसवी तक)

Socio-Cultural History of India

(1200AD - 1757 AD)

Group - C
Paper - IX
(Option - i)

एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध)
M.A. History (Final)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक - 124 001

Copyright © 2004, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

विषय सूची

UNIT-I

अध्याय 1. तुर्की आक्रमण के समय भारतीय समाज : 5
(i) भारतीय समाज की प्रमुख विशेषताएँ
(ii) धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराएँ

अध्याय 2. दिल्ली सल्तनत की स्थापना और भारतीय समाज के लिए चुनौती 16

अध्याय 3. सामाजिक ढाँचाः

(क) शासक वर्ग 22
(ख) धार्मिक वर्ग उलेमा एवम् सूफी 57
(ग) मध्यम वर्ग 69
(घ) कारीगर 83
(ड़) मध्यकालीन भारत में किसान एवम् उनकी भौतिक तथा सामाजिक स्थिति 101

अध्याय 4. नारी और पुरुष : ऐतिहासिक परिपेक्ष में 107

UNIT-II

अध्याय 5. भारतीय इस्लाम का विकास 114

अध्याय 6. (क) भक्ति आंदोलन : उदय एवं विकास 129

(ख) उग्र सुधारवादी – कबीर एवं नानक 142

(ग) परम्परावादी – सूरदास एवं तुलसीदास 156

अध्याय 7. भक्त नारी : मीराबाई 163

अध्याय 8. भक्ति आन्दोलन का प्रभाव 169

अध्याय 9. सूफी मत : उदय एवं विकास 176
सिलसिला : चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी, नक्शबन्दी

अध्याय 10. सूफ़ीमत का प्रभाव 226

UNIT-III

अध्याय 11. अकबर के धार्मिक विचारों का क्रम–विकासः
(रूढ़िवादिता से उदारवाद की ओर; सुलह–ए–कुल; तौहीद–ए–इलाही) 231

अध्याय 12. मुसलमानों की रूढ़िवादिता और 16 वीं और 17 वीं शताब्दी में मुगल राज्य 238

M.A. History (Final)
Paper - IX
Socio–Cultral Hstory of India
(1200 AD - 1757 AD)

Max. Marks : 100
Time : 3 Hours

Note : *10 questions shall be set in the paper spread over the entire syllabus more or less proportionately, out of which the candidates shall be required to attempt five questions, selecting at least one question from each unit. All question shall carry equal marks.*

UNIT – I

1. **Society on the Eve of Turkish Invasion :**
   a) Main features of Social Structure.
   b) Religio – Cultural Traditions.
2. Establishment of Delhi Sultanate and Challenges to Indian Society.
3. **Social Structure :**
   a) Ruling class
   b) Religious Classes – Ulema, Sayvads and Sufis
   c) Middle Class
   d) Artisans
   e) Peasantry
4. Women and Gender Relations.

UNIT – II

5. Development of Indian Islam
6. **Bhakti Movement :**
   a) Rise and Growth
   b) Radicals – Kabir and Nanak
   c) Traditionalist – Surdas and Tulsidas
7. Women Bhakta – Meerabai.
8. Impact of Bhakti Movement.
9. Impact of Suffism.
10. **Sufism:**
    a) Rise, growth and impact
    b) Silsilahs: Chishti, Suhrawardi, Qadri, Naqshbandi.

UNIT – III

11. Evolution of Akbar's Religious Ideas :
    From Orthodoxy to Liberalism; Sulh – I – kul; Tawhid – I – Ilahi
12. Muslim Orthodoxy and the Mughal state in the 16th and 17th Century.

UNIT-I

अध्याय - 1

तुर्की आक्रमण के समय भारतीय समाज : Society on the Eve of Turkish Invasion

(i) भारतीय समाज की प्रमुख विशेषताएँ (ii) धार्मिक तथा सांस्कृतिक परम्पराएँ
(a) Main Features of Social Structure (b) Religion - Cultural Traditions

लगभग एक शताब्दी से उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी विद्ववानों ने यह गलत धारणा फैलाए रखा है कि भारतीय समाज वर्षों से स्थिर समाज है? जिसमें कभी बदलाव नहीं आया। परन्तु जब हम 8वीं शताब्दी से 13वीं शताब्दी के बीच के समय का गहरा अध्ययन करते हैं तो हमें लगता है कि भारत का सामाजिक संगठन जीवन्त तथा प्रगतिशील रहा है। और आर्थिक राजनैतिक और वैचारिक क्षेत्र में परिवर्तनों से प्रभावित हुआ है।

वास्तव में बात यह है कि आर्थिक और सामाजिक जीवन तथा विचार और आस्थाओं में राजनैतिक जीवन की अपेक्षा बहुत धीरे–धीरे परिवर्तन होता है। इसी वजह से अनेक प्रारंभिक विशेषताएँ जो नौवीं शताब्दी के पहले अस्तित्व में थी इस काल में भी कुछ विशिष्ठता आ गई। सामान्यतः प्रत्येक ऐतिहासिक काल में नये तत्वों के साथ प्राचीन तत्व भी विद्यमान रहते हैं लेकिन परिवर्तन की गति तथा दिशाएं भिन्न–भिन्न होती है।

उत्तर गुप्त काल के विभिन्न भाषा और लिपि के अभिलेखों और साहित्यक स्त्रोतों से पता चलता है कि भारतीय समाज वर्षों से प्रगतिशील रहा है। इनमें कुछ क्षेत्रीय और स्थानीय सामाजिक विशेषताओं पर प्रकाश डालते हैं।

परन्तु उनकी सहायता से सम्पूर्ण भारत की समाजिक स्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इनमें धर्म शास्त्र, धर्म निबंध' काव्य साहित्यक और वैज्ञानिक पुस्तकें, **कलहन की "राजतंरगिनी", शिहर्ष** की **उदय सुंदरी कथा जीना सेना** की **आदिपूर्ण, सिद्धांत के दोहे मनुस्मति मेधातिथी** की और **भजनवल्य** के स्मति पर **विज्ञानेश्वर** की टिप्पणी आदि से भारतीय सामाजिक व्यवस्था को समझने में अत्याधिक सहायता मिलती है।

इस काल में समाज व्यवस्थित नहीं बल्कि परिवर्तनशील समाज था। क्योंकि उस समय भारतीय आर्थिक संरचना में भी परिवर्तन हो रहा था। इस परिवर्तनों का मुख्य कारण भूदान की परम्परा थी। जो 8वीं शताब्दी से लगातार जोर पकड़ती जा रही थी। जिसके कारण :

- कृषि का विस्तार हुआ।
- स्थानीयकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा मिला।
- शहरी व्यवस्था पर अनुकूल प्रभाव पड़ा।
- आर्थिक व्यवस्था अच्छी हुई।
- सामाजिक और आर्थिक गतिहीनता एवं कृषकों और मजदूरों का शोषण बढ़ा।

उपर्युक्त कारणों की वजह से एक आधुनिक सामाजिक वातावरण तैयार हुआ। जिसमें एक नई सामन्तवादी व्यवस्था उमर कर सामने आयी। जिससे पहले से चली आ रही व्यवस्था में परिवर्तन आया। ऊपर लिखित बातों से प्रतीत होता है कि यह धारणा गलत है कि भारतीय समाज एक स्थिर समाज था इसके विपरीत सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तनों के सबूत मिलते हैं। जो आर्थिक व्यवस्था में होने वाले परिर्वतनों से जुड़े हुए थे।

जाति व्यवस्था

इस काल में भारतीय समाज में जाति व्यवस्था की बहुत बड़ी भूमिका थी, दरअसल यह व्यवस्था पहले भी थी इस काल में भी ये सामाजिक ढ़ाँचे का मूल आधार बन गई। इस काल के मूर्तीकारों ने ब्राह्मणों के विशेष आधिकारों को बढ़ा–चढ़ा कर बयान किया है। और शुद्रों को धार्मिक और सामाजिक दष्टि से घोर अयोग्य साबित करने में अपने पूर्ववर्ती लेखकों को भी पीछे छोड़ दिया है। लेखक **पराशर** के अनुसार शुद्रों द्वारा बनाया भोजन करना उनके साथ उठना–बैठना, और उनसे सीखना ऐसे कार्य हैं जो कुलीन व्यक्ति को भी नीच बना देते हैं। यहाँ तक की शुद्रों का छाया दुषित थी या नहीं हम ऐसी भी चर्चा पाते हैं।

इस काल में मुख्य तौर पर चार वर्णों पर आधारित जातियाँ थीं और ब्राह्मण लोग इस वर्ण विभाजन को बरकरार रखने की पूरी कोशिश कर रहे थे पर जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि आर्थिक और राजनैतिक परिवर्तनों के कारण सामाजिक ढ़ांचा प्रभावित हो रहा था। और इसके परिणामस्वरूप नई उपजातियाँ और मिश्रित जातियाँ उभरकर सामनें आ

रही थीं। वर्ण व्यवस्था की सुरक्षा के लिए ब्राह्मण लोग प्रयास कर रहे थे लेकिन यह कहना कठिन है कि स्मतिकारों के विचारों का किस हद तक दैनिक जीवन में पालन किया जाता था। लेकिन इसमें कोई संदेह नही है कि निम्न वर्गीय लोगों की स्थिति इस काल में और भी खराब हो गई। अर्न्तरजातीय विवाह को हेय दष्टि से देखा जाता था। यदि कोई कुलीन पुरुष अकुलीन स्त्री से विवाह करता था तो उसकी संतान की जाति माँ की जाति के आधार पर निर्धारित की जाति थी। लेकिन यदि स्त्री कुलीन हो और पुरुष अकुलीन तो ऐसी स्थिति में संतान की जाति पिता की जाति पर निर्धारित की जाति थी। समकालीन लेखकों ने अनेक तत्कालीन जातियों का उल्लेख किया है जिनमें कुम्हार, जुलाहे, सुनार, संगीतज्ञ, नाई, रसीवार, चमार, मछुआरे, बहेलिया आदि शामिल थे। इनमें से कुछ मजदूरों के संघ थे। जिनका वर्गीकरण अब जातियों के रूप में हो गया था। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस काल के स्मतिकारों ने हस्तशिल्पों को निम्न जाति का माना है इस प्रकार अधिकांश श्रमिकों और भीलें जैसे आदिवासियों की अछूतों की श्रेणियों में गणना होने लगी।

राजपूत जाति

इस काल में सामाजिक ढाँचें के अन्दर एक नए वर्ग राजपूत की उत्पत्ति का पता चलता है। राजस्थान के लोग कहानियों में 36 राजपूत कुलों का वर्णन मिलता है। राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बंध में विद्ववानों में बहुत मतभेद है कुछ विद्वानों का मानना है कि हर्षवर्धन के बाद शासक वर्ग के सारे खानदान राजपूत कहलाते है जबकि कुछ दूसरे विद्वान राजपूतों की उत्पत्ति को गुर्जर लोगों से जोड़ते हैं जो अफगानिस्तान से पश्चिमी भारत आए थे। जबकि **C.V. Vaidya** ने एक अलग ही मत अपनाया है। उसके अनुसार राजपूत वैदिक आर्यों के संतान थे। जबकि दशरथ शर्मा के विचार में राजपूत वो लोग कहलाये जो विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए खड़े हुए और क्षत्रिय लोगों की जिम्मेदारी निभाई। अनेक राजपूत अपने को महाभारत के सूर्य और चन्द्रवंशी क्षत्रियों के वंशज मानते हैं। कुछ अन्य अपनी उत्पत्ति का स्रोत उस यज्ञ को मानते हैं जिसे ऋषि वशिष्ठ ने आबू पर्वत में किया था। बहरहाल हम राजपूतों के उत्पत्ति से सम्बंधित इन विचारों में किसी पर निर्भर नहीं कर सकते हैं क्योंकि आबू पर्वत की यज्ञ अग्नि से राजपूतों के उद्भव बाद के चरण साहित्य में पहली बार आया है। इनसे सिर्फ यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न राजपूत वंशों की उत्पत्ति के अलग–अलग स्रोत थे। कुछ भारतीय और विदेशी विद्ववान यह मानते है कि इन राजपूतों के पूर्वज सोथियन और हूण लोग थे जो हर्ष के बाद भारत में आकर बस गए थे। कुछ अन्य वंशों की उत्पत्ति भारतीय जनजातियों से हुई। क्षत्रियों के अतिरिक्त ब्राह्मणों और वैश्य परिवार के लोगों ने अनेक कालों में देश पर शासन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में विविध जातियों के शासकों के वंशजों को राजपूत या राजपूतयानी शाही कहा गया। और उन्हें क्षत्रियों का दर्जा प्रदान किया।

यह विचारणीय है कि जाति का वर्गीकरण इतना कठिन नहीं था जैसा कि कभी–कभी माना जाता है। व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप में लोग उच्च वर्ग में सम्मिलित हो सकते थे और निम्न जाति में गिर भी सकते थे। कभी–कभी नई जातियों को वर्ण की श्रेणी में रखना कठिन हो जाता था। इसका एक उदाहरण कायस्थ जाति है जिसका उल्लेख इस काल से आरम्भ होने लगता है। ऐसा प्रतित होता है कि आरम्भ में विविध जातियों के लोग जिसमें ब्राह्मण और शुद्ध शामिल थे और जिन्होनें राजकीय व्यवस्था में हाथ बटाया था कायस्थ नाम से पुकारे गए। कलान्तर में वह एक पथक जाति के रूप में उभरे। इस काल में हिन्दू धर्म का तीव्र गति से विस्तार हो रहा था। इसने न केवल बड़ी संख्या में बौद्धों और जैनों को आत्मसात किया वरन् अनेक स्वदेशी जनजातियों और विदेशीयों को भी हिन्दू बना लिया। इन नए वर्गों ने नई जातियों ओर उपजातियों को नया रूप दिया और प्रायः अपनी प्रथाओं शास्त्रीय पद्धति से विवाह उत्सवों और अपने जनजाति दैवों ओर दैवियों का पूजा करना भी जारी रखा। इस प्रकार समाज और धर्म अधिकाधिक जटिल हो गए।

इस काल में हूण, तुर्क, अरब आदि लोगों का आगमन वर्षों की पुरानी सामाजिक व्यवस्था के लिए एक चुनौती साबित हुआ। इसलिए शंकराचार्य ने भी कहा है कि वर्ण और आश्रम – धर्म एक अजीब परिस्थिति में थे। इस काल के अभिलेखों में वर्ण आश्रम–धर्म स्थापन जैसे शब्द से पता चलता है कि वर्ण व्यवस्था की सुरक्षा पर जोर दिया जाता था। 12वीं शताब्दी के एक **मनासोलासा** नामक पुस्तिका में वर्ण अधिकरण शब्द मिलता है जिससे यह पता चलता है कि वर्ण व्यवस्था के सुरक्षा के लिए एक अधिकारी होते थे। दरअसल वर्ण व्यवस्था की दढ़ता को बाकी रखने के लिए यह ब्राह्मण और कुछ राजनैतिक सलाहकारों का प्रयास था जो स्थिति यथापूर्व को बरकरार रखने में अपने स्वार्थों की सुरक्षा करना चाहते थे।

क्योंकि इसी काल में बहुत से लोगों ने वर्ण और जाति व्यवस्था के खिलाफ आवाज भी उठाई थी। बौद्ध और जैन धर्म के मानने वालों ने जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था के प्रति शक का इजहार किया। एक व्यंगीयपूर्ण पुस्तक **"लता कमे लका"** में एक ऐसे बौद्ध साधू का वर्णन मिलता है जो जाति के महत्व को इनकार करता है। और निराधार समझता है। छुआ–छूत और जात–पात पर आधारित अलग–अलग रहने की व्यवस्था की आलोचना करता है।

कश्मीर के साहित्यक बुद्धिमान **शीमिन्द्र** ने कुला–जाति–दर्पा को समाज की एक ऐसी बीमारी समझा है जिसका इलाज वह स्वयं ही कर सकता है।

11वीं शताब्दी की एक पुस्तक में सामाजिक विभाजन को जन्म पर नहीं बल्कि व्यवस्था पर केन्द्रित किया है। जिसमें निम्नलिखित श्रेणियाँ आती है।

- सबसे ऊपर चक्रवर्ती थे।
- इनके बाद सामंती थे।
- फिर व्यापारी बनिया, गाय, भैंस ऊँट, घोड़े आदि पशु रखने वाले लोग।
- फिर छोटे व्यापारी और कृषक
- निचले दर्ज में व्यापार संघों के सदस्य दस्ताकर और शिल्पकार आदि आते थे।
- जबकि सबसे निचली श्रेणी में चंडाल, और नीच कार्यों में संलग्न वाले व्यक्ति आते थे। जो जानवरों और पक्षियों को मारने का कार्य करते थें।

उपर्युक्त बातों से पता चलता है कि अब जातियों का निर्माण वर्ण व्यवस्था पर ही आधारित नहीं था बल्कि व्यवस्था की भी भूमिका बढ़ने लगी थीं।

सामाजिक व्यवस्था का सूक्ष्म विवरण

उपर्युक्त बातों से इस काल के सामाजिक ढ़ाँचे के बारे में जो मुख्य बाते सामने आती है वह निम्न हैं।

- वर्ण व्यवस्था में परिवर्तन आया जिससे शुद्र कृषि कार्य में संलग्न हो गए। और वैश्य से नजदीक आने लगे।
- बंगाल ओर दक्षिण भारत में एक ब्राह्मणवादी व्यवस्था आरंभ हुई, जिसमें बीच की जातियाँ नहीं थी और अंत में एक शिक्षित वर्ग उभरकर सामने आया जो वर्ण व्यवस्था में अपना स्थान पाने के लिए संर्घष कर रहा था।
- नई–नई मिश्रित जातियाँ उभरकर सामने आयीं।
- भूमि और सैनिक शक्ति के असमान बटवारे में नए सामंतवादी वर्ग उभरकर सामने आया। जो वर्ण पर आधारित विभाजन से बहुत हटकर थे।
- सामाजिक तनाव के बढ़ते सबूत मिलने लगे।

ग्रामीण क्षेत्र के विस्तार और कृषि के विस्तार के कारण इन कार्यों को करने वाले व्यक्ति के प्रति विचारों में परिवर्तन आया। उत्तर गुप्तकाल के कानूनी पुस्तकों में कृषि को "सामान्य धर्म" कहा गया है। जिसका तात्पर्य यह होता है कि उसमें सारे धर्मों के लोग भाग ले सकते थे। कुछ स्मतियों में आया है कि ब्राह्मण लोग अपने धार्मिक कार्यों के अलावा कृषि से अपने आपकों जोड़ सकते थे। चाहे इस कार्य के लिए वह शुद्रों से सहायता ले। इस काल के बारे में **"ह्वेनसांग"** और अलवेरुनी के अनुसार वैश्य और शुद्रों में जो फर्क था वह समाप्त हो रहा था। **"भोजन्यशुद्र"** (जिसके हाथ का पकाया खाना ब्राह्मण भी खा सकते थे) और **अनाश्रित** शुद्र का वर्ण मिलता है। जो मालदार होते थे और कभी–कभी क्षेत्रीय प्रशासनिक कमेटियों के सदस्य बन सकते थे। और शासन वर्ग भी बन सकते थे। इस काल में वैश्य और तो और निचली जातियों के मरदों के बीच होने वाली शादी के परिणामस्वरूप कई मिश्रित जातियाँ उभरकर सामने आयी। उपर्युक्त बातों बहुत कम शुद्रों बारे में कही जा सकती हें परन्तु इसमें कम से कम इतना मालूम होता है कि वर्ण व्यवस्था के सुरक्षा के लिए ब्राह्मणों के प्रयास के बावजूद उसमें दरार पड़ रही थी। इसी प्रकार हम बंगाल और दक्षिण भारत में देखते है कि वहाँ के सामाजिक व्यवस्था में हमें दो ही नजर आता है। यानी ब्राह्मण और शुद्र बीच के वर्ग के न होने के पीछे यह कहा जाता है कि इन क्षेत्रों में गैर ब्राह्मणवादियों का बड़ा प्रभाव था। इसी काल में एक नया वर्ग ''कायस्थों'' का भी उभरकर सामने आना होता है। जिसके अन्तर्गत बहुत सी जातियाँ और उपजातियाँ आयी थी।

यह वर्ग हिसाब–किताब रखा करते थे। जिसमें अलग–अलग वर्गों के लोग आ गए। मगर धीरे–धीरे यह वर्ग नई जातियों के रूप में उभरकर सामने आया। उदाहरण– **कर्ण, कपिका, लेखिका, अक्षर चन्द्र,** आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इस काल में नये मिश्रित जातियों की उत्थान सामाजिक परिर्वतन का नुमाया पहचान था। देशाभेद जैसे शब्द से पता चलता है कि उस काल में क्षेत्रियता के कारण, जाति व्यवस्था के कारण, भेद–भाव बरता जाता था। 10वीं शताब्दी के एक बंगाली अभिलेख में एक **"ब्रहतछतीवन"** नामक गाँव का वर्णन मिलता है। जिसका तात्पर्य यह होता है कि वह गाँव जहाँ 36 वर्णों के लोग रहते थे, कोई भी वर्ण सुसंगठित नही था बल्कि क्षेत्रियता पवित्रता गोत्र और विशेष व्यवसाय के कारण वर्ण व्यवस्था भिन्न–भिन्न नई मिश्रित जातियों में विभाजित हुआ। उदाहरणतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि।

नारियों की स्थिति

नारियों की स्थिति इस काल में कमोबेश वही थी जो समतियों में बयान की गई है। यानी पति और अन्य पुरुष सम्बंधी ऐसी व्यवस्था बनायी कि उन्हें पूरी तौर पर स्वतंत्र न होने दिया जा सकें। स्त्रियों को सिर्फ शारीरिक ही नहीं बल्कि मानसिक अपवित्रता से भी बचाया जाए। पहले की तरह इस काल में नारियाँ बौद्धिक स्तर में पिछड़ी समझी जाती थीं। उनका कर्तव्य अपने पति की आज्ञा का आँख मुँद कर बिना सोचे–समझे पालन करना था। एक लेखक पत्नी का अपने पति के प्रति कर्तव्य का बोध कराता है कि उसे पति के पैर की मालिश और इसी प्रकार के अन्य कार्यों को करना चाहिए जो नौकरों को उचित है। लेकिन आगे वह शर्तें लगाता है कि पति को सदाचार्य मार्ग पर चलना चाहिए। और उसे अपनी पत्नी के प्रति घणा और ईर्ष्या भी नहीं करनी चाहिए। **मत्स्य पुराण** ने पत्नी को पथभ्रष्ट पति के सिर तथा छाती को छोड़कर कोड़े या बाँस की छड़ी से मारने का अधिकार दिया है।

नारियों को वेदाध्ययन अधिकार से वंचित रखना अभी भी जारी था। इसके अतिरिक्त लड़कियों की शादी की उम्र कम कर दी गई। जिसके कारण उनकी उच्च शिक्षा की सुविधा समाप्त हो गई। तात्कालीन शब्दकोषों में शिक्षिकाओं का उल्लेख न होना नारी उच्च शिक्षा की दयनीय स्थिति का परिचायक है। फिर भी इस काल के कुछ नाटकों से हमें पता चलता है कि स्त्रियाँ और रानी की दासियाँ भी संस्कृत और प्राकृत में उत्कृष्ठ कविताओं की रचना करने में समर्थ थीं। ललितकला विशेष रूप से चित्रकला, और संगीत में राजकुमारियों की दक्षता का उल्लेख अनेक कथाओं में मिलता है। उच्च पदाधिकारियों की पुत्रियाँ वैश्याएँ और रखैल भी विविध कलाओं के साथ काव्य में भी विशेष पारंगत समझी जाती थी।

जहाँ पर लड़कियों की शादी की उम्र की बात है। तो इस सिलसिलें में स्मतिकारों ने कहा है कि लड़कियों की शादी 6-8 वर्ष के बीच या आठ वर्ष से राजस्वाला होने के पूर्व तक कर देनी चाहिए। पुर्नविवाह कुछ विशेष परिस्थितियों में स्वीकृत था जबकि पति ने पत्नी का त्याग कर दिया हो या पति की मत्यु हो चुकी हो, सन्यासी हो नपुसंक हों या निर्वासित हों।

इस काल में अर्न्तरजातिय विवाह का प्रचलन था उच्चवर्गीय लोगों का निम्न वर्गीय स्त्रियों से विवाह अगर ये वर्जित था लेकिन फिर भी स्मति चन्द्रीका में है कि उच्च वर्गीय पुरुष निम्न वर्गीय स्त्रियों से विवाह तब कर सकते है जबकि पहले उसका विवाह उच्च वर्गी स्त्रियों से हो चुका हों। बहुविवाह का विवाह शासक वर्ग में अधिक था। मार्कपोलों के अनुसार माबार के राजा की पाँच सौ (500) बीबीयाँ थीं जबकि बैजयन्ती के अनुसार एक राजा अलग–अलग परिस्थितियों के लिए कई पत्नियाँ रख सकता था, स्मतियों से मेल खाती बात अलबेरूनी ने भी की है। वह कहता है कि पति–पत्नी सिर्फ मौत से जुदा हो सकते थे, तलाक का प्रचलन नहीं था। अलवेरूनी परगमनः के बारे में कहता है कि ऐसी परिस्थिति में औरत को पुरुष के घर से निकाल दिया जाता था।

इस काल में स्त्रियाँ अविश्वसनीय समझी जाती थी वे एकान्त में रखी जाती थी और इनका जीवन पुरुष संबंधियों, पिता, भाई, पति और पुत्र द्वारा नियंत्रित किया जाता था। फिर भी घर में उनका आदर था यदि कोई पति अपनी दोषी पत्नी का परित्याग करता था तो उसे पत्नी को भरण–पोषण का खर्च देना पड़ता था। कुछ लेखकों ने सती प्रथा को अनिवार्य बताया था लेकिन दूसरों ने इसकी भर्त्सना की। अरब लेखक सुलेमान के अनुसार राजपत्नियाँ कभी–कभी अपने पतियों की चिता पर जलमरती थीं, पर यह उनकी अपनी इच्छा पर निर्भर करता थ ऐसा प्रतीत होता है कि सामंती सरदारों द्वारा एक बड़ी संख्याँ में स्त्रियों को रखने की प्रथा के विकास के साथ संपत्ति पर बढ़ते हुए झगड़ों के फलस्वरूप सती प्रथा फैली। अधिकार के विकास के साथ–साथ स्त्रियों के सम्पत्ति संबंधित अधिकार में वद्धि हुई। पारिवारिक सम्पत्ति अधिकार के विकास के साथ–साथ स्त्रियों के संपत्ति संबंधित अधिकार में वद्धि हुई। परिवारिक सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति किसी पुरुष संबंधियों को उत्तराधिकार में देने का अधिकार प्रदान किया। यदि किसी पुरुष की मत्यु बिना पुत्र प्राप्ति के हो जाती थी तो कुछ मामलों को छोड़कर उसकी पत्नी को अपनी पति को पूरी जायजाद का अधिकार मिल जाता था। किसी विधवा की सम्पत्ति पर उसकी पुत्रियों का अधिकार होता था। इस प्रकार सामंती समाज ने निजी सम्पत्ति की घोषणा को मजबूत बनाया।

इस काल में हमें कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ औरतों की निर्भता के बारे में स्मतियों के कानूनों के बावजूद स्त्रियाँ प्रशासन पर अपना प्रभाव डालती थीं। कश्मीर के उन्नत राजा की रानी सुर्यमति ने राजा को अपने बेटे के हक में गद्दी छोड़ने के लिए राजी कर लिया था। दक्षिणी भारत में पश्चिमी चालुक्य वंश में राजकुमारियाँ सुबो की गर्वनर होती थी। काकातोय रानी ने चालीस (40) वर्षों तक शासन किया था। बंगाल में रानियों को भी भू–दान की सूची में शामिल किया था लेकिन यह अधिकार सिर्फ गिनी–चुनी स्त्रियों को ही प्राप्त थे।

इस काल में बौद्ध ओर जैन धर्मों का निरंतर हास और हिन्दू धर्म का पुर्नजागरण और विस्तार हुआ। बौद्धिक स्तर पर बौद्ध और जैन धर्मों के सिद्धांतों को केवल चुनौती ही नहीं दी गई बल्कि ऐसे अवसर भी आए जबकि मारपीट ओर बल प्रयोग के द्वार बौद्ध और जैन धर्मा के मंदिरों को अधिकृत कर लिया गया।

बौद्ध धर्म

इस काल में बौद्ध धर्म का प्रभाव पूर्वी भारत तक सिमित रहा बंगाल के पाल शासक बौद्ध धर्म को मानने वाले थे। दसवीं शताब्दी के बाद उनके पतन से बौद्ध धर्म को भी धक्का पहुँचा लेकिन इससे ज्यादा गंभीर बौद्ध धर्म के आन्तरिक मतभेद थे। बुद्ध ने स्वयं एक व्यवहारिक दर्शन का प्रचार किया जिसमें पुजारी वर्ग की भूमिका न्यूनतम थी तथा इस पर तथा उसके अस्तित्व के बारे में अधिक अटकलबाजी की गंजाईश नहीं थी ईसवीं युग के प्रारम्भ की शताब्दियों में महायान मत का विकास हुआ जिसमें बुद्ध को ईश्वर के रूप में पूजा जाता था। धीरे–धीरे इनकी पूजा परिपाठी और जटिल तथा भव्य होती गई साथ–साथ यह विश्वास मजबूत होता गया की पूजक मंत्रों को पढ़कर अपना लक्ष्य कर सकता है। उनका यह भी विश्वास था कि इन कार्य–कलापों तथा विभिन्न प्रकार के कष्ट सहने से उनके हवा में उड़ने और अदश्य होने जैसी दैवीय शक्तियाँ प्राप्त हो सकती थीं। मनुष्य इस प्रकार से प्रकृति पर नियंत्रण के लिए हमेशा से इच्छुक रहा है। अपर उसकी यह इच्छाएँ केवल आधुनिक विज्ञान के विकास से पूरी हुई हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म का पतन नहीं हुआ। लेकिन उसने कई ऐसे रूप धारण कर लिए जो हिन्दू धर्म से बहुत भिन्न नहीं था।

इस काल में जैन धर्म विशेषकर व्यापारी वर्गों में जैन धर्म लोकप्रिय बना रहा। गुजरात के चालुक्य राजाओं ने जैन धर्म को संरक्षण प्रदान किया। यह वही समय था जबकि दिलवारा एवं आबू प्रवर्त जैसे अत्यंत भव्य मंदिरों का निर्माण किया गया था। मालवा के परमार राजाओं ने भी अनेक जैन तीर्थकारों और महात्मा महावीर की विशाल प्रतिभाओं का निर्माण कराया। महावीर को अब भगवान के रूप में पूजा जाने लगा। भला जैनालय विभिन्न क्षेत्रों में बनवायें गए जो यात्रियों के लिए विश्रामालय के कार्य में लाए जाते थे। दक्षिण भारत में नवीं एवं दसवीं शताब्दियों में जैन धर्म अपने विकास की चरणसीमा पर पहुँचा। कर्नाटक के गंगा शासक जैन धर्म के प्रमुख संरक्षक थे इस काल में वसाढ़ी (जैन मंदिर) और महास्तम्भ कई भागों में स्थापित किए गए। श्रवण वेलगोला में महावीर विशाल प्रतिभा भी इसी काल में बनी यह मुर्ति 18 मीटर उँची तथा एक ही चट्टान से काट कर बनायी गई है। इसमें महावीर को तपस्या की मुद्रा में खड़ा दिखाया गया है। के अपने चारों ओर के वातावरण से अनभिग हैं। और पावों में साँप लपटे हुए हैं। तथा चींटियों ने मिट्टी के घरौदें बना दिए हैं। जैन धर्म के चार वरों (शिक्षा, अन्य, चिकित्सा, और आवास) के सिद्धांतों ने जैन धर्म को लोकप्रिय बनने में मदद की। कालान्तर में जैन धर्म में बढ़ती हुं कट्टरता ओर राजकीय संरक्षण का अभाव जैन धर्म के पतन का कारण बना।

हिन्दू धर्म

इस काल में विविध रूपों में हिन्दू धर्म में पुर्नजागरण और विस्तार हुआ शिव और विष्णु प्रमुख देवता बन गए। और उनकी सर्वश्रेष्ठता प्रभावित करने के लिए भव्य मंदिर बनाए गए। इस क्रम में स्थानीय देवी देवताओं के साथ उन जनजातियों के देवी–देवताओं को भी जिन्होनें हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था शामिल कर लिया गया। यह देवता शिव या विष्णु के अधिनस्थ या साथी बन गए। पूर्वी भारत में बौद्ध की सहचारिताएं; शिव की सहचारी दुर्गा; और काली आदि स्वयं पूजा की अधिष्ठात बन गई। इस प्रकार शिव और विष्णु की सार्थक पूजा का आरम्भ सांस्कृतिक संयोग का एक प्रतिमान था। यह उल्लेखनीय है कि विघटन के युग में धर्म ने रचनात्मक योगदान दिया लेकिन धार्मिक पुर्नजागरण ने ब्राह्मणों को शक्ति और दर्फ को बढ़ा दिया। इसके परिणामस्वरूप ऐसे जन–आन्दोलन हुए जिन्होने मानवीय समान्ता ओर स्वतंत्रता के तत्वों पर बल दिया।

तंत्रवाद व भक्ति

जिस प्रकार बौद्ध धर्म के मानने वालों में यह विश्वास था कि वह मंत्रों को पढ़कर ओर कष्ठ सटकर दैवी शक्तियाँ प्राप्त कर सकते है। उसी तरह से कई हिन्दू योगियों ने भी इस प्रकार की चेष्टा की इनमें सबसे प्रसिद्ध गोरखनाथ ने गोरखनाथ के शिष्यों को नाथ पंथी कहा जाता है तथा एक समय से ये सारे उत्तर भार में लोकप्रिय थे इनमें से कई योगी नीची जाति के थे ओर उन्होंने वर्ण व्यवस्था तथा ब्राह्मणों के विशेषाधिकार की आलोचना की। इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत को तंत्र–कहा जाता है। और इसकी सदस्यता बीना जाति भेद के खुले हुए थे। प्रो॰ राम शता शर्मा ने तंत्रवाद को देवी माता की पूजा करने की विधि के संर्दभ में तर्कसंगत इहराया है। दरअसल ये सास्कृतिक और आदिवासी लोगों के मैल–जौल की जो प्रक्रिया जारी थी। उसी का परिणाम है। जिसे दूसरे शब्दों ने संस्कृतिकरण का नाम दिया गया है। यही काल है कि बहुत से मुनियों को आदिवासी देवी देवताओं से जोड़ा गया है।

तंत्रवाद के अलावा और इसमें अधिक महत्वपूर्ण और स्पष्ट आधार दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन के विकास को मिला। भक्ति आन्दोलन का नेतत्व लगातार लोकप्रिय संतो ने किया था जिन्हें नयनार और अलवार नाम से पुकारते हैं। इन संतों ने तपस्या को अस्वीकार किया। वे धर्म की ओर से उदासीन नहीं थे बल्कि औपचारिक पूजा उनके लिए भगवान और भक्त

के बीच सदा कायम रहने वाला प्रेम था। उनकी पूजा के मुख्य पात्र शिव और विष्णु थे। वे तमिल और तेलगु भाष में बोल और लिख सकते थे। जो जनसाधारण की भाषा थी। यह संत एक जगह से दूसरी जगह अपने प्रेम और भक्ति के संदेशों को साथ लेते गए। उनमें से कुछ निम्न वर्गीय थे ओर कुछ ब्राह्मण थे इनमें कुछ औरतें भी थीं। उनमें से लगभग सभी ने जाति–भेद की उपेक्षा की, फिर भी किसी ने जाति व्यवस्था का प्रभावशाली ढंग से विरोध नहीं किया। निम्न जाति के लोगों को बौद्धिक पांडित्य और पूजा से वंचित रखा गया। परंतु भक्ति के मार्ग को बिना किसी जातीय भेद–भाव के लिए सबके लिए खुला छोड़ दिया।

दूसरा लोकप्रिय आंदोलन जिसका उदय 12वीं शताब्दी में हुआ वह था लिंगायत या वीर शैव आन्दोलन, इसके संस्थापक बासव और उसका भतीजा चन्नाबासव कर्नाटक के कलचुटी राजाओं के दरबार में रहते थे। जैनियों के साथ कठिन संघर्ष के उपरांत उन्होंने अपने मत की स्थापना की। लिंगायत शिव के पुजारी थे उन्होंने जाति व्यवस्था का कड़ा विरोध किया और उपवास, प्रीतिभोज, तीर्थ यात्रा और बलि प्रथा को अस्वीकार किया। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने बाल विवाह का विरोध किया और विधवा विवाह की अनुमति दी।

इस प्रकार दक्षिण और उत्तर भारत के दोनों भागों में हिन्दू धर्म का पुर्नजागरण और विस्तार दो रूपों में हुआ। यदि एक ओर नए सिरे से वेदों और वैदिक मंत्र पर बल दिया गया और इनके साथ–साथ शक्तिशाली साहित्यक और बौद्धिक आन्दोलन पर जोर दिया गया तो दूसरी ओर उत्तर भारत में तंत्र और दक्षिण भारत में भक्ति जैसे लोकप्रय आन्दोलन का आंरभ हुआ, भक्ति और तंत्र दोनों ने जातिय विषमता का अनादर किया और उनके दरवाजे सबके लिए खुले थे।

शंकराचार्य

हिन्दू दर्शन को पुनः प्रतिपादित करने वाले शकंर ने बौद्धिक स्तर पर बौद्ध और जैन धर्मों को सबसे भयंकर चुनौती दी। संभवतः शंकर का जन्म नौवीं शताब्दी में केरल में हुआ। उनका जीवन अन्धकार रूपी पर्दे से ढका हुआ है। उनके जीवन से संबंधित अनेक दंत कथाएं प्रचलित हैं कहा जाता है कि जैन धर्म के अनुयायी हाथ धोकर उनके पीछे पड़ गए जिससे उन्हें मदुरई छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसके पश्चात् उन्होंने उत्तर भारत को विजय यात्रा आरम्भ को जहाँ उन्होंने अपने विरोधियों को शास्त्रार्थ में बुरी तरह पछाड़ा उनकी विजय यात्रा पुरी हुई और लौटने पर मदुरई के राजा ने उत्साह के साथ उनका स्वागत किया और जैनियों को अपने राजदरबार से निकाल बाहर किया।

शंकर का दर्शन अद्वैतवाद या जीवन–ब्रहम की एकता का सिद्धांत कहलाया। शंकर के अनुसार परमात्मा और उसकी सष्टि एक हैं। उनमें जो अन्तर नजर आता है वह वास्तव में सत्य नहीं है और इस अन्तर के उदय का कारण हमारा अज्ञान है। मोक्ष का सीधा मार्ग, स्वयं का ईश्वर के प्रति समर्पण है। ज्ञान शक्ति के आधार पर यह जाना जा सकता है कि ईश्वर और उसकी सष्टि एक है और अभिन्न हैं। यह दर्शन वेदान्त दर्शन के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार शंकर इस विचार–धारा का समर्थन करते हैं कि वेद सत्यज्ञान के मूल स्रोत नहीं हैं।

शंकर द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के मार्ग को कम लोग ही समझ सकते हैं। इस प्रकार यह जनसमूह को प्रभावित नहीं कर सका। ग्यारहवीं शताब्दी में एक दूसरे प्रसिद्ध विद्वान रामानुज ने वेदों की परम्परा को भक्ति से जोड़ने का प्रयास किया। उन्होने यह तर्क प्रस्तुत किया कि मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान की अपेक्षा ईश्वर की कृपा अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी तर्क दिया की जाति–भेद के बिना भक्ति का मार्ग सबके लिए खुला है। इस प्रकार रामानुज ने भक्ति पर आधारित लोकप्रिय आन्दोलन और वेदों पर आधारित उच्चवर्गीय आन्दोलन के बीच सेतु निर्माण के प्रयत्न किए। रामानुज द्वारा स्थापित परंपरा का कुछ विचारकों ने अनुसता किया परम्परा जिनमें माधवाचार्य, उत्तर भारत में रामानंद बल्लभाचार्य तथा अन्य लोग थे।

शिक्षा और विज्ञान

उत्तर गुप्त काल में भी वही शिक्षा व्यवस्था बिना अधिक परिवर्तन करके इस काल में भी जारी रही। सामुहिक शिक्षा का कोई नियम नहीं था जीवन व्यापन के लिए जरूरी समझा जाता था लोग उसे सीख लेते थे। लिखना पढ़ना ब्राह्मण और उच्चवर्गीय लोगों तक सीमित था। कभी–कभी मंदिर शिखा का केन्द्र होता था। परन्तु अधिकतर यह होता था कि विद्यार्थी को शिक्षक के घर में या शिक्षक के साथ निवास करके उच्च शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। और वो अध्ययन समाप्त होने के पश्चात् गुरू–दक्षिणा देते थे। निर्धन विद्यार्थी गुरुजनों की सेवा करते थे। व्याकरण और वेदों की विविध शाखाओं का अध्ययन पढ़ाई का मुख्य विषय थे। संघो या विशिष्ठ परिवारों पर यह जिम्मेदारी छोड़ दी गई की वे शिल्प या पेशे की शिक्षा दें। शिक्षा कुछ बौद्ध विद्वानों में भी प्रदान की जाती थी। बिहार का नालंदा (Nalanda) विश्वविद्यालय, विक्रमशीला ओर उदयंत पुरी काफी प्रसिद्ध थे। यहाँ विदेशी से भी यात्री आते थे। शिक्षा का एक दूसरा केन्द्र कश्मीर था। दक्षिण भारत में मदुरई श्रंगेरी में कई महत्वपूर्ण मठ स्थापित किए गए थे। भारत के विभिन्न भागों में स्थापित मठों और अन्य शिक्षण केन्द्रों में शिक्षा और स्वतंत्र रूप से भारत के एक भाग से दूसरे भागों तक जाने के विचारों का समर्थ किया। दर्शनशास्त्र की शिक्षा तब

तक पूरी नहीं समझी जाती थी जब तक कि दार्शनिक देश के अनेक ज्ञान के केन्द्रों की यात्रा करके वहाँ के लोगों का दर्शनशास्त्र न कर लें। इस काल में देश में विज्ञान की गति मंद पड़ गई। इस प्रकार शल्य–चिकित्सा की अवन्ती हुई। क्योंकि शवों के चीर–फाड़ के लिए निम्न जाति के लोग समझे जाते थे। फिर भी गणित के क्षेत्र में कुछ प्रगति हुई। भास्कर द्वित्यी की पुस्तक "लीलावती" बहुत दिनों तक चलती रही। धातुओं विशेषकर पारा के प्रयोग से औषधि विज्ञान के क्षेत्र में कुछ प्रगति हुई। वनस्पति विज्ञान ओर जानवरों के उपचार के लिए बहुत सी पुस्तकें लिखी गयीं। इस काल में विज्ञान के स्थिीरता के कारणों में सामाजिक अपरिवर्तन आवागमन के साधनों में पतन और धार्मिक कट्टरता में वद्धि ओर भारतीय विज्ञानिकों की बहारी दुनियाँ से कट जाने को गिना गया।

साहित्य

इस काल में सांस्कृतिक साहित्य के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रीय भाषाओं का अधिक विकास हुआ। संस्कृत भाषा सिर्फ पंडित वर्ग तक सिमित थी और संस्कृत रचनाओं के रूढ़ परिपाटी के कारण मौलिकता का अभाव था। इस काल में भोज यशपाल कुलशेखर, सोमेशवर, रिववर्मन बल्लाल सैन, श्री हर्ष आदि अनेक राजा महाराजाओं ने महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। इस काल में महाकाव्य, ललित काव्य, नाटक, उपदेशात्मक कथाएं, शब्दकोश सम्बंधी रचना व्याकरण, काव्यशास्त्र, नाटीय शास्त्र, छंदशास्त्र, चिकित्सा शास्त्र, धर्मशास्त्र, स्मतियों पर भाष्य, पुराण, इतिहास परक, साहित्य आदि अनेक विधाओं में विषयगत विविधताओं को लेकर रचनाए हुई हैं।

इस काल में प्राकृत भाषा में भी कुछ पुस्तकें लिखी गयी है जैसे शमराइच्च कहा, धूर्तारत्यान, कुवलयमाला, महावीर चरित्र, कुमार पाल चरित्र आदि।

कला-कृतियों

इस काल में स्थापत्य कला में मंदिरों तीन शैलियाँ प्रसिद्ध हैं। उत्तरी भारत में हिमालय से विध्य तक "नगर" शैली प्रचलित रही विध्य से कृष्णा नदी तक एक मिश्रित प्रकार की केसर शैली तथा कृष्ण के दक्षिण में कन्याकुमारी तक द्रविड़ शैली का विकास हुआ। लोग जीवन में यह तीनों शैलियाँ इतनी अधिक रमी रहीं है कि आज भी इन तीनों शैलियों के विभिन्न प्रकार के उत्कृष्ठ उदाहरण प्राप्त होते हैं। गुप्त काल का दशावतार मंदिर और नायना कोठीरा के महादेवमंदिर नगर शैली का प्रारंभिक उदाहरण है। उड़ीसा में विभिन्न वंश के शासकों ने भुनेश्वर तथा निकटवर्ती क्षेत्रों में सैकड़ों मंदिरों का निर्माण किया। इनमें जगमोहन परशुराम तथा राजरानी मंदिर स्थापत्य का विकास प्रस्तुत करता है। मध्यभारत का सीरपुर का लक्ष्मण मंदिर भी नगर शैली का उदाहरण है। मध्यभारत के मंदिरों में स्तम्भों का प्रयोग मिता है। इनमें अंतराल मंडप, तथा अर्द्ध मंडप भी हैं। चंदेल शसकों द्वारा निर्मित खजुराओं की स्थापत्य कला अमरकंठक से अधिक विकसित है किन्तु अनेक विकसित उदाहरण 11वीं शताब्दी के अन्तिम ओर 12वीं शताब्दी के प्रारंभिक कालों से प्रतीत होता है। खजुराहों के शैव, वैष्णव, शासक, जैन मंदिरों में चित्रगुप्त देवी जगदम्बा विश्वनाथ, कनदर या महादेव, चर्तुभुज लक्ष्मण तथा परशुनाथ के मंदिर विश्व प्रसिद्ध हैं। राजस्थान में भी नगर शैली के मंदिर पाये जाते हैं। इनके हरिहर का पयायतन मंदिर, पंचरथ नियोजन में ही राजस्थान के अन्य क्षेत्रों के मंदिर में भी यही द्रविड़ स्थापत्य में मंदिर का विमान पिरामिड के आकार का है इसमें उन्नरोत्तर छोटे होते हुए खंडो से निर्मीत विमान के उपर संतुयी या स्तुपिका स्थापित होती है। द्रविड़ शैली में गर्भग्रह और गोपुरम मंदिर निर्माण की विशेषताएं हैं, राष्ट्रकुट शासकों ने पत्थर काटकर एलोरा और एलिफेन्टा में द्रविड़ वास्तुकला का उदाहरण प्रस्तुत किया है एलोरा में बौद्ध विद्वान से प्रेरित होकर ब्राह्मण धर्म सम्बंधी अनेक मंदिरों का निर्माण किया। जिनमें रावण की खाई, रामेश्वर, दशावतार तथा कैलाश मंदिर काफी प्रसिद्ध हैं। विश्वविख्यात कैलाश मंदिर को राष्ट्रकुट कृष्ण प्रथम ने निर्माण किया था। मूल रूप से द्रविड़ शैली में निर्मित यह भारतीय स्थापना कला का यह अनुपम उदाहरण है। इन मंदिरों में उतर्कीरण मुर्तियों की भव्यता देखते ही बनती है। जिनमें त्रिमुर्ति, शिव–पावर्ती विवाह, नटराज आदि की मूर्तियाँ अत्यंत नयनाभिराम हैं।

सातवीं से दसवीं शताब्दी तक पल्लव शासकों ने स्थापतीय कला को बहुत प्रोत्साहित किया पल्लवकालीन मंदिर कांचीपूरम, महाबलीपूरम, तंजवुर के अनेक स्थानों पर पुडुकाट्टाई में प्राप्त हैं। नरसिंह वर्मण महामल्ल ने मामलन शैली के रूप में कंदए कला को जारी रखा। इस शैली के अधिकांश कला महाल्लपूरम में भी केन्द्रित हैं। जिसे इस शैली के प्रंनेता नरसिंह वर्मण ने स्थापित किया था महामलल शैली के स्थापना कला मंडप की दष्टि से विख्यात हैं। मंडप कोटि के मंदिर महेन्द्र वर्मण शैली के विस्तत रूप को प्रस्तुत करते हैं।

दक्षिण भारत में हमें राजसिंह शैली का पता मिलता है। इतिहासकारों के अनुसार इस काल में स्वतंत्र भवण रूपी स्थापत्य का जो ढ़ाँचा प्राप्त हुआ है वह इस काल की समस्थ विशिष्ठताओं को एक साथ प्रकट करता है। महामल्लपुरम का तटवर्ती मंदिर कंचीपूरम में स्थित कैलाशनाथ एवं बैकुंट पेरूमल का मंदिर इसी शैली के उत्कृष्ठ उदाहरण हैं।

मूर्ति कला

इस काल के मंदिरों को उदाहरण के रूप में पेश किया जा सकता है। मूर्तिकला के क्षेत्र में भी विकास हुआ अधिकांश मूर्तियाँ देवी–देताओं की होने के कारण शास्त्रीय मानदंडों के अनुसार बनायी जाती थी। इससे मूर्तियों की एक रसता भी मिलती है। मंदिरों के दीवारों पर स्थापित मूर्तियाँ वैविध्यापरक विषय–वस्तु प्रस्तुत करती थीं। जैसे पौराणिक कथाओं पात्र दिक्यापाल सामान्य जीवन के विविध भावुक अनेक मुद्राओं के मियुन, शार्द्रल, हाथी, छोटे आदि मूर्तियों की मांसलता पर अधिक बल दिया गया है।

अध्याय - 2

दिल्ली सल्तनत की स्थापना और भारतीय समाज के लिए चुनौती

Establishment of Delhi Sultanate and Challanges to Indian Society

तुर्को द्वारा उत्तरी भारत पर विजय के परिणामस्वरूप इस देश की राजनैतिक आर्थिक और सामाजिक जीवन में व्यापक परिवर्तन आया। यद्यपि इन परिवर्तनों का प्रभाव कुछ इतिहासकारों के अनुसार अधिक दष्टिगोचर एवं आधारभूत नहीं हैं फिर भी दिल्ली सल्तनत की स्थापना के बाद की परिस्थितियों के अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय राजनैतिक और समाज में कुछ ऐसे परिवर्तन आए जिनकी महत्वता से इंकार नहीं किया जा सकता। और इस परिवर्तन ने भारतीय राजनैतिक और समाज के वर्षों से चले आ रहे परम्पराओं के लिए कुछ चुनौतियाँ भी खड़ी कीं। अब आगे हम दिल्ली सलतनत की स्थापना और उससे उत्पन्न चुनौतियों का वर्णन करेंगे।

राजनीति

दिल्ली सल्तनत की स्थापना ने भारत को राजनैतिक स्तर पर केन्द्रीकृत करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाई इससे उस समय के भारत के छोटे–छोटे राज्यों पर शासन करने वालों की सत्ता समाप्त हो गई। तुर्की सुल्तानों का राजैतिक आर्दश एक केन्द्रीय कृत राजनैतिक संगठन भी जिस पर एक ऐसे तानाशाह का नियंत्रण था जिसे असिमित अधिकार प्राप्त थे। सामंतवादी व्यवस्था अपने दो मुख्य विशेषताओं प्रशासन में स्थानीयता और सामंत की कानूनी प्रतिरक्षा के साथ नई राजनीति के लिए उचित नहीं था इसलिए इसे तोड़ने के लिए प्रभावशाली कदम उठाए गए। इल्तुतमिश और बलबन दोनों सत्ता के केन्द्रीकरण में विश्वास रखते थे। दिल्ली सल्तनत की सम्पूर्ण शक्ति का आधार सैना थी। पूरे राज्य को विभिन्न क्षेत्रों में बाटकर उन्हें **"इकता"** संस्था के द्वारा केन्द्र से जोड़ दिया गया। और उन्हें प्रमुख सैनापतियों को सौंप दिया गया जो राजा के सामने जवाबदेह होते थे "इकता'' की परिभाषा **निजामुलमुलक** की पुस्तक **"सियासतनामा"** में दी गई है। इक्ता राजस्व के हस्तांतरण से सम्बंधित संस्था थी जिससे सेना के अधिकारी अपनी सैना का व्यय निर्वाह करते थें और साथ–साथ प्रान्तों में कानून और व्यवस्था बनाए रखते थे। इसके द्वारा शासक वर्ग के लोगों का सामाजिक स्तर और राजनैतिक प्रभाव निश्चित किया जाता था। प्रत्येक इक्तादार अपने उँचे स्तर के बावजूद सुल्तान का आज्ञा– पालक होता था किन्तु याद रहे वह अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाना चाहता था तो उसे दंडित किया जाता था।

इस प्रकार हम देखते हे कि हर्ष के बाद से उत्तरी भारत में भिन्न–भिन्न शासक अपनी आपसी लड़ाईयों के कारण देश को राजनैतिक एकता प्रदान नहीं कर सके। परंतु तुर्को ने देश को एक ऐसा केन्द्र दिया जिसके अन्तर्गत बड़े–बडे शहरों और सड़कों का प्रशासन उसे केन्द्रीय शहर के अन्तर्गत आता था। प्रशासन के पदाधिकारियों की नियुक्ती; स्थानान्तरण, पदोन्नति एवं बर्खास्तगी सब राजा के द्वारा किया जाता था। यह और बात है कि शासन इन मामलों में उभरा वर्ग से सलाह मशवरा भी करता था। इस प्रकार अगर एक तरफ एक केन्द्रीकृत देश पर तुर्की सुलतान का नियंत्रण था तो दूसरी तरफ क्षेत्रीय शासकों का प्रभाव कम होता गया। तुर्की का विजय का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला की अब सैनिक व्यवस्था में अपूर्व परिवर्तन आये जिसकी वजह से भारतीय सैनिकों का स्वरूप और संचालन और भर्ती के नियमों व्यापक बदलाव आया अब किसी एक जाति या वर्ग की ठेकेदारी समाप्त हो गई और भर्ती के दरवाजे उन सारे प्रशिक्षित सैनिकों के लिए खुल गए जो लड़ाई में भाग ले सकते थे। तुर्को के आगमन से लड़ाई के तकनीक ओर हथियारों में भी परिवर्तन आया। पूरे सैनिक व्यवस्था पर केन्द्र का नियंत्रण स्थापित था।

शहरीकरण

दिल्ली सल्तनत की स्थापना से आवगामन के साधनों में वद्धि हुई। मुद्रा व्यवस्था जो चांदी के टके और ताम्बे के दिरहम पर आधारित थी मजबूत हुई इस प्रकार देश के व्यापार में निश्चित रूप से वद्धि हुई। इस कारण नगरों और नगरों में रहने वाले लोगों की संख्या भी काफी बढ़ी। **इब्नेबतुता** दिल्ली को पूर्वी इस्लाम दुनिया का सबसे बड़ा शहर बताता है। दिल्ली सल्तनत के केन्द्रीयकरण ने उत्तर ओर दक्षिण के व्यापारिक विकास को मजबूती प्रदान की। लाहौर, मुलतान, कड़ा लखनौती, अहिन्वारा

और कैमबे उस समय के प्रसिद्ध शहरों में थे। उपर्युक्त तथ्यों को ध्यान में रख कर इतिहासकारों ने कहा है कि सल्तनत अर्थ व्यवस्था की विकसित रूप प्रस्तुत करती है। तुर्की ने कुछ नए दस्तकारों के कार्य आरंभ किए जिनमें कागज का निर्माण शामिल था। कागज निर्माण कार्य चीन ने दूसरी शताब्दी में आरंभ किया था जिसकी जानकारी अरबवासियों को पांचवीं शताब्दी में हुई थी। चरखा और थुनकी जैसे दो अविष्कारों से वस्त्रोत्पादन में भी विकास हुआ धुनकी से रूई शीघ्र और अच्छी तरह साफ की जा सकती थी। इसमें सबसे महत्वपूर्ण कार्य भारतीय दस्ताकरों का हस्थ कौशल था। भारत उत्तम श्रेणी के वस्त शीशे के सामान और घोड़े पश्चिम ऐशिया से प्राप्त करता था। भारत का स्थल और जलमार्ग से होने वाला विशी व्यापार एक अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग था। विदेशी व्यापार में भारतीय व्यापारियों ने तमिल, गुजराती, हिन्दू, मुसलमान, मारवाड़ी आदि शामिल थे। जबकी स्थानीय व्यापार में मुलतानी और खुराशनीयों जिनमें हिन्दू, अफगान, इरानी आदि थे। की भी बहुत बड़ी भूमिका थी। दिल्ली सल्तनत की स्थापना से यातायात और संचार का अच्छा प्रबंध हुआ। जिसके कारण डाकुओं और अनेक बटमारों का खतरा हो गया। यात्रियों की सुविधा एवं सुरक्षा के लिए रास्ते में बहुत सी सराय थीं। सड़कों की निर्माण से देश के भिन्न–भिन्न शहरों को एक दूसरे से जोड़ा गया। राजस्व को नकदी में वसूल करने की परम्परा ने भी शहरी अर्थ व्यवस्था को प्रभावित किया। उपर्युक्त तत्वों के अध्ययन से यह पता चलता है कि दिल्ली सल्तनत की स्थापना ने भारत में शहरीकरण का कार्य आरम्भ किया। प्रो० मोहम्मद हबीब इसे शहरी क्रांति का नाम देते हैं उनके अनुसार पुराने राजपूत दौड़ के जात–पात पर आधारित शहरों के दरवाजे उच्च, निम्न, मजदूर, दस्तार, हिन्दू–मुस्लिम, चन्डाल और ब्राह्मण सबके लिए खुल गए। तुर्क हुकुमत ने जात–पात को सामाजिक विभाजन के आधार पर मानने से इनकार कर दिया। जसके कारण मज़दुर, दस्तकार, निम्न जाति के लोग नए शहरों के निर्माण के एक दूसरे से हाथ मिलाने लगे। इस प्रकार हम देखते है कि इस काल के तुर्की सुल्तान भिन्न–भिन्न वर्ग के लोगों की बचत पर अपना नियंत्रण रखने में कामयाब हुए और एक नयी आर्थिक व्यवस्था उभरकार सामने आई जो पहले से चली आ रही व्यवस्थाा से कई प्रकार से विभिन्न थी।

इस संदर्भ में इस विवाद का वर्णन भी उचित मालूम होता है जो इतिहासकारों के बीच पाया जाता है। **लल्लन जी गोपाल** और **के॰ एस॰ लाल** जैसे इतिहासकारों का मत है कि उत्तर भारत में तुर्को का आगमन एक ऐसी घटना है। जिसने भारतीय भौतिक एवं मानवीय स्रोतो के विनाश एवं उन्मुलन की प्रक्रिया आरंभ की। इससे एकदम भिन्न धारण **मो॰ हबीब** ने व्यक्त की हैं उनका कहना है कि मध्यवालैन इस्लामी सभ्यता के अन्तर्गत युद्धों में भारी विनाश हुआ फिर भी सलतनत कालीन शासन प्रणाली अपने पूर्ववर्ती शासन प्रणाली से गुणात्मक दष्टि से भिन्न थी ओर उसने ऐसी सामाजिक शक्तियों को जन्म दिया जिन्होने पहले की तुलना में काफी बेहतर आर्थिक व्यवस्था का निर्माण किया। उन्होने इन परिवर्तनों को शहरों के फैलाव तथा कृषि सम्बंधों के एक महत्वपूर्ण परिवर्तन के संदर्भ में देखा। उनके अनुसार यह परिवर्तन इतने आधारभूत थे कि उन्हें शहरी क्रांति तथा ग्रामीण क्रांति का नाम दिया जा सकता है। **इरफान हबीब** एक हद तक तो शहरी क्रांति तथा ग्रामीण क्रांति के संदर्भ में **मो॰ हबीब** से सहमत हैं किन्तु एक सीमा तक उनका इसमें मतभेद भी है। वो कहते हैं कि सल्तनत काल में कई कारणों से शहरी अर्थव्यवस्था का विस्तार हुआ। ये कारण थे शहरों की संख्या में वद्धि, दस्तकारी सामान के विकास में उल्लेखनीय विस्तार, प्रौद्योगिक के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन और इसी के अनुरूप व्यापार और वाणिज्य का विस्तार। इनके अनुसार विदेश से दस्तकाऐं और व्यापारियों का भारी संख्या में अप्रवासन जो अपनी–अपनी शिल्प तकनीके तथा पैरो अपने साथ ले आए थे, दास प्रथा से विनित एवं प्रशिक्षण योग्य सैनिक की आपूर्ति तथा इक्ता व्यवस्था की स्थापना से कृषि अधिशेष का बड़ा हिस्सा शहरों में खपत के लिए हस्तगत कर लिया जाता था। वो कहते हैं कि व्यापाक स्तर पर अधिकारों के इस विनियोजन ने सल्तनत के आर्थिक आधार को कमजोर कर दिया क्योंकि इनमें अमीर वर्ग को बराबर शहरी महाजनों के ऋण पर निर्भर बना दिया। बहरहाल इरफान हबीब मो० हबीब के इस विचारधारा से सहमत रही हैं कि शहरीकारण की दिशा में जो प्रगति हुई और ग्रामीण क्षेत्र में स्थानीय राजा महाराजाओं की शक्ति में जो कभी आयी वह समाज के किसी विशेष वर्ग के मुक्ति का परिणाम थीं किसानों का शोषण जारी रहा। बहरहाल जो परिवर्तन आया वो अनोखा था। किसानों को भूमि पर अधिकार न दिए जाने से कुछ लोग इस प्रणाली को सामंतवादी कहते हैं तो दूसरी तरफ कुछ लोग सत्ता के केन्द्रीकरण को देखते हुए इसे "पूर्वी निरंकुशता" का नाम देते हैं। किन्तु नकदी अभिबंध शहरों तथा वाणिज्य व्यापार की संवद्धि इस उपरी दिखावट को झुठा सिद्ध कर देते हैं। वास्तव में शहरी उत्पादन की भारी मात्रा इस प्रणाली की प्रमुख विशेषता थी।

नये मिश्रित जातियों और दस्तकारों का उत्थान

दिल्ली सल्तनत की स्थापना ने भारत के परम्परागत वर्ण आधार पर स्थापित जाति व्यवस्था को व्यापाक रूप से प्रभावित किया इसका एक कारण यह था कि यातायात साधनों में सुधार व्यापार में वद्धि हुई। इसी के साथ–साथ नये–नये दस्तकारी कला एवं नये–नये व्यवसाय लेकर आए थे। रेकाब ओर कवच की माँग बढ़ी। इसके कारण औद्योगिक कला और धातु से संबंधित दस्तकारियों में वद्धि हुई। इससे यह भी महत्वपूर्ण एक बात रहट में सुधार है जिससे सिचाई का काम बड़े पैमाने पर किया जा सकता था। इसके अलावा कागज साजी शीशे की कला चरखा और भवन निर्माण आदि के कारण ऐसे परिवर्तन आयें जिसमें भारतीय समाज पर गहरा प्रभाव पड़ा। अलग–अलग प्रकार के कारीगर अब शहरों में देखे जा सकते थे। इनकी उपस्थिति औद्योगिक कार्यों और नई सरकार को चलाने की अवश्यकता थी। कुशल कारीगर अब समाज में उँचा स्तर पा सकते थे इसामी ने लिखा है कि कारीगर एवं शिल्पकार अलग–अलग देशों से भारत आए। महत्वपूर्ण हस्थकलाएँ जैसे (कालीन बुनना) भारत में प्रारंभ हुई जुलाहें उँचे स्थान पर पहुँच गए। कसाई भी ऐसा उदाहरण हैं जिसका प्रभाव भी शहरी ढाँचे में पड़ती है राजपूतों की जाति व्यवस्था शहर अब सर्वदेशीय शहर बन गए जिनमें मिली जुल आबादी शासक की श्रमिक वर्ग तथा कारीगरों की थी। नगरों की आबादी मिश्रिम होती थीं जिनमें अमीरों की संख्या अल्प सरकारी विभागों के संचालन के लिए लिपिक वर्ग दुकानदार कारीगर भीखारी आदि की संख्या अधिक होती थी। नगर का दूसरा बड़ा वर्ग गुलाम और घरेलू नौकरों से बना या गुलामी की प्रथा खुद भारत में भी पुराने जमाने से चली आ रही थी। तुर्कों ने भारत के अन्दर और बाहर इस प्रथा का व्यवहार बड़े पैमाने पर किया।

गुलामों का उपयोग अलग–अलग कार्यों में होता था गुणवान गुलामों में कुछ उँचे पदों में पहुंचे हुए थे जैसे कुतुबुद्दीन एबक के गुलाम, फिरोज तुगलक भी गुलामों के गुणों की पहचान करने वालों में था। उसने 1 लाख 80 हजार गुलामों को एकत्रित किया। जिनमें से बहुत से उसके कारखानो में अलग–अलग हस्तकलाओं में लगे हुए थे। इस प्रकार हम देखते है कि सल्तनत की स्थापना के बाद बहुत सी ऐसी गतियाँ उत्पन्न हुई जो अपने व्यवसाय के अनुसार जाने जाते थे। जैसे रंगरेज, धुनियाँ, कागजी, जुलाहें इत्यादी। इससे परम्परागत वर्ण आधारित समाज में परिवर्तन आया। हाँ, यह नहीं कह सकते की जाति व्यवस्था को समाप्त करने की कोशिश की गई थी। क्योंकि तुर्की सुल्तानों ने भारतीय समाज के मूल ढाँचे में परिवर्तन लाने का व्यापक प्रयास नहीं किया। हाँ इतना है कि नये विदेशी तत्वों के आगमन और भारतीय समाज में उनकें सम्मिलित होने से एक ऐसा परिवर्तन आया जिसने न सिर्फ परम्परागत हिन्दू समाज को प्रभावित किया बल्कि दूसरी तरफ खुद मुस्लिम समाज का भी भारतीयकरण हुआ।

तुर्की विजय और भारतीय धर्म

बहुत से इतिहासकारों ने तुर्क हमलावरों को जो मुसलमान थे कठोर वर्णीत किया है। इन मुसलमान शासकों को खुन के प्यासे तथा अत्याचारी कहा गया है। के॰ एस॰ लाल ने **The growth of Muslim population in Medival India** में कहा है कि "सुलतान ने धर्म परिवर्तनों के जरिए हिन्दूओं की संख्या बहुत घटा दी। इस प्रकार इन इतिहासकारों के विचार में दिल्ली सल्तनत की स्थापना हिन्दू धर्म और समाज के लिए एक बहुत बड़ी चुनौती थी लेकिन इस तरह के विचार अलबेरनी जैसे इतिहासकार ओर विद्वानों की बातों पर है जो यह कहते है कि महमुद ने देश की समद्धि को बिल्कुल नष्ठ कर दिया। और हिन्दू धूल की तरह इधर–उधर बिखर गए। परन्तु तथ्य के आधार पर जो स्थिति सामने आती है वह उसके बिल्कुल विपरीत हैं। सच्चाई तक पहुंचने के लिए हमें निष्पक्षता की राह पर चलना चाहिए। इतिहास में ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि महमुद गजनवी की सेना में हिन्दुओं की असंख्य टुकड़ियाँ थीं। एक हिन्दू सैनापति तिलक ने ही मजमूद के एक सिपाही अल्पतगीन का विद्रोह शांत किया था। दूसरी ओर कुतुबुद्दीन एबक ने विजीत प्रांतों में हिन्दू राजाओं की नियुक्ति की। उसे पता था कि हिन्दुओं की सहायता कि बिना प्रशासन का काम बहुत ही कठिन था। धर्म परिवर्तन के सम्बन्ध में जोर जबरदस्ती का प्रयोग नहीं किया गया। हालांकि निम्न वर्ग के लोगो ने जिनको जाति बहिस्कृत समझा जाता था। भारी संख्या में इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। यदा–कदा युद्ध बंदियों या अपराधियों को धर्म परिवर्तन कर लेने पर दण्ड मुक्त कर दिया जाता था। फिरोज ने एक ब्रह्मण को अपशब्द प्रयोग करने पर फांसी पर चढ़ा दिया था दूसरी तरफ कुछ मुसलमानों द्वारा हिन्दू बनने के भी कुछ उदाहरण मिलते हैं। धर्म परिवर्तन कर इस्लाम स्वीकार करने का कारण राजनैतिक और आर्थिक लाभ की आशा अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा बनाने की ललक थी। कभी–कभी धर्म परिवर्तन क्षेत्रीय कारणों जैसा की पंजाब पं० बंगाल आदि में हुए थे। हिन्दुओं को सरकारी सेवा में नियुक्त किया गया। उन्हें अपने सामाजिक और धार्मिक कार्यों को मनाने की पूर्ण स्वतंत्रता दी गई। यह सच है कि शासक वर्ग मुसलमान थे लेकिन राज्य का स्वरूप वास्तव में गैरमुस्लिम था जो सैनिक और सामंती आधार पर कायम थी प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दुओं की भी काफी महत्वपूर्ण भूमिका थीं विशेषरूप से व्यापार, वाणिज्य और बैंकों में शांत और सुव्यवस्थित राज्य स्थापित करना सुलतान का मुख्य कार्य था। इल्तुतमिश के जमाने में जब उलेमाओं ने हिन्दुओं

के सामने मत्यु या इस्लाम की शर्त रखने की पेशकश की तो वजीर जुनैदी ने कहा कि हाल ही में भारत पर विजय प्राप्त की है मुसलमान समुद्र के एक बून्द के समान है और यह संभव है कि यदि यह आदेश लागू किए गए तो हिन्दू आपस में मिलकर व्यापक स्तर पर कुछ न कुछ गड़बड़ी पैदा करेगें।

इस प्रकार अलाउद्दीन खलजी ने एक समय शहर के प्रमुख काज़ी से कहा था कि "मुझे नहीं मालूम कि इस्लाम के अनुसार क्या कानूनी है और क्या गैर कानूनी। मैने सल्तनत की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए कानून बनाया है"। इसलिए इतिहासकार **बरनी** भारतीय तुर्की सल्तनत को वास्तविक इस्लामीमानने के लिए तैयार नहीं है। लेकिन उसे व्यावहारिक और लौकिक मान्यता (जहाँदारी) वाला बताया। इससे यह प्रकट होता है कि हिन्दुओं को बाध्य नहीं किया जाता था। तुर्को को भारतीय राजनैतिक संगठन का कोई ज्ञान नहीं था उनके पास सिर्फ एक ही रास्ता था कि वह भारतीय लोगों का मत प्राप्त करें ओर पुराने नियमों का हस्तक्षेप न करें। इसका नतीजा यह निकला की तुर्की द्वारा बनाई गई सरकार एक तरफ मुसलमानों की राजनैतिक विचारों ओर संस्थाओं की नीति का वाहक थीं और दूसरी ओर वह स्थानीय राजपूत शासक व्यवस्था को भी बदलना नहीं चाहती थीं। यहाँ दिल्ली सल्तनत में गैर मुस्लिमों को प्राप्त धार्मिक स्वतंत्रता का वर्णन उचित लगता है विजयों के प्रारंभिक चरणों मे जब अनेक शहर लूटे गए तो मंदिरों को खास निशाना बनाया गया। इस काल में कुछ हिन्दू मंदिर मस्जिदों में बदल दिए गए कुतुब इस्लाम मस्जिद और अढाई दिन का झोपड़ा इसके खास उदाहरण है। कुछ मंदिरों को उनमें मौजूद खजानों पर कब्जा करने के लिए हमले का निशाना बनाया गया। गैर मुस्लिमों की पूजा स्थलों के प्रति सुल्तानों की नीति मुस्लिम कानूनों पर आधारित थी जो नए पूजा स्थलों के निर्माण से मना करता है। लेकिन ये प्राचीन मंदिरों की मरम्मत की अनुमति देता है। इसी तरह गाँव में जहाँ इस्लाम का प्रचार नहीं था। मंदिरों के निर्माण पर कोई प्रतिबंध नहीं था। लेकिन युद्ध काल में इस उदार नीति का पालन नहीं किया जाता था। फिर भी शांति काल में तुर्की साम्राज्य के अन्दर और उन राजाओं के राज्यों में जिन्होंने मुस्लिम शासन को स्वीकार कर लिया था हिन्दू खुलेआम अपने धर्म का पालन कर सकते थे। बर्नी जलालुद्दीन खलजी के बारे में लिखता है कि उसने कहा था "हिन्दू मूर्तियों को यमुना में विसिर्जत करने के लिए जुलूस के साथ गाते–नाचते और ठोल बजाते हुए राजमहल की दीवार के नीचे से गुजरते हैं और मैं कुछ भी करने से असमर्थ हूँ"।

जहाँ तक **"जजिया"** की बात है तो वो यह है कि सिन्ध पर अरबों के आक्रमण के समय से ही हिन्दुओं को जिम्मी या रक्षित लोगों की श्रेणी में रखा गया। जिन्होने मुस्लिम नियमों का पालन करना और जजिया कर देना स्वीकार कर लिया जो सैनिक सेवा के बदले में लगाया गया एक कर या और जिसकी वसूली आशंकित पैमाने के अनुसार आय के आधार पर की जाती थी। स्त्रियों बच्चों और बूढ़े और जिनकी बहुत ही कम आय हो उन्हें इस कर से मुक्त कर दिया गया था। ब्राह्मणों को भी इस कर से मुक्त कर रखा था। यद्यपि मुस्लिम कानून में इसका कोई प्रावधान नहीं था। जजीया को भू–स्वराज्य से अलग करना कठिन था क्योंकि सभी कृषक हिन्दू थे। लेकिन जब फिरोज ने अनेक अवैधानिक करों को समाप्त किया तो जजीया को अलग कर बना दिया गया। फिर भी जजीया लगाने का उद्देश्य हिन्दुओ का धर्म परिवर्तन नहीं था। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत में दिल्ली सल्तनत की स्थापना राजनैतिक स्तर पर परिवर्तन का कारण बनी परंतु इससे धार्मिक स्तर पर कोई व्यापाक परिवर्तन के प्रमाण नहीं मिलते।

नई संस्कृति का विकास

वास्तव में जब दो सांस्कृतिक विचारधारों पर चलने वाली जन–जातियाँ एक साथ रहने लगती है तो उसके परिणाम भी भिन्न–भिन्न होते हैं। तुर्की और भारत के लोगों के बीच मेल–जोल का स्वरूप बिलकुल अलग था। यद्यपि बहुत से लोग कुछ वर्तमान समस्याओं जैसे– साम्प्रदायिक आदि की जड़ों को इसी काल से जोड़ने का प्रयास करते हैं मगर यह हकीकत है कि साम्प्रदायिक सदभावना ओर मिली–जुली विचारधाराओं को इसी काल में बढ़ावा मिला। यही वजह है कि हमें इस काल में एक ऐसी संस्कृति के उत्थान का सबूत मिलता है। जिसे इंडो–इस्लामिक संस्कृति की संज्ञा दी जाती है।

वह मुसलमान जो भारत में हमलावर के रूप में आये थे उन्होने इस देश को अपना समझ लिया और यहीं बस गए। इस्लाम और हिन्दू धर्म के लोग एक साथ रहने लगे। दोनों ने एक दूसरे को प्रभावित किया। और सांस्कृतिक परम्पराओं और बौद्धिक विचारधारों का आदान–प्रदान भी हुआ। हिन्दु–मुस्लिम सूफी संतो ने भी इस क्षेत्र में अपनी–अपनी भूमिका निभाई। इस सांस्कृतिक मिलाप का प्रभाव प्रशासनिक व्यवस्था, मिली–जुली भाषा का उत्थान, सूफी भक्ति आन्दोलन, इंडो–फारसी साहित्य का विकास, कला ओर स्थापत्य कला, पेंटीग और संगीत के क्षेत्र में प्रभाव हमें व्यापक तौर पर नजर आता है इस प्रकार हम कह सकते है कि दिल्ली सलतनत की स्थापना भारतीय समाज और संस्कृति के लिए कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं ला सकी, हाँ इतना हुआ कि दो समुदाय के लोगों के एक साथ मिल–जुल कर रहने के अवसर उत्पन्न हुए जिसने दोनों समुदायों के विचारों को एक दूसरे के करीब लाने में बहुत कड़ी भूमिका निभाई। और भारतीय संस्कृति ने भिन्नता के नये रंग भरे गए।

अध्याय - 3
(क) शासक वर्ग
(a) Ruling Class

सामाजिक ढांचा

मध्यकालीन भारत में शासक वर्ग को मोटे तौर पर दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। एक तो है शासक एवं उमरा वर्ग, जो शाही शक्ति या केन्द्रीय सता का प्रतिनिधित्व करता था। दूसरा है स्थानीय शासकों या सरदारों और भूस्वामी अभिजनों का वर्ग, जो स्थानीय सत्ता का प्रतिनिधित्व करता था। लेकिन दोनों में कोई स्पष्ट भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि लोदियों के शासन–काल से और उससे अधिक बढ़ते परिमाण में अकबर के काल से स्थानीय सरदार और भूस्वामी लोग उमर वर्ग में शामिल किए जाने लगे, और पहले की भी अपेक्षा कही अधिक घनिष्ठता से स्थानीय शासन व्यवस्था से जोड़े जाने लगे दोनों वर्गों के संबंधों में अक्सर तनाव और संघर्ष पैदा होते रहते थे। लेकिन साथ ही स्थानीय प्रयोजनों से पारस्परिक सहयोग की भी आवश्यकता थी और उसे साधने की पूरी कोशिश की जाती थी। ऐसे प्रयोजनों में कृषि के विस्तार और सुधार का कार्य शामिल था, जो स्थानीय सरदारों और जमींदारों के सहयोग के बिना संभव नहीं था दोनों के बीच एक समान विशेषता यही थी कि दोनों अपने वित्तीय संसाधनों के लिए जमीन जोतने वाले किसानों के अधिशेष श्रम पर निर्भर थे।

दिल्ली सल्तनत के संगठनकर्त्ताओं को विस्तार और प्रतिरक्षा की समस्याओं में अधिकतर व्यस्त रहना पड़ा। भारत आगमन पर तुर्कों को भारतीय शासन का कोई व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त न था। इन परिस्थितियों में यह संभव न था कि वे शासन का सम्पूर्ण भार अपने ऊपर लेकर अपने आदर्शों व अनुभव के अनुसार उसका गठन कर सकें। इस प्रकार सल्तनत की मूल संरचना में जैसा कि **हबीबुल्ला** लिखते हैं, 'कोई नियोजन नहीं दष्टिगोचर लेता था।' विजेता अपनी मातभूमि और फारस से संस्थाएं लाए थे जिनमें से अधिकतर गजनवियों के पंजाब में पहले से प्रचलित थी और जो नाम के अतिरिक्त, भारतीय प्रथा में ज्ञात थी। प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानों ने उस समय की प्रचलित शासकीय धारणाओं और आदतों में अल्पमत हस्तक्षेप के साथ अपना राज आरम्भ किया। विजय द्वारा प्रेरित परिवर्तन राजनीतिक अधिक था, प्रशासनिक कम। जो मामले न्यूनाधिक केवल विजेताओं से सम्बन्धित थे जैसे केन्द्रीय प्रशासन, सेना और न्यायिक संगठन, उनमें अपनी परिचित संस्थाओं और प्रथाओं को प्रारम्भ करना उनके लिए स्वाभाविक था। ज्यों–ज्यों समय बीतता गया। विजेताओं का अपनी मातभूमि से सम्बन्ध टूटता गया तथा भारतीय जीवन से उनका सम्पर्क बढ़ता गया। ज्यों–ज्यों उनकी प्रभुता देहात की और फैलती एवं स्थायी होती गई त्यों–त्यों यह अनुभव होने लगा कि इस प्रकार का कामचलाऊ शासन बहुत अपर्याप्त है। उनके अपने समाज में नई समस्याएं

उठी और बदलती हुई सैनिक परिस्थिति में नए समंजनों की आवश्यकता थी तथापि न हो कोई प्रशासनिक वियोजन किया जा सकता था और न उसका कार्यान्वयन किया जा सकता था। परिस्थिति ऐसी थी कि केवल कामचलाऊ समाधान सम्भव हो सकता था। अतएव भमलूक प्रशासन मुख्यतया प्रयोगों व प्रवतियों का एक क्रम था।

मुसलमानों का विश्वास है कि कुशन में अल्लाह की जो शिक्षाएँ व आदेश दिए गए हैं, वे समस्त कालों व समस्त देशों के लिए उपयुक्त हैं किन्तु समय बीतने के साथ–साथ यह महसूस किया जाने लगा कि शासन में आने वाली समस्त समस्याओं को केवल इन निर्देशों के आधार पर सुलझाना सम्भव नहीं है। तब पैगम्बर के कथनों व कार्यों को जिन्हें **हदीस** कहा जाता है, इस्लामिक कानून में शामिल कर लिया गया और इस प्रकार **शरीयत** (इस्लामिक कानून) कुरान व हदीस पर आधारित हो गई।

कुरान के अनुसार, सारी दुनिया का वास्तविक मालिक और शहनशाह अल्लाह है। यह विश्वास किया जाता है कि सभी देशों में अपने देश को भेजने के लिए अल्लाह ने दूत भेजे और इन दूतों में पैगम्बर मुहम्मद अंतिम दूत हैं। पैगम्बर के बाद इस्लामी समाज के स्वामी खलीफा थे जिनके लिए यह आवश्यक माना जाता था कि वे पवित्र धार्मिक निर्देशों के अनुसार शासन करें। इस प्रकार इस्लाम में अन्तिम सर्वोच्च अल्लाह है, जो समस्त शक्ति का स्रोत है। पैगम्बर उसके प्रतिनिधि के रूप में उसके संदेश को फैलाने वाले थे और खलीफा पैगम्बर के उत्तराधिकारी थे।

सुल्तान व खलीफा के॰ ए॰ निजामी का विचार है कि शरीयत में सल्तनत की कोई आज्ञा नहीं थी अतः उस दष्टि से यह एक गैर कानूनी संस्था थी। इस गैर कानूनी संस्था को कानूनी रूप प्रदान करने के लिए सुल्तानों ने स्वयं को खलीफा का प्रतिनिधि कहा। इस प्रकार उनका यह दष्टिकोण कानूनी आवश्यकता पर आधारित था। खलीफा की अधीनता की घोषणा इस उद्देश्य से की गई कि सुल्तान के पद की प्रतिष्ठा स्वीकार की जाए।

सामान्य मुस्लिम जनता यह समझती थी कि खलीफा के प्रति आदर दिखाना शासक वर्ग का कर्त्तव्य है और जिस सुल्तान को खलीफा की स्वीकृति प्राप्त हो अथवा जो खलीफा का प्रतिनिधि हो, उसका विरोध करना धर्मविरूद्ध है। लोगों के इस भ्रम का लाभ उठाने के लिए अधीनता का दिखावा किया जाता था। दिल्ली सल्तनत जिस प्रकार का नवीन व स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य था, वह इस विश्वास के विपरीत था कि विश्व में केवल खिलाफत ही मुस्लिम राज्य है। अतः प्रभुसत्ता सन्पन्न होते हुए भी सुल्तानों के स्वयं को खीलाफा का नायन घोषित किया। दसवीं शताब्दी में खलीफा केवल इस्लाम का प्रतीक बनकर रह गया था। जिसको प्रत्येक मुस्लिम शासक नाममात्र के लिए अपना अधिपति मानता था। वास्तविकता यह है कि उसे आंतरिक शासन में हस्तक्षेप करने का कोई अवसर नहीं मिलता था। यद्यपि सुल्तान स्वयं को खलीफा का सहायक मानते थे व अपने सिक्कों व खुतबे पर खलीफाओं का नाम अंकित करते थे परन्तु इससे उनकी व्यवहारिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

सुल्तान का पद एवं स्थिति : प्राम्भिक तुर्क सुल्तानों को स्थिति किसी निश्चित सिद्धान्त की उपज नहीं थी अपितु कानून, परम्पराओं एवं परिस्थितियों के भिक्षण पर आधारित थी। जहाँ तक वे अपने को खलीफा का प्रतिनिधि समझते थे, उनका दष्टिकोण कानूनी आवश्यकता पर आधारित था। परम्परा का तत्व उनके राजत्व में फारस से आया। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने उनकी राजनीतिक संस्थाओं में निरकुंशता की वद्धि या कमी पर प्रभाव डाला।

शरीयत के नियमों में सुल्तान या सल्तनत का उल्लेख नहीं है। अतः इसी पद को स्वीकार्य बनाने के लिए प्रभुसत्ता सम्पन्न होते हुए भी सुल्तानों ने स्वयं को खलीफा का प्रतिनिधि कहा। इस प्रकार जैसा कि **हबीबुल्ला** लिखते हैं "एक वैधिक कल्पना द्वारा इस्लामी संसार पर खलीफा का ऐकान्तिक अधिराजत्व जारी रहा..... विधिक सिद्धान्त के अनुसार खुतबा में तथा सिक्कों पर खलीफा के नाम का उल्लेख होता था।" वे ऐसी उपाधियों जैसे – नासिर–अमीर–उल–मोमनीन (खलीफा का सहायक) व यमीन–उल–खिलाफत (खलीफा का दाहिना हाथ) धारण करते थे जिनसे वे स्वयं को खलीफा का प्रतिनिधि दर्शा सकें किन्तु व्यवहार में उनकी शक्ति निरकुंश थी। शरीयत द्वारा निर्धारित व्यक्तिगत और धार्मिक कर्तव्यों के अतिरिक्त उसकी शक्ति असीम था। वह सर्वोच्च प्रशासक तथा न्यायाधीश था। केवल उसी से शक्ति तथा सम्मान प्राप्त किया जा सकता था। खलीफा की भांति वह शरिया का सर्वश्रेष्ठ व्याख्याता तथा कार्यान्वयनकारी था परन्तु बुद्धिमानी और विधिक नियमों की माँग थी कि वह विद्वान मुल्लाओं की सलाह से काम करे किन्तु इस वर्ग के अधिकतर लोग प्रलोभन से परे न थे।

वरनी बताता है कि सुल्तानों के राजस्व का आधार फारस से ग्रहण किया गया। फारसी परम्पराओं के अनुसार की सुल्तानों ने अपने पद की उच्चता पर बल दिया। बल्बन स्वयं को जिल्ले इलाई (ईश्वर की छाया) मानता था। प्रारम्भिक तुर्क सुल्तानों ने निम्न जाति के व्यक्तियों की उपेक्षा की। बल्बन ने घोषणा की जब मैं किसी निम्न जाति के व्यक्ति को देखता हूँ तो मेरा खून खौल उठता है। इस प्रकार फारस के रीति–रिवाजों को अपनाकर उन्होंने अपने लिए निरकुंशता का मार्ग प्रशस्त किया। अमीरों ने भी सुल्तान को उच्चता व प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए प्रेरित किया। उनका यह विश्वास था कि सुल्तान के लिए यह आवश्यक था कि वह जनता के हृदय में अपने प्रति आश्चर्य और भय बनाए रखें। परन्तु व्यवहार में सुल्तान के अधिकार अत्यन्त विस्तत थे। सुल्तानों की स्वेच्छाचारिता उनकी शक्ति पर निर्भर करती थी। उन्हें कानून बनाने, उन्हें लागू करने व न्याय करने का अधिकार था। वह सेना का प्रधान था उसकी आज्ञा सर्वोपरि थी। उनके अधिकारों पर विधि का कोई अंकुश नहीं था।

परन्तु इतना होते हुए भी सुल्तानों को इस्लाम धर्म का अंकुश मानना पड़ता था। उलेमाओं की उपेक्षा करके उनके लिए शासन चलाना मुश्किल होता था क्योंकि मुस्लिम जनता पर मुल्ला–मौलवियों का प्रभाव था। इसके अतिरिक्त सुल्तान को लोकमत व विद्रोह का भय भी लगा रहता था। उसकी विधायक शक्तियों भी बहुत सीमित थी। और प्रशासन जैसे धर्मनिरपेक्ष विषयों में भी शरा के नियमों का कम से कम औपचारिक रूप से पालन अनिवार्य था। सुल्तान की शक्ति पर अमीर वर्ग का प्रभाव भी कुछ हद तक प्रतिबन्धों के रूप में काम करता था। परन्तु केन्द्रीय शासन में सबसे अधिक प्रभाव सुल्तान के व्यक्तित्व का पडता था। शक्तिशाली सुल्तान के अधीन समस्त शक्तियाँ आज्ञापालक के रूप में कार्य करती थी। वे सिर्फ परामर्श दे सकती थी सुल्तान की नीति पर प्रभाव नहीं डाल सकती थी किन्तु अगर सुल्तान निर्बल हो तो मंत्री सारी शक्ति को अपने हाथ में लेकर वास्तविक सुल्तान को कठपुतली शासक बना सकते थे।

इस तरह अमीर वर्ग राजनीति के महत्वपूर्ण अंग थे। **मिनहाज-सिराज व बरनी** से स्पष्ट जानकारी मिलती है कि केन्द्रीय व प्रान्तीय प्रशासन के सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर तुर्क अधिकारियों का एकाधिकार था जिन्हें **चहलगानी** या चालीस की उपाधि दी गई थी जो संख्या नहीं बल्कि उनकी शक्ति का सूचक था। अमीर स्वयं को राजसत्ता का भी अधिकारी समझते थे अतः 13वीं शताब्दी में निरन्तर सुल्तान व अमीरों के बीच कुछ न कुछ विवाद उत्पन्न होते रहे। शायद

इसी कारण से बल्बन ने सुल्तान के पद और अधिकारों के विषय में विचारों को सैद्धान्तिक स्वरूप प्रदान किया।

बल्बन व अलाऊद्दीन जैसे शासकों ने अमीर व उलेमा दोनों पर अंकुश लगा रखा था अतः इन शक्तिशाली शासकों के समय इन प्रतिबन्धों का विशेष प्रभाव नहीं रहा। अमीर प्रायः प्रत्येक राजवंश अथवा सुल्तान के साथ बदलते रहते थे। इस कारण अमीर वर्ग सल्तनत काल में गौरवशाली न हो सका। इनमें प्रायः गुटबंदी रहती थी और उनका प्रभाव घटता–बढ़ता रहता था। सुल्तान व अमीरों के सम्बन्धों की यह स्थिति लोदीकालीन अफगान शासनकाल में न रह सकी। लोदियों ने उनका सम्मान इतना बढ़ा दिया कि सुल्तान की स्थिति सम्मानों में प्रधान की हो गई किन्तु अंतिम लोदी सुल्तानों ने यह अनुभव किया कि सुल्तान और अमीरों के सम्बन्ध वैसे ही होने चाहिए जैसे कि तुर्क काल में थे। इस प्रकार अमीरों के विद्रोह के डर का अंकुश सुल्तान पर बना रहता था पर सुल्तान अपने प्रभावशाली व्यक्तित्व से इनके अंकुशों पर हावी हो सकते थे पर अगर सुल्तान कमजोर हो तो मंत्री समस्त शक्ति को अपने हाथ में लेकर वास्तविक सुल्तान को कठपुतली बना लेते थे।

अमीर वर्ग

तेरहवीं सदी के दौरान उत्तर भारत में उभरने वाला सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रशासक वर्ग था जो अमीरों द्वारा निर्मित था। आम तौर पर अमीरों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है – सर्वोच्च श्रेणी में खान होते थे जिनके बाद मलिक और अमीर होते थे। किन्तु यह श्रेणीकरण कभी भी बहुत स्पष्ट नहीं रहा। आरम्भ में दरबार में एवं उसके इर्द–गिर्द कनिष्ठ पदों पर स्थित लोग जैसे सरजानदार (सुल्तान की निजी सेना का सिपाहसालार), साकी–ए–खास (पानी एवं अन्य पेयों का प्रभारी) आदि एवं सिहसालार, सार–ए–खेल (सशास्त्र सेना के कनिष्ठ सिपाहसालार) जैसे पदों पर स्थित लोग अमीर कहलाते थे। आगे चलकर अमीर शब्द का प्रयोग प्रशासन में प्रभावपूर्ण एवं धनी व्यक्तियों को इगित करने के लिए किया जाने लगा। मलिकों और खानों की श्रेणियों सर्वाधिक महत्वपूर्ण बनी रही। सरकार के सभी शीर्ष पदों पर इन्ही श्रेणियों के लोग रहते थे। मिन्हाज सिराज और बरनी द्वारा दी गई अमीरों की सूचियों में केवल मलिकों का उल्लेख किया गया है। ख़ान श्रेणी मंगोल प्रभाव का परिणाम थी। मंगोलों के बीच 10,000 सैनिकों के सिपहसालार को का–आन (ख़ान) कहा जाता था। दिल्ली सल्तनत में 'ख़ान' शब्द का प्रयोग केवल विशेष हैसियत दर्शाने के लिए होता था। इस प्रकार, बल्बन को उलुग ख़ान की उपाधि प्रदान की गई थी। अमीरों को ख़्वाजा जहां, इमाद–उल–मुल्क, निज़ाम–उल–मुल्क आदि जैसी अन्य उपाधियां प्रदान करके उनकी शान बढ़ाई जाती थी। उन्हें विभिन्न प्रकार की पोशाकें, तलवार और कटार, झंडे, ढोल आदि जैसी विभिन्न सुविधाएं (मरातिब) भी प्रदान की जाती थीं। इनका बड़ा महत्त्व होता था। क्योंकि वे अक्सर विशेष हैसियत एवं सुल्तान के साथ निकटता को इंगित करती थीं। विशेष अवसरों पर उन्हें कीमती साज से लैस घोड़े और हाथी भी दिए जाते थे।

किसी भी एक समय में पदाधिकारी अमीरों की संख्या के बारे में हमें ठीक–ठीक ज्ञान नहीं है। मिन्हाज सिराज ने इल्तुतमिश के शासन काल में 32 मलिकों की सूची दी है जिनमें से 8 तो विस्थापित मध्य एशियाई शासक थे। शायद बरनी द्वारा प्रयुक्त पद तुर्कान–ए–चहलग़ानी (अथवा चालीस तुर्कों का समूह) शीर्ष अमीरों की संख्या बतलाता है। बल्बन के शासन काल के लिए बरनी ने 36 मलिकों की सूची दी है जिनमें काजियों का उल्लेख नहीं किया गया है। अलाउद्दीन ख़िलजी

के शासन में शीर्ष अमीरों की संख्या 48 बताई गई है जिनमें से सात तो सुल्तान के पुत्रों समेत सगे–संबंधी थे। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि अलाउद्दीन ख़िलजी की मत्यु के बाद सल्तनत के अकस्मात विस्तार तक देश में शीर्ष अमीरों अथवा मलिकों की संख्या काफी कम थी। जैसा कि हमने देखा है, अमीरों के इस छोटे से समूह के भीतर भी भीषण गुटबंद संघर्ष चल रहा था। इस संघर्ष में पारस्परिक संघर्ष, जाति–नस्ल आदि की विशेष भूमिका रही। तुर्क लोग स्वयं को अन्य सबों – जैसे – ताजिक, खिलजी, अफगान, हिन्दुस्तानी आदि से श्रेष्ठ समझते थे। तुर्कों ने इल्तुतमिश की मत्यु के पश्चात् ताजिकों को बाहर कर दिया एवं उच्च पदों पर वस्तुतः तुर्क एकाधिकार स्थापित कर लिया। ख़िलजियों और तुगलकों के शासन कालों में भारतीय मुसलमानों ने मुख्यतः व्यक्तिगत क्षमता के आधार पर उन्नति की। फिर भी, विदेशी रक्त अथवा किसी प्रसिद्ध विदेशी परिवार के वंशजों को काफ़ी सामाजिक महत्त्व एवं सम्मान मिलता रहा जैसी कि मोरक्को के यात्री इब्न बतूता ने पुष्टि की है।

उच्च अमीरों की सामाजिक उत्पत्ति के बारे में हम बहुत अधिक नहीं जान पाए हैं। आरंभिक चरण में अमीरों के बीच बहुत अधिक सामाजिक उलट–फेर हुई और एक विस्तत पष्ठभूमि से आए लोग, जिनमें एक सैनिक समूह (जमियत) को आकृष्ट करने एवं अपने पास बनाए रखने की क्षमता थी अथवा जो सुल्तान का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर पाए, अच्छी किस्मत के कारण मलिक की हैसियत प्राप्त करने में सफल रहे। कई अमीरों ने तो वस्तुतः दासों के रूप में अपने जीवन आरंभ किए थे और धीरे–धीरे वे सामाजिक सोपान पर ऊपर चढ़ाने चले गए। अमीर–तंत्र का यह विशिष्ट स्वरूप जिसमें प्रवेश के लिए प्रतिबाध्यताएं नहीं थी, राजवंशों के शीघ्र उत्थान–पतन के कारण काफ़ी हद तक 13वीं सदी में कायम रहा एवं पूर्ववर्ती कालों के अमीरों का बड़े पैमाने पर विस्थापन होता रहा। इस प्रकार, 13वीं सदी में हमें शायद ही ऐसे परिवारों के बारे में सुनने को मिलता है जिनके सदस्य एक पीढ़ी से अधिक समय तक उच्च अमीरों के पद पर बने रहे हों।

14वीं सदी के दौरान ख़िलजियों और फिर तुगलक़ों, जिन्होंने लगभग सौ वर्षों तक शासन किया, के उद्‌य के साथ अमीर–तंत्र का सामाजिक आधार अधिक विस्तत हो गया और इसमें अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व आ गया। उच्च पदों पर तुर्क एकाधिकार के भंग होने के साथ ही अमीर–वर्ग में प्रवेश की सम्भावनाएं अधिक व्यापक हो गईं। ख़िलजियों, अफ़ग़ानों और हिन्दुस्तानियों में से बहुतों को अमीर–तंत्र में शामिल किया गया। तुर्कों को निकालने का कोई प्रयास नहीं किया गया। परन्तु प्रचलित धारणा के अनुसार, यदि कोई अमीर अपनी शक्ति और पद से वंचित हो जाता था तो उस के वंशज उसी शानो–शौकत व सामाजिक प्रतिष्ठा की परम्परा निभाते थे क्योंकि वे सोचते थे कि समय व अवसर आने पर वे अपनी पहले की ही स्थिति पर बहाल हो जायेंगे।

इन लोगों और उलमा को अशराफ (शरीफ का बहुवचन) यानी सम्मानित वर्ग समझा जाता था। समकालीन विचारधारा के अनुसार, इन वर्गों के प्रति सरकार का विशेष दायित्व होता था। यह विशेष दायित्व रोजगार के संबंध में ही नहीं, बल्कि विधवाओं को पेंशन देने एवं उनकी अविवाहित पुत्रियों के विवाह हेतु धन प्रदान करने के संबंध में भी होता था।

आम तौर पर कहा जाए तो अहल–ए–सैफ़ (अथवा तलवार–धारी व्यक्तियों) एवं अहल–ए–कलम (अथवा विद्वान व्यक्तियों) के बीच व्यापक विभाजन था। अहल–ए–कलम न्यायिक एवं धार्मिक पदों के लिये चुने जाते थे। उलेमा लोग भी इसी श्रेणी में आते थे। जब तक दुराग्रही सरदारों, मुक़द्दमों

एवं किसानों से भू–राजस्व की उगाही के लिए प्रशासन को सैन्य बल का प्रयोग करते रहना पड़ा तब तक अहल–ए–कलम को प्रशासन से अलग रखा गया, यद्यपि अनुरोध किया जाता था कि वजीर को अहल–ए–कलम वर्ग का ही होना चाहिए। सामान्य तौर पर अमीर गण अहल–ए–कलम को हेय दष्टि से देखते थे और उन्हें प्रशासनिक अथवा राजनीतिक कार्यों के लिये अयोग्य समझते थे। इस प्रकार, अलाउद्दीन ख़िलजी के मंगोलों के सथ समझौता पर लेने की काजी मुगीस की सलाह को अस्वीकार ही नहीं किया, अपितु सैनिक और राजनीतिक विषयों पर सलाह देने के लिए उसका उपहास भी किया क्योंकि वह एक नवीसंदा (लिपिक) था और एक नवीसंदा का पुत्र था।

अशराफ वर्ग, जिसमें से अमीर–वर्ग के लिए भर्ती होती थी, के उदय ने अमीर–वर्ग को कुछ हद तक स्थायित्व तो प्रदान किया किन्तु मुस्लिम समाज में स्तरीकरण को भी बढ़ा दिया। अशराफ़ का प्रतिपक्षी वर्ग अजलाफ़ अथवा कम–अस्ल था जिसमें निम्न और अवर वर्गों के नागरिक एवं पेशेवर, जैसे – बुनकर, किसान एवं श्रमिक आते थे। अशराफ़ और अजलाफ़ वर्गों के बीच न केवल विवाह–संबंध स्थापित होना अकल्पनीय था, अपितु दोनों के बीच सामाजिक मेल–जोल भी नहीं रहता था। यद्यपि पश्चिम और मध्य एशिया में मुसलमानों के बीच इस प्रकार का सामाजिक स्तरीकरण रहा था, किन्तु भारत में आने के बाद मुसलमानों के बीच यह स्तरीकरण और भी अधिक दढ़ और स्पष्ट हो गया। ऐसा शायद इस कारण था कि भारत में जन्म यानी जाति के आधार पर स्तरीकरण की दीर्घ परम्परा रही थी।

इस गहरे सामाजिक विभाजन से यह विचार उत्पन्न हुआ कि केवल 'सम्मानित' व्यक्तियों को ही राज्य में उच्च पदों पर आसीन होने का अधिकार है। अतः उच्च वर्गों के बीच उस समय व्यापक असंतोष पैदा हुआ जब मुहम्मद बिन तुग़लक़ ने कलाल, नाई, रसोइया, माली, दुकानदार (बाज़ारी) आदि जैसे निम्न वर्गों अथवा जातियों के हिन्दुओं और मुसलमानों को, प्रत्यक्षतः उनकी क़ाबलियत के आधार पर, उच्च पदों पर नियुक्त किया। विभिन्न कारणों से यह प्रयोग असफल हो गया। फ़िरोज़ तुग़लक़ ने काफ़ी प्रशंसा और सराहना अर्जित की जब उसे केवल उन्हीं लोगों को अमीर–तंत्र में रखा जिनके पूर्वजों ने सुल्तान की सेवा में कार्य किया हो अथवा जो 'सम्मानित' वर्गों के थे। यह पूर्वाग्रह और पक्षपात हिन्दुस्तनियों के विरुद्ध नहीं, अपितु तथाकथित निम्न वर्गों के विरुद्ध था और, यह बात इस तथ्य से साबित होती है कि फ़िरोज़ का वज़ीर ख़ान–ए–जहां, जो कि मुसलमान बनने से पूर्व एक ब्राह्मण था, सभी वर्गों के मुसलमानों को स्वीकार्य था। किन्तु बरादुओं अथवा परवारियों के प्रति जो अलाउद्दीन ख़िलजी के मत्यु के बाद कुछ समय के लिये सत्ता में आये थे, बिल्कुल दूसरा ही रवैया देखा जा सकता है क्योंकि उनके बारे में निम्न जाति के धर्मान्तरित मुसल्मान होने की भ्रान्ति थी। इनकी बरनी ने तीव्र भर्त्सना की है।

बरनी ने बताया है कि बल्बन के समय में, जब संभवतः अमीरों के हाथ में अधिक पैसे नहीं होते थे और वे जब कभी वे कोई मजलिस अथवा जलसा करना चाहते तो उनके एजेंट पैसा उधार मांगने के लिए साहों और मुल्तानियों के घर भागकर जाते जिसके कारण उनकी इक़्ता से प्राप्त समस्त राशि क़र्ज़–अदायगी के रूप में साहों और मुल्तानियों के हाथों में चली जाती थी और सोना–चांदी केवल व्यापारियों के घरों में ही मिलती थी। लगता है कि यह स्थिति अलाउद्दीन ख़िलजी के सुल्तान बनने पर बदल गई जिसने भू–राजस्व प्रशासन की एक नई केंद्रित प्रणाली विकसित की जो तुग़लक़ों के शासन में भी कायम रही। राजस्व प्रशासन की इस नई प्रणाली में भू–राजस्व के नगद भुगतान पर ज़ोर दिया जाता था। यह न केवल ख़ालिसा क्षेत्रों (यानी

ऐसे आरिक्षित क्षेत्र जहां से प्राप्त आय सीधे केंद्रीय राजकोष में जाती थी), अपितु इक्ता के रूप में आबंटित क्षेत्रों पर भी लागू होता था। इस प्रकार, जब इब्न बतूता को न्यायाधीश नियुक्त किया गया एवं उनका वेतन 5,000 दीनार तय किया गया तो उन्हें 2½ गांव आबंटित किए गए जिनसे प्राप्त वार्षिक आय उस रकम के बराबर होती थी। अब हमें ऐसे अमीरों के बारे में भी सुनने को मिलता है जिनके वेतन की राशि बहुत अधिक होती थी। इस प्रकार, एक मलिक को 50-60 हजार टंके, अमीर को 30-40 हजार टंके एवं सिपाहसलार को 20 हजार टंके, अमीर को 30-40 हजार टंके एवं सिपाहसलार को 20 हजार टंके मिलते थे। फ़िरोज़ तुगलक़ के शासन काल में तो ये वेतन और भी अधिक हो गए थे। इस प्रकार, ख़ान–ए–जहां मक़बूल को उसकी सेना और सेवकों हेतु व्यय तथा उसके पुत्रों और दामादों के लिये पथक भत्तों के अतिरिक्त 13 लाख टंके वेतन के रूप में मिलते थे। अन्य अमीरों को प्रतिवर्ष वेतन के रूप में चार से आठ लाख टंके मिलते थे।

इसका यह तात्पर्य है कि केंद्रीय अभिजात के हाथों में ग्रामीण अधिशेष का अभूतपूर्व केंद्रीकरण हुआ। उच्च वेतनों का तात्पर्य अमीरों की अपरा समद्धि से ही नहीं, अपितु धन के संचयन की भारी संभावना से भी था। जब सुल्तान फ़िरोज़ के नायब अमीर–ए–मजलिस मलिक शाहीन की मत्यु हुई तो वह अपने पीछे रत्नों, आभूषणों और क़ीमती पोशाकों के अतिरिक्त 50 लाख टंके छोड़ गया था। इमाद–उल–मुल्क बशीर–ए–सुल्तानी, जो सुल्तान का दास रह चुका था, 13 करोड़ टंके छोड़कर परलोक गया था जिनमें से फ़िरोज़ ने नौ करोड़ टंके ज़ब्त कर लिये थे। किन्तु ये दष्टान्त अपवाद स्वरूप ही लिये जा सकते हैं, नियमों के रूप में नहीं। इस प्रकार का धन संचय अनिश्चितताओं के प्रति सुरक्षा का आधार होने के अतिरिक्त देश में मुद्रा अर्थव्यवस्था की धीमी प्रगति का भी परिचायक था। फिर भी लगता है कि मुद्रा अर्थव्यवस्था के विकास के कारण व्यापार और व्यापारियों के प्रति दष्टिकोण में भी बदलाव आया। इब्न बतूता दिल्ली के सुल्तान के स्वामित्व वाले पोतों का उल्लेख करते हैं। एक बार तो सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक़ ने अपने एक मित्र और सहयोगी शिहाबुद्दीन काज़रूनी, जिसका समुद्र पार के देशों के साथ भारी पैमाने पर व्यापार चलता था और जिसे 'व्यापारियों का राजा' कहा जाता था, के ज़िम्मे तीन पोत सौंप दिए थे। शायद पहली बार ऐसा हुआ कि व्यापारियों को प्रशासन संबंधी कार्यों में शामिल किया जाने लगा। इस प्रकार, मुहम्मद बिन तुगलक ने शिहाबुद्दीन को खम्बायत नगर का प्रभारी बना दिया था। यदि इब्न बतूता के कथन को सच माना जाए तो सुल्तान ने उसे वज़ीर का पद देने का वादा तक कर दिया था, किन्तु जब वह दिल्ली जा रहा था तो वजीर खान–ए–जहां की पहल पर उसकी हत्या कर दी गई।

हमें तो यह भी बताया गया है कि दिल्ली में रहने वाला ईराक़ का अबुल हसन इबादी सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक़ के पैसे से व्यापार किया करता था एवं उसके लिए ईराक़ और खुरासान में हथियार एवं अन्य सामान ख़रीदा करता था। अन्य अमीर भी सुल्तान का अनुकरण करते होंगे यद्यपि हमारे पास इसका कोई साक्ष्य नहीं है। कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि अमीरों के अधिकांश निवेश व्यापार में नहीं बल्कि फ़लोद्यानों में होते थे जिनकी संख्या फ़िरोज के शासन काल में बहुत अधिक बढ़ गई थी जब अमीरों की समद्धि में वद्धि हुई थी। किन्तु अमीरों द्वारा लाभकारी निवेशों की दिशा में और अधिक विकास अकबर के अधीन साम्राज्य के पुनकेंद्रीकरण के बाद ही सम्भव हो सका।

तुर्क अमीरों के सांस्कृतिक दष्टिकोण और मूल्यों एवं शिक्षा के संबंध में हमें बहुत ही कम जानकारी

है। संभवतः वे अशिक्षित नहीं होते थे; यहां तक कि समरकंद और बुख़ारा के दास–बाज़ारों में व्यापारियों द्वारा ख़रीदे गए दासों को भी पुनः बेचने के पूर्व शिक्षित किया जाता था। यद्यपि कई दास तो हाल ही में मुसलमान बने होते थे, किन्तु उन्होंने मध्य एशिया, खुरासान आदि में प्रचलित इस्लामी धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताओं एवं मूल्यों को आत्मसात कर लिया था। फिर भी, वे पुराने और सुस्थापित अमीर परिवारों की सांस्कृतिक मर्यादाओं को शायद ही आत्मसात कर पाए होंगे और न ही उनसे संस्कृति के बुद्धिमान संरक्षक होने की अपेक्षा की जाती होगी, हालांकि कवियों और लेखकों को संरक्षण देना और कभी–कभी उन्हें विपुल इनाम देना प्रतिष्ठा मूलक माना जाता था। तेरहवीं सदी के अंत में अमीर खुसरों और उनके साथी अमीर हसन सिज्जी के उदय के साथ स्थिति में परिवर्तन आया। धीरे–धीरे एक नई हिंदू–मुस्लिम संस्कृति का विकास हुआ, और कई अमीरों एवं सूफ़ियों ने इसमें सक्रिय योगदान किया। इस प्रकार, ज़िया नक़्शबी (मृत्यु 1350 ई॰) के काव्य समेत कई विषयों पर लिखा एवं कई संस्कृत कृतियों का फ़ारसी में अनुवाद किया।

इस प्रकार, निरे योद्धा के रूप में जीवनवृत्त आरंभ करने वाले अमीरगण धीरे–धीरे संस्कृति के संरक्षक के रूप में भी उभरने लगे।

राजा या सरदार–ज़मींदारों का उदय

यद्यपि राजपूतों ने राजस्थान और उसके समीपवर्ती क्षेत्रों और हिमालय के अधिक दूरवर्ती पहाड़ी क्षेत्रों, बुंदेलखंड आदि के अतिरिक्त लगभग समस्त उत्तर भारत में अपनी राजकीय सत्ता खो दी थी, किन्तु पंजाब, दोआब, बिहार, गुजरात जैसे केन्द्र प्रशासित क्षेत्रों में भी देहाती इलाकों पर राजपूत राजाओं का प्रभुत्व कायम रहा। उन्हें राय, राणा, रावत आदि कहा जाता था। किन्तु उनके लिए 'राजा' शब्द का प्रयोग किया गया है। उनकी अपनी सशस्त्र सेना होती थी और वे प्रायः देहातों में अपने किलों या गढ़ियों में रहते थे। हमें उनकी संख्या अथवा उनकी सेना की शक्ति के बारे में बहुत ही कम ज्ञान है, किन्तु वे देहातों के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे। यद्यपि समकालीन स्रोत उन्हें शत्रुओं के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिनके विरुद्ध सतत जिहाद ने केवल उचित था बल्कि आवश्यक भी था, किन्तु स्थायी शत्रुता का संबंध न तो तुर्क शासकों के लिए और न ही उन राजाओं के लिए संभव था। तुर्क शासकों के लिए उनके नियंत्रणाधीन क्षेत्रों पर उन्हें तब तक शासन करते रहने देना सुविधाजनक था जब तक वे कर के रूप में नियमित रूप से एक निश्चित राशि का भुगतान करते रहते एवं सामान्य तौर पर निष्ठापूर्वक व्यवहार करते रहते।

वस्तुतः इस तथ्य की पुष्टि के लिये प्रमाण उपलब्ध हैं कि तुर्क सुल्तानों और हिन्दू राजाओं या सरदारों के बीच राजनीतिक सम्पर्क में बढ़ोतरी हुई। इस प्रकार साक्ष्यों से ज्ञात होता बताया गया है कि सौ–सौ कौस से हिन्दू राय आकर बलबन के दरबार की भव्यता देखा करते थे। बंगाल में तुग़रिल पर बलबन की विजय के बाद उसका अवध में उस क्षेत्र के रायों समेत बहुत से लोगों ने स्वागत किया। बाद में जब फ़िरोज तुगलक़ ने बंगाल पर चढ़ाई की तब उसके साथ पूर्वी उत्तर प्रदेश के बहुत से राय आ मिले जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गोरखपुर और चंपारण का राय उदय सिंह था, जिसने अपने पास बक़ाया कर के रूप में 20 लाख टंकों का भुगतान किया।

एक दूसरे उदाहरण में जब बल्बन के भतीजे एवं कड़ा के हाकिम मलिक छज्जू ने जलालुद्दीन

ख़िलाजी के विरुद्ध विद्रोह किया तो उसकी सहायता करने के लिए उक्त क्षेत्र के स्थानीय राय, रावत एवं पायक उसके पास आ गए जो "चींटियों और टिड्डियों की तरह अपने सैनिकों के साथ उमड़ने लगे"। जलालुद्दीन ख़िलजी के साथ संघर्ष में उन्होंने मलिक छज्जू का पूरा–पूरा साथ दिया। मलिक छज्जू तो पराजित हो गया किन्तु लगता है कि इस समय से हिन्दू राजा सुल्तान के दरबार में उपस्थित होने लगे। इस प्रकार, हमें ज्ञात होता है कि फ़िरोज तुगलक़ के शासन काल में अनिरत्थु (जो दो शाही छत्रों का स्वामी था), राय मदार (अथवा बल्लार) देव, राय सुमेर, रावत अधिराम आदि को राजदरबार में उपस्थिति होने और दूसरों के साथ बैठने की अनुमति भी मिली हुई थी।

सल्तनत शासन के दौरान इन बढ़ते हुए राजनीतिक संपर्कों के बावजूद राजाओं की स्थिति काफ़ी अनिश्चित होती थी। हिन्दू सरदारों के नियंत्रणाधीन क्षेत्रों में शाही राजस्व प्रशासन प्रणाली लागू कर उनके अधिकारों एवं सुविधाओं में कटौती करने की कोशिश करना अथवा, जब कभी संभव हो, उन्हें उखाड़ फेंकना दिल्ली के सुल्तानों की नीति का ही एक भाग था। यद्यपि इस प्रक्रिया से किसानों के वास्तविक बोझ में वस्तुतः कोई कमी नहीं आई, किन्तु इसके कारण राजाओं एवं संभवतः अन्य बिचौलियों को प्राप्त विशेष सुविधाओं में कटौती हुई।

17वीं सदी के आरंभ तक हमें ज़मींदारों का अधिकाधिक उल्लेख मिलने लगता है। यह शब्द भारत से बाहर कहीं भी प्रयुक्त नहीं होता था। भारत में इसका प्रयोग वंशानुगत बिचौलियों के अर्थ में होने लगा। इस शब्द का सबसे पहले प्रयोग करने वाले व्यक्तियों में से एक अमीर खुसरों भी थे। कालांतर में इस शब्द का प्रयोग खूतों, मुक़द्दमों और चौधरियों एवं यहां तक कि उन भूतपूर्व राजाओं के लिए भी होने लगा जो एक निश्चित राशि के बजाय भू–राजस्व निर्धारण के आधार पर तय राशि का भुगतान करने के लिए बाध्य थे मुग़लों के शासन में भूमि के सभी वंशानुगत स्वामियों अथवा भू–राजस्व में वंशानुगत हिस्सा पाने वालों को ज़मींदार कहा जाने लगा। यहां तक कि राजाओं अथवा सरदारों को भी इस श्रेणी में शामिल कर लिया गया।

सुविधाप्राप्त ग्रामीण लोगों की जीवन शैली के बारे में हमें बहुत कम जानकारी है, किन्तु सामान्य तौर पर उनकी समद्धि और शेष दरिद्र आबादी के धनाभाव के बीच का फ़ी अंतर था।

शासक वर्ग के प्रशासनिक अधिकारी, एवं उलमा

शासन वर्ग, विशेषकर अमीर गण, अपने द्वारा नियुक्त भारी संख्या में सेवकों, दासों एवं अन्य कारिन्दों के अतिरिक्त निम्न श्रेणी के अधिकारियों के एक समूह की सहायता के बिना शायद ही कार्य करते थे। इन अधिकारियों को मोटे तौर पर दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है : न्यायिक एवं धार्मिक अधिकारी तथा राजस्व एवं प्रशासनिक अधिकारी। पहली श्रेणी में क़ाज़ी और मुफ़्ती होते थे जो प्रत्येक ऐसे नगर में नियुक्त किए जाते थे जहां बड़ी संख्या में मुसलमान रहते थे। वे मुसलमानों से संबंधित मामलों में दीवानी न्याय करते थे और हिन्दुओं को पारंपरिक कानून और धर्मशास्त्रों के आधार पर अपने मुक़दमों का निपटान करने के लिए स्वतंत्र छोड़ देते थे। वे फ़ौजदारी न्याय भी करते थे। उनका प्रधान मुख्य क़ाजी होता था। राजधानी में और शायद अन्य नगरों में भी एक दाद बक होता था जो करों की मनमानी वसूली पर अंकुश रखता था एवं ऐसे अमीरों पर नज़र और नियंत्रण रखता था जो कर वसूल करने के प्रयोजन से मुसलमानों की संपत्ति का सर्वेक्षण करने एसवं अभिलेख रिकॉर्ड रखने के लिए उत्तरदायी होते थे। एक मुहतसिब भी होता था जो कोतवाल के अधीन कार्य करता था एवं यह सुनिश्चित करने के लिए ज़िम्मेदार

होता था कि मुसलमान शरीयत का खुलेआम उल्लंघन न करें अथवा रोज़ा रखने, नमाज पढ़ने आदि जैसे अनिवार्य कर्त्तव्यों की उपेक्षा न करें। वह बाटों और पैमानों की जांच करने के लिए भी जिम्मेदार होता था।

इन सभी पदों पर नियुक्त व्यक्तियों को वेतन मिलते थे और उनकी संख्या देश की मुस्लिम आबादी के आकार में वद्धि के साथ बढ़ती रही। साथ ही, इमाम, मुअज्जिन आदि भी होते थे जिन्हें विभिन्न मस्जिदों में नियुक्त किया जाता था। पवित्र कुरान के वाचक भी होते थे जिन्हें मकबरों में नियुक्त किया जाता था और जिन्हें विभिन्न धार्मिक कार्यों में बुलाया जाता था। इनके अलावा धार्मिक संत होते थे जिन्हें विभिन्न विद्यालयों (मकतबों), महाविद्यालयों (मदरसों) आदि में शिक्षक के रूप में नियुक्त किया जाता था। ये सभी लोग मोटे तौर पर उलमा के अर्न्तगत मान जाते थे। उलमा का काफी आदर किया जाता था। सामान्यतः वे मुस्लिम विधिशास्त्र, तर्कशास्त्र एवं धर्मशास्त्र में प्रशिक्षित होते थे तथा उन्हें अरबी भाषा का भी थोड़ा–बहुत ज्ञान होता था। इन सरकारी वर्गों के अतिरिक्त बहुत बड़ी संख्या में मुस्लिम विद्वान और संत आदि हुआ करते थे जो वज़ीफों (राजस्व–मुक्त भूमि) के अनुदान आदि के ज़रिए सरकार से जीवन–वत्ति प्राप्त करते थे।

लोगों के इस विशाल और असंगठित समूह के सामाजिक आधार के बारे में हम बहुत कम जानते हैं। सामान्य तौर पर वे आधुनिक काल के निम्न मध्यवर्गीय तथा मध्यवर्गीय लोगों के समान थे, हालांकि कुछ उलमा तो मुख्य क़ाजी आदि जैसे पदों तक भी पहुंच गए थे एवं शासक वर्ग का भाग बन गए थे। अधिकांश कवि, विद्वान, इतिहासकार, चिकित्सक (हकीम) एवं निम्न सरकारी कर्मचारी–आमिल (राजस्व की वसूली करने वाले), मुहर्रिर (लेखाकार) आदि इसी सामाजिक वर्ग के अंतर्गत थे। हम इस वर्ग को विद्वद्वर्ग अथवा शिक्षित वर्ग भी कह सकते हैं। जैसा कि हम जानते हैं, जिस देश में अधिकांश लोग अशिक्षित रहे हों उसमें जो लोग शिक्षित होते हैं और धर्म के विषय में बोल सकते हैं उन्हें बहुत अधिक प्रतिष्ठा तो मिलती ही है। ऐसा ही इस काल में भी था।

फिर भी, एक वर्ग के रूप में उलमा को विवेकशील लोगों के बीच उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी। बलबन के पुत्र बुगरा ख़ान ने अपने पुत्र कैकबाद को उलमा की ओर से सचेत रहने की सलाह दी। उसने उन्हें ऐसे "लालजी दुष्टों" की संज्ञा दी "जिनकी मुख्य रुचि इस लोक में है न कि परलोक में"। अमीर खुसरों न्यायिक पद स्वीकार करने वाले क़ाज़ियों को भ्रष्ट और अज्ञानी, उवं राज्य में किसी भी ज़िम्मेदारीपूर्ण पद पर आसीन होने के अयोग्य मानते थे। वे घमंडी और पाखंडी थे और आम तौर पर मौक़ा परस्त माने जाते थे जो सत्ता में बैठे लोगों को प्रसन्न करने के लिए अपने मूल्यों और सिद्धांतों का त्याग करने के लिए तत्पर रहते थे। आम तौर पर सुल्तान लोग उन्हें राजनीतिक मामलों में कोई महत्त्व नहीं देते थे और उन्हें न्यायिक मामलों, धार्मिक विषयों और शिक्षा तक ही सीमित रखते थे। फिर भी, उलेमा के वर्ग ने शासक वर्गों और आम मुसलमानों के बीच एक सेतु बनाने में और मुसलमानों में एकता का भाव भरने में सकारात्मक भूमिका निभाई। साथ ही, उल्लेखनीय है कि कई उलमा विदेशी थे जिन्होंने मंगोलों के कारण भारत में शरण ली थी अथवा जो भारत की समद्धि के कारण इसकी ओर आकृष्ट हुए थे। उन्हें भारत के बारे में बहुत कम ज्ञान था और उन्होंने तथा भारत के कुछ उलेमा के आम तौर पर लोगों के बीच व्याप्त सामाजिक मित्रता के भाव की उपेक्षा करते हुए धार्मिक वैषम्य के तत्त्वों पर निरंतर ध्यान आकृष्ट कर आम हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सामाजिक तनाव और कटुता को बढ़ावा दिया।

अलाउद्दीन ख़िलजी द्वारा नवीन राजस्व प्रशासन प्रणाली आरम्भ किये जाने के पश्चात् केंद्र में एवं विभिन्न प्रांतीय तथा ज़िला नगरों में बढ़ते प्रशासन तंत्र को संभालने के लिए भारी संख्या में लिपिकों और विभिन्न कर्मचारियों की आवश्यकता हुई। इन कर्मचारियों की शक्ति, उनकी ओर से भ्रष्टाचार और दमन की संभावनाओं एवं उनके विरुद्ध अलाउद्दीन द्वारा उठाए गए कठोर सुधारात्मक क़दमों के बारे में बरनी ने विस्तार से वर्णन किया है। सरकारी सेवा में भर्ती किए गए इन नए लोगों की सामाजिक पष्ठभूमि का कोई ज्ञान नहीं है। उनमे से बहुत सारे लोग भारतीय रहे होगें जिन्होंने इस्लाम में धर्मांतरण कर लिया होगा अथवा वे उलेमा वर्ग के सदस्य रहे होंगे। यदि मुकद्दमों और पटवारियों को जो हिन्दू थे और गाँवों में रहते थे निकाल दें तो निम्न श्रेणी के इन अधिकारियों में से अधिकांश लोग निश्चत ही मुसलमान रहे होंगे। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दुओं ने मुहम्मद बिन तुगलक के शासन काल में इस वर्ग में प्रवेश किया। इस समय तक, फारसी जानने वाले हिन्दुओं का एक वर्ग अस्तित्व में आ चुका था।

मुगल शासक वर्ग

मुगल शासक वर्ग बहु–प्रजातीय, बहु–धर्मिक और बहु–प्रांतीय था। सिद्धांततः सम्राट इस वर्ग का गठन करता था। मुगल शासक वर्ग को आमतौर पर कुलीन वर्ग के रूप में जाना जाता था और इसमें नागरिक और सैनिक अधिकारी दोनों शामिल होते थे। उन्हें मनसब या पद प्राप्त होता था और उन्हें नगद धन का विभिन्न क्षेत्रों (जागीर) से प्राप्त राजस्व के माध्यम से वेतन मिलता था। इस प्रकार मनसबदारों की कुल संख्या से राजनीति और प्रशासन साथ–साथ साम्राज्य की अर्थव्यवस्था पर भी प्रभाव पड़ता था। मंगोल साम्राज्य के विघटन के बाद चौहदवीं सदी से पश्चिमी और मध्य एशिया में नए, उदार चिंतन का उदय हुआ, जो तैमूर द्वारा संस्थापित राज्य में प्रतिबिंबित हुआ। यद्यपि तैमूर के उत्तराधिकारी चाहते थे कि उनकी छवि कट्टर पंरपरावादी इस्लामी शासकों की हो, तथापि वे चंगेज के यस्सा को छोड़ने को तैयार नहीं थे, जो शासक को और चीजों के साथ–साथ यह अनुदेश देता था कि वह 'सभी संप्रदायों को एक माने और उनमें कोई भेद–भाव नहीं करे।' तैमूरियों के शासन करने के दैवी अधिकार के दावे का बहुत सम्मान था, जिसका नतीजा यह था कि किसी भी बेग में कभी उनकी गद्दी पर बैठने की आकांक्षा नहीं जगी। इससे स्थिरता के तत्व का समावेश हुआ, तथापि यह जरूरी था कि शासक शासन करने की अपनी क्षमता सिद्ध कर दे। जब बाबर ने भारत में मुगल राज्य की नींव डाली तो वह इन्हीं परंपराओं को साथ लेकर आया था। हुमायूं भी अपने पिता के चरण–चिह्नों पर ही चला।

भारत में भी पंद्रहवीं सदी में उदारतापूर्ण सूफी सिलसिलों का व्यापक प्रसार हुआ, जिनमें ईश्वर के प्रति प्रेम और भक्ति को रस्मी इबादत के मुकाबले तरजीह दी जाती थी और विभिन्न धार्मों के भक्तों के बीच कोई अंतर नहीं किया जाता था। कबीर, रैदास और नानक जैसे भक्त संतों ने सभी भक्तों की एकता पर जोर दिया, चाहे उनकी जाति और धर्म कोई भी हो। इस काल में उदित होने वाले अनेक प्रादेशिक राज्यों में हिंदुओं को राज्य की सेवा में ऊंचे पद दिए गए, मोटे तौर पर धार्मिक सहिष्णुता क नीति का अनुसरण किया गया तथा स्थानीय भाषाओं और साहित्य को संरक्षण प्रदान किया गया।

इस प्रकार जब अकबर ने बैरम खां के अभिभावकत्व के बाद सरकार की बागडोर संभाली तो उसके सामने एक उदार परम्परा मौजूद थी, जिससे वह बहुत कुछ ग्रहण कर सकता था।

अकबर के धार्मिक विचारों तथा राजत्व–संबंधी उसकी अवधारणा को उसके जीवनीकार अबुल फज़ल के विस्तार से प्रस्तुत किया है। अबुल फज़ल के अनुसार, "राजत्व ईश्वर से प्रस्फुटित प्रकाश

और सूर्य से निकली किरण है।' इस प्रकाश को फर्र–ए–इंज़िदी (दैवी प्रकाश) की संज्ञा दी गई, जो 'किसी भी मध्यस्थ की सहायता के बिना ईश्वर राजा को प्रदान करता है, और उसकी उपस्थिति में लोग समर्पण में नतमस्तक होते हैं।'

इस प्रकार राजत्व एक दैवी अवदान था। उसके लिए शासक उलमा पर निर्भर नहीं था, और जो उस प्रकाश से युक्त था उसके सामने सबको नतमस्तक होना था। यह अवधारणा कोई नई नहीं थी। यह ईरान की इस्लाम से पहले की सासानी अवधारणा पर आधारित थी, और जब बलवन ने राजत्व के ईरानी रूपों को अपनाने की कोशिश की उस समय उसे भी इसका भान था। लेकिन अबुल फज़ल ने इस पुरानी अवधारणा में मुसलमानी और हिंदू चिंतन से ग्रहण की गई अनेक विशेषताओं कर समावेश कर दिया है। उदाहरण के लिए, फर्र–ए–इज़िदी से संपन्न शासक में प्रजा के प्रति पितवत् प्रेम होता है, उसका हृदय विशाल होता है, सत्–असत् का विवेक होता है, साहस और दढ़ता होती है और छोटे–बड़े सभी की इच्छाओं का ध्यान रखने की प्रवत्ति होती है; और इसमें ईश्वर, प्रार्थना और भक्ति में निरंतर बढ़ता हुआ विश्वास होता है, जिससे वह प्रतिकूल परिस्थितियों में परेशान नहीं होता, अत्याचारियों को दंड देता है और संयम तथा बुद्धि से काम लेता है।

राज्य तथा प्रभुसत्ता की अबुल फज़ल की अवधारणा को उसकी समाज की समझ और साथ ही धार्मिक–आध्यात्मिक प्रवत्तियों के संदर्भ में देखना चाहिए। हिंदू परंपराओं का अनुसरण करते हुए और साथ ही जलालुद्दीन दव्वानी–जैसे मुसलमान चिंतकों से प्रभाव ग्रहण करते हुए, उसने मनुष्य को चार वर्गों में विभाजित कियाः पहला वर्ग था योद्धाओं का, दूसरा शिल्पियों और व्यापारियों का, तीसरा विद्वानों का और चौथा किसानों तथा मजदूरों का। विद्वानों अर्थात् धार्मिक वर्गों (ब्राह्मणों, उलमा) को धर्मशास्त्रों की तरह प्रथम स्थान देने के बदले तीसरे स्थान पर रखकर अबुल फ़जल ने इन अति आडंबरी और स्वमताग्राही वर्गों की स्थिति को नीचे ले जाने प्रयास किया। इसके साथ ही उसने अपने विचार निश्चित करने में तत्कालीन सामाजिक वास्तविकता का भी ध्यान रखा। अबुल फज़ल मनुष्य को उसके गुणों के आधार पर तीन वर्गों में बाटने की प्राचीन यूनानी परम्परा का भी हवाला देता है। ये तीन वर्ग थे उत्तम, निम्न और मध्यवर्ती। उत्तम वर्ग में वे लोग शामिल थे जो शुद्ध बुद्धि से संपन्न थे, जिनमें समझदारी और प्रशासन की योग्यता थी, या जो काव्य–रचना तथा वक्तत्व में कुशल थे और जिनमें सैनिक कर्तव्य के लिए अपेक्षित साहस था। निम्न और मध्यवर्ती वर्गों में अलग–अलग पेशों के लोग शामिल थे। अधम या निम्न वर्ग में वे लोग आते थे जो मानव–जाति के सामान्य कल्याण के विरुद्ध आचरण करते थे, जैसे अनाजों की जमाखोरी करना, और जो किसी भी सद्गुण से रहित थे–जैसे भांड़, नाई, चर्मशोधक, नट–कलाबाज या भंगी भी इसी वर्ग में आते थे। इसी तरह कसाई और मछुआरे भी, 'जिनका काम सिर्फ जान लेना था', निम्न वर्ग के लोग थे। उनके निवास के लिए नगर में अलग मोहल्ले तय थे और उन्हें दूसरों के साथ मेलजोल रखने की मनाही थी और यदि रखते तो जुर्माने के भागी बनते। 'नीच प्रकृति और नीच आचरण' उनकी पहचान थी।

मध्यवर्ती वर्ग में अलग–अलग धंधों में लगे लोग और व्यापारी शामिल थे; इनमें से कुछ धंधे 'जरूरी हैं, जैसे कृषि और कुछ अन्य पेशे, जिनके बिना काम नहीं चल सकता है, जैसे रंगरेजी वगैरह; और कुछ सरल हैं, जैसे बढ़ईगिरी, लोहारी, और बाट–तराजू तथा चाकू बनाना'। अन्यत्र, मध्यवर्ती वर्ग में वे लोग बताए गए हैं जो प्रकृति से सौम्य होने के कारण अच्छे विचार रखते थे और जो सभी के बारे में अच्छा ही बोलते थे।

मनुष्य के संबंध में, खास तौर से नीच या अधम कहे जाने वाले निम्नवर्गों के बारे में, अबुल फज़ल के विचार बहुत हद तक समकालीन उच्च वर्गों के पूर्वग्रहों को प्रतिबिंबित करते थे। उसके विचार में यह बात निहितार्थ रूप में समाई हुई थी कि निम्न वर्गों को राज्य की सत्ता में भागीदारी करने की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए, और राज्य का प्रशासन चलाने का काम केवल उन लोगों का होना चाहिए जो सभ्रांत परिवारों और ऊपरी जातियों के हैं। समाज में बुरे वगोर् की मौजूदगी शाही निरंकुशता का औचित्य सिद्ध करता था, क्योंकि आवश्यक गुणों और योग्यताओं से युक्त राजा ही इन वर्गों को नियंत्रण में रख सकता था। दूसरे, फर्र–ए–ईज़िदी से युक्त बादशाह के लिए यह आवश्यक था कि वह 'सांप्रदायिक संघर्ष की धूल को उड़ने' न देकर सामाजिक स्थिरता कायम करे। उसके लिए यह भी 'कर्तव्य–रूप' था कि 'इन (वर्गों) में से प्रत्येक को अपनी–अपनी सही जगह पर रखे और (उनकी) अपनी–अपनी योग्यता का संयोग दूसरों के प्रति उपयुक्त सम्मान की भावना से कराए, ताकि संसार को फूलने–फलने का अवसर मिले।' इस प्रकार, स्थिरता का, बल्कि शोभनीय आचरण का भी मतलब था कि आदमी जीवन में अपने लिए निर्धारित सही स्थान पर रहे। अन्यत्र अबुल फज़ल कहता है कि अकबर ईरान के शाह तहमास्प के इस कथन को अनुमोदपूर्वक उद्धत करता था कि 'जब कोई दास विद्यार्जन करने लगता है तब वह अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करके ही ऐसा करता है।'

श्रेणी–विन्यास में अपने प्रबल विश्वास के बावजूद, **अबुल फज़ल** को प्रतिभा–संपन्न लोगों के, चाहे उनकी सामाजिक पष्ठभूमि कुछ भी हो, बादशाह की सेवा में नियोजित किए जाने की आवश्यकता का बहुत ध्यान था। उदाहरण के लिए वह कहता है, अकबर अपने युग की भावना से अनुप्रेरित हैं, क्योंकि वे 'प्रतिभा का महत्त्व समझते है, "सेना के अलग–अलग पदों पर नियुक्त करके विभिन्न वर्गों के लोगों को सम्मानित करते हैं और उन्हें साधारण सिपाही की स्थिति से ऊंचे अमीर के दर्जे तक प्रोन्नत करते हैं।' जब शाही साल 42/1597-98 में शाहज़ादा दानियाल को इलाहाबाद भेजा जा रहा था, उस समय उसके समक्ष अकबर ने इन विचारों को दोहराया था, 'किसी व्यक्ति की जाति और जन्म की उच्चता का निर्णय उसके पूर्वजों की अच्छाई से या उसके वंश की महानता से नहीं बल्कि उसके व्यक्तित्व से करना।'

अबुल फज़ल की बुनियादी अवधारणा उदार निरंकुशता की थी और इस निरंकुश सत्ता का धारक उच्च प्रयत्नों में संलग्न, उच्चतम नैनिक तथा आध्यात्मिक गुणों से संपन्न एवं ईश्वर द्वारा आदिष्ट शासक था, जो स्वभावतः अपने वैधीकरण के लिए धार्मिक नेताओं के किसी वर्ग पर निर्भर नहीं था। यद्यपि अबुल फज़ल ने राज्य तथा प्रभुसत्ता की इस अवधारणा को प्राचीन भारतीय परंपराओं को ध्यान में रखकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया तथापि इस बात में संदेह की कोई गुंजाइश नहीं है कि जिस प्रकार के बहु–धर्मी धर्म–निरपेक्ष राज्य की उसने कल्पना की यह एक ऐसा आदर्श था जो उस काल में एशिया या यूरोप में अभिकल्पित या वस्तुतः उपस्थिति किसी भी राज्य से बहुत आगे की चीज था। यह राज्य विभिन्न नस्ली तथा धार्मिक समूहों से लिए गए लोगों से बने सामासिक शासक वर्ग पर आधारित था। यह शासक वग श्रेणी विन्यस्त होते हुए काफी खुला हुआ था। जनसाधारण के साथ इसके व्यवहार में दया और करूणा थी एवं यह जन्म, धर्म अथवा दर्जे का कोई ख्याल किए बिना सबके लिए समान न्याय की अवधारणा पर आधारित था। ध्यान देने की बात है कि इस काल की राज्य–व्यवस्था का वर्णन करने के लिए अबुल फज़ल ने कहीं भी दार–उल–इस्लाम या दार–उल–हरब शब्द का प्रयोग नहीं किया है, क्योंकि ऐसा भेद अब निरर्थक हो चुका था, और जजिया की समाप्ति के लिए उसने जो कारण

बताए हैं उनमे से एक यह भी था। अबुल फज़ल को विश्वास था या वह दूसरों को ऐसा विश्वास दिलाना चाहता था कि अकबर की देश–विजय व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा पर आधारित नहीं थी बल्कि वह न्याय तथा सहिष्णुता पर आधारित एक अखिल भारतीय राज्य–व्यवस्था, या दूसरे शब्दों में, एक ऐसे राज्य की या शान्ति प्रदेश की स्थापना की बहत्तर योजना का एक अंग थी, जिसे दार–उल–सुलह कहा जा सके।

बादशाह

बादशाह शासन का केन्द्र था। इसलिए सरकारी कामकाज के प्रति उसका रवैया एक दस्तूर कायम करने का था। अमीर लोग इस दस्तूर का अनुकरण करते थे। अकबर ने राजकाज के लिए हर रोज़ तीन बार उपस्थित होने का नियम बना लिया था। पहली उपस्थिति सुबह सूर्योदय के बाद होती थी, जिसके बाद आम दरबार लगता था। प्रातः–उपस्थिति, जिसे झरोखा दर्शन कहते थे, अकबर की नई सूझ थी, जिसका उद्देश्य बादशाह और रिआया के बीच व्यक्तिगत संबंध स्थापित करना था। इस अवसर पर लोग बिना किसी बाधा के अपनी अर्जियां पेश कर सकते थे और अपनी शिकायतें सामने रख सकते थे। फैसला मौके पर ही कर दिया जा सकता था, या जैसा कि शाह जहां के काल मे किया जाता था, न्याय विभाग के कारकुन मामलों को दर्ज कर लेते थे और बाद में आम दरबार में या खास दरबार में उन्हें बादशाह के सामने पेश कर दिया जाता था। झरोखा दर्शन का उपयोग कभी–कभी जानवरों की लड़ाई देखने या अमीरों के दलों की सलामी लेने के लिए भी किया जाता था। कालांतर में जब अकबर की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई तब कुछ लोगों ने बादशाह का दर्शन किए बिना अन्न–जल ग्रहण न करने की नियम बना लिया। राजपद में देवत्व के आधान की पुरानी भारतीय परंपरा का यह व्यावहारिक प्रदर्शन था।

झरोखा दर्शन के बाद अकबर सार्वजनिक मुलाकाती कक्ष या दीवान–ए–खास–ओ–आम में जा बैठता था, जहां छोटे–बड़े सभी को व्यक्तिगत, रूप से अर्जियां देने और अपने मामले पेश करने की छूट थी। बदायूनी के अनुसार, 'भारी भीड़ इकट्ठी हो जाती थी और काफी रेल–पेल मच जाती थी।' दरबार के बाहर नियुक्त किए जाने वाले, या किसी लड़ाई से या बाहर की नियुक्तियों से लौटने वाले अधिकारी वहां आकर बादशाह का अभिवादन करते थे और प्रांतों से आने वाले समाचारों (वाक़ियों) को पढ़ कर उसे सुनाया जाता था। राजधानी या शिविर में उपस्थिति सभी अमीरों से इस अवसर पर हाजिरी बजाना अपेक्षित था। अकबर प्रतिदिन डेढ़ पहर या करीब साढ़े चार घंटे दीवान–ए–खास–ओ–आम में बिताता था।

दूसरा दर्शन दोपहरबाद होता था। इस समय अकबर शाही घोड़ों, हाथियों और भारवाही जानवरों का निरीक्षण करता था। इससे भी ज्यादा अहम काम विभिन्न कारखानों का दौरा करना था। कई अन्य छोटे–मोटे काम भी इसी समय किए जाते थे। जेस्विट पादरी मानसरेट, जिसे अकबर ने गोआ से बुलवाया था, बताता है कि बादशाह ने राजमहल के निकट एक कारखाना बनवाया था, जहां अधिक बारीक और प्रतिष्ठित कला–कौशलों का काम किया जाता था जैसे – चित्रकारी, स्वर्णकारी, दीवार–दरी और कालीन बनाना। यही नहीं, वहां हथियार भी बनाए जाते थे। मानसरेट कहता है, 'यहां वह अक्सर आता है और कारीगरों को काम करते देखकर अपनी दिमागी थकान मिटाता है।' इन दो दर्शनों के बीच अकबर खाना खाने और आराम करने के लिए थोड़ी देर के लिए शाही हरम में जाता था। इस दौरान वह हरम की औरतों की दरख्वास्तें भी सुनता था और उनका निबटारा करता था।

राज्य का गोपनीय काम–काज शाम को उस इमारत में निबटाया जाता था जिसे गुशलखाना (स्नान–कक्ष) कहते थे। इसका यह नाम इसलिए पड़ा कि दीवना–ए–आम और जनानखाने के बीच की एक इमारत में अकबर स्नान किया करता था, जिसके बाद कुछ विश्वस्त व्यक्तियों को मिलने के लिए वहीं बुला लेता था। बाद में दीवान, बख्शी और कुछ अन्य सरदारों को भी इस इमारत में प्रवेश मिलने लगा। शाहजहां ने इसका नाम दौलतखाना–ए–खास रखा, लेकिन गुशलखाना नाम चलता रहा। यहां तक कि गुशलखाने के दारोगा का पद काफी प्रभावशाली बन गया, क्योंकि इस पद पर आसीन व्यक्ति वहां प्रवेश के सिलसिले का नियमन करने और यह जानने की स्थिति में रहता था कि कौन वहां आया और कौन वहां से गया।

दीवान–ए–खास का इस्तेमाल 'विद्वानों, सयानों और सत्य–शोधाकों' की गोष्ठी के लिए भी किया जाता था। ये लोग वहां विभिन्न विषयों को चर्चा किया करते थे (आईन–ए–अकबरी)। अकबर आम तौर पर काफी रात गए, संगीत सुनने के बाद आराम करने जाता था।

इस प्रकार, देखा जा सकता है कि सम्राट् सभी वर्गों के लोगों से मिलने की कोशिश करता था और इस बात के लिए फिक्रमंद था कि उस तक सबकी पहुंच हो। अमीरों और आम लोगों दोनों से बात करते समय अकबर के स्वर की मधुरता और व्यवहार की शालीनता से जेस्विट लोग बहुत प्रभावित हुए। उनका कहना है, 'जो भी उससे (अकबर से) मिलना चाहते हैं उन सबके लिए अपने तक पहुंचना उसने इतना आसान बना दिया है कि उसके बारे में जितना कहा जाए, कम ही होगा।' सच तो यह है कि लोगों में घुलने–मिलने की उसकी इच्छा कभी–कभी उसे सारे दस्तूरों को तोड़ देने के लिए मजबूर कर देती थी। अबुल फज़ल का कहना है कि 1560-61 में बहराइच (आधुनिक पश्चिमी उत्तर प्रदेश) में लोकप्रिय संत सालार मसूर ग़ाज़ी के मजार पर उसे मनाने के लिए जाने के इराइे से आगरा के निकट बहुत–से लोग इकट्ठे हुए तो अपनी आदत के मुताबिक अकबर वेष बदल कर उनमें शामिल हो गया, ताकि वह 'अलग–अलग तरह के और अलग–अलग स्थितियों वाले लोगों के तौर–तरीकों को देख सके।' कुछ शोहदों ने उसे लगभग पहचान ही लिया था कि तभी उसने अपनी आंखों को कुछ इस तरह से ऊपर करके घुमाया कि उसकी शक्ल ही बदल गई। इससे पहले कभी भारत के किसी मुसलमान शासक ने इस तरह लोगों के बीच अकेले जाने के आत्मविश्वास का परिचय दिया हो, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता।

शासन के अमली रूप में अकबर का महत्त्वपूर्ण योगदान यह था कि उसने एक ऐसी दिनचर्या तय कर दी जिसका अनुसरण बहादुर शाह प्रथम तक उनके सभी उत्तराधिकारी करते रहे। उसने मुग़ल शासक और जनता के बीच का फासला कम किया और उनका आपस का संपर्क बढ़ाने का मार्ग प्रशस्त किया।

उमरा वर्ग

यूरोप की तरह भारत में उमरा वर्ग कोई विधिसम्मत परम्परागत वर्ग नहीं था। अमीर वर्ग से यहां ऐसे लोगों के वर्ग का बोध होता था जो न केवल उच्चतर स्तर पर शासन–कार्य से जुड़े हुए थे बल्कि जो संस्कृति और शालीनता का एक विशिष्ट स्तर भी प्रतिबिंबित करते थे। ज्यों–ज्यों मुगल साम्राज्य सुदढ़ होता गया और फैलता गया त्यों–त्यों उमरा वर्ग की संख्या और संरचना दोनों में बदलाव आता गया। उदाहरण के लिए, 1595 और 1656-57 के बीच ऊंचे मनसबदारों की संख्या तो न्यूनाधिक 25 पर ही टिकी रही लेकिन मंझोले (500/1000 से 2500 तक के) मनसबदारों की संख्या दोगुनी से भी अधिक हो गई–98 से बढ़कर 225। उमरा वर्ग की संरचना में भी परिवर्तन

हुआ। जो अमीर बाबर और हुमायूं के काल में अथवा अकबर के समय में भारत आए वे मुख्य रूप से मुगलों के वतन, यानी तूरान और खुरासान के थे, जिनके साथ कुछ ऊज़बेक और ताजिक भी थे। जैसाकि हम देख चुके हैं, मुगलों ने कभी भी संकीर्ण नस्लवादी नीति का अनुसरण नहीं किया। अकबर ने शासन–काल से शेखज़ादे या भारतीय मुसलमान तथा स्थानीय शासक वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले राजपूत भी उमरा वर्ग में शामिल किए जाने लगे। बाबर ने बहुत–से प्रमुख अफग़ानों को उमरा वर्ग में शामिल करने की कोशिश की, लेकिन अफग़ान अस्थिर और अविश्वसनीय साबित हुए। हुमायूं के अधीन और बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा में अकबर के अधीन भी अफग़ानों के साथ मुगलों के संघर्ष में आई तीव्रता के फलस्वरूप उमरा वर्ग में ऊंचे स्थानों से अफग़ानों का एक तरह से वर्जन हो गया। लेकिन जहांगीर के काल में यह सिलसिला उलटने लगा, और खान–ए–जहां लोदी जहांगीर का एक चहेता बन गया। औरंगजेब के शासन–काल में दकनी राज्यों के बहुत–से अफग़ान उमरा वर्ग में शामिल हुए।

ईरानी और मुगल कहलाने वाला तूरानी लोगों की प्रधानता कायम रही, और औरंगजेब के शासन–काल के अंतिम 29 सालों के दौरान अर्थात् 1679 और 1707 के बीच भी 1000 ज़ात और इससे ऊपर के दर्जों पर आसीन अमीरों में 40 प्रतिशत यही लोग थे। लेकिन इनमें से चौथाई से भी कम, अर्थात् 1000 ज़ात से ऊपर के अमीरों की कुल संख्या के 10 प्रतिशत से भी कम का जन्म भारत से बाहर हुआ था। इस प्रकार बर्नियर का यह कथन आलोचना की कसौटी पर बिल्कुल नहीं टिक पाता कि मुगल अमीर 'विदेशी थे, जो एक–दूसरे को लुभा कर दरबार में ले आए थे।' **बर्नियर** का यह कथन तो सच से और भी दूर है कि बाहर से आकर बसने वाले ये लोग 'आम तौर पर निम्न कुल के हैं, जिनमें से कुछ तो मूलतः गुलाम थे, और अधिकतर लोग शिक्षा से वंचित हैं।' मुगल ऊंचे घरानों में जन्मे लोगों को खास तरज़ीह देते थे, और अच्छी साहित्यिक शिक्षा भावी प्रगति के लिए आवश्यक समझी जाती थी। इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि ये लोग भारत में अपने–अपने परिवारों के साथ आए और इसी देश को अपना वतन बना लिया। उन्होंने तत्कालीन हिंदू मुगल दरबारी संस्कृति में भी अपने को ढाल लिया। इस प्रकार वे किसी सच्चे मायने मे विदेशी नहीं रहे। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि ईरानियों, तूरानियों और हिंदुस्तानियों के बीच सामाजिक भेद मिट गए। जो लोग अपने विदेशी मूल का निर्देश कर सकते थे वे अपने को कुछ विशिष्ट और श्रेष्ठ मानते थे, और उनमें शादी–विवाह अपने समूह तक ही सीमित रखने की प्रवत्ति होती थी।

यद्यपि अमीरों का स्थिति वंशानुगत नहीं थी, तथापि जिनके पूर्वज एक से अधिक पीढ़ियों से शाही सेवा में रहे थे। वे खानाज़ाद या घराने के उत्पन्न लोग कहलाते थे। वे शासक घराने से एक खास लगाव महसूस करते थे, और मनसब दिए जाने में विशेषधिकार का दावा करते थे। उदाहरण के लिए, 1679 और 1707 के बीच 1000 ज़ात से ऊपर के मनसबदारों में खानाज़ादों अर्थात् मनसबदारों के वंशजों का अनुपात लगभग आधा था, जिनमें उन मनसबदारों के दामाद शामिल नहीं थे। इतने पर भी पुराने मनसबदार संतुष्ट नहीं थे, क्योंकि उनके वंशजों की मनसबदारी की बहुत सारी मांगें बहुत दिनों से लटकी हुई थीं। अपनी इन मर्यादाओं के बावजूद मुगल उमरा वर्ग कोई वर्जनशील संस्था नहीं था, बल्कि भरती के मामले में उसके द्वार काफी हद तक प्रतिभाओं के लिए खुले हुए थे। लेकिन साथ ही मुगल उमरा वर्ग का स्वरूप खासा सोपानबद्ध था, जिसमें ऊपर के स्थान अभिजातों के लिए, जिनमें हिन्दू राजा भी शामिल थे, लगभग सुरक्षित रहते थे। उदाहरण के लिए, 1658-79 के दौर में 5000 और उससे ऊपर के दर्जों पर आसीन मनसबदारों

में ईरानियों और तूरानियों का अुनपात 60 प्रतिशत से अधिक था, और इसके अलावा प्रमुख राजपूत राजाओं का अनुपात 11 प्रतिशत था। इसके बावजूद, साधारण पष्ठभूमिवाले लोगों के भी उच्चतम पदों पर पहुंचने की संभावना बनी रहती थी। अकबर के अधीन राय पतर दास और शाहजहां तथा औरंगजेब के अधीन राय रघुनाथ इसके उदाहरण थे।

मुगल उमरा वर्ग के शीर्षस्थ हिस्से की गुरुता का एक और भी पहलू है। उदाहरण के लिए, हिसाब लगाया गया है कि शाहजहां के शासन–काल में ऊपरी अभिजन समूह के 73 सदस्यों को 33,091 करोड़ दाम, अर्थात् साम्राज्य की कुल कूती गई आय का 37.6 प्रतिशत प्राप्त होता था। उनके व्यक्तिगत वेतन उन्हें मंझोले क्षेत्रफल के स्वशासी राजाओं की समकक्ष स्थिति में पहुंचा देते थे। सभी विवरणों के अनुसर, बड़े–बड़े अमीरों की जीवन–शैली तड़क–भड़क से भरी हुई थी। उनके पास बड़ी–बड़ी बहु–मंजिली इमारतें थीं, जिनमें बगीचे और अजस्र जल–प्रवाह की व्यवस्था होती थी, विशाल हरम होता था और भारी संख्या में नौकर–चाकर होते थे। दकन में एक अमीर के रहने लायक एक मकान की लागत 1,50,000 रुपये आती थी। मुलायम, भारी गलीचे, कीमती पर्दे और जड़ाऊ उपस्कर, जिसमें पलंग, दर्पण, कुर्सियां और मेजें शामिल होती थीं, आवश्यक समझे जाते थे। छत में भरपूर जड़ाई होती थी और फर्श तथा दीवारों पर सुन्दर प्लास्टर। खाने–पीने पर काफी पैसा खर्च किया जाता था। स्रोतों से मालूम होता है कि अबुल फज़ल के लिए प्रतिदिन सौ व्यंजन बनाए जाते थे। फलों और आयात की गई शराब पर भरपूर पैस खर्च किया जाता था। बर्फ विलासिता की वस्तु थी, लेकिन उसका इस्तेमाल साल भर किया जाता था। चीनी बरतनों के अलावा, जो अपने–आप में बहुत मंहगे होते थे, सोने और चांदी के बर्तन भी इस्तेमाल किए जाते थे।

एक और बड़े खर्चे की मद अस्तबल थे। प्रत्येक अमीर को बड़ी संख्या में भारवाही पशु–हाथी, ऊंट, खच्चर और घोड़े–और साथ ही गाड़ियां, पालकियां आदि परिवहन के लिए रखनी पड़ती थीं। तंबू भी बहुत खर्चीले होते थे।

अपने शरीर के विभिन्न अंगों को सजाने के लिए स्त्री–पुरुष दोनों आभूषणों के उपयोग के आदी थे। जहांगीर के काल से पुरुष मोती पहनने के लिए अपने कान छिदवाने लगे। आम तौर पर सादे या रंगीन सूती कपड़े इस्तेमाल किए जाते थे, जो बहुत महंगे होते थे। इसके अलावा, सादे या धारीदार रेशमी कपड़ों, किमखाबों और कश्मीर में बने कीमती शालों का उपयोग किया जाता था।

प्रमुख अमीरों के लिए कलाओं को प्रश्रय देना भी आवश्यक समझा जाता था। उदाहरण के लिए, कवियों, संगीतिज्ञों, चित्रकारों आदि को कभी–कभी अति व्ययसाध्य पुरस्कार दिए जाते थे। बैरम खां के बेटे अब्दुर्रहीम खान–ए–खाना उसकी प्रशस्ति में छंद लिखने वाले प्रत्येक कवि को गधा–भर रुपये देने के लिए विख्यात था। अपने अनुचरों को इनामों–इकराम देने और धर्म–कर्म में लगे लोगों को जमीन और दूसरे दान देने में अमीरों की दरियादिली के भी उल्लेख मिलते हैं।

इस प्रकार, जैसा कि **मौरलैंड** कहते हैं, अमीरों की जीवन–शैली की मुख्य विशेषता 'संचय नहीं बल्कि व्यय' था। यह सारी दुनिया में भूस्वामी अभिजन वर्ग की आम विशेषता थी। लेकिन बुद्धिमान अमीर पैसा बचा भी सकते थे। समकालीन विवरणों से हमें ऐसे कई अमीरों की जानकारी मिलती हैं जो अपनी मत्यु होने पर अपने पीछे काफी संपित्त छोड़ गए। उदाहरण के लिए, जब 1657 में अली मर्दान खां की मत्यु हुई तो शाहजहां ने उसकी जो संपत्ति अपने कब्जे की वह नकद

और सरो–सामान मिलाकर करोड़ रुपये मूल्य की थी। बंगाल का सूबेदार आज़म खां कोका (4000/4000) अपने पीछे 22 लाख रुपये और 1,12,000 मोहरें छोड़ गया। गुजरात का सूबेदार मुहम्मद अमील खां, जिसकी मत्यु 1682 में हुई, अपने पीछे सत्तर लाख रुपये और एक लाख पचहत्तर हजार अशर्फियां, काफी बड़ी संख्या में पशु और सभी प्रकार के चीनी बरतनों के दस बड़े संदूक छोड़ गया, जिस सब को औरंगजेब ने राजकीय कब्जे में ले लिया। मत व्यक्ति की संपत्ति को राज्यगत करने का बुनियादी मकसद यह था कि अधिकांश अमीरों द्वारा राज्य से अग्रिम ली गई राशियों के बकाए की वसूली की जा सके। यह वसूली करने के बाद बाकी संपत्ति को बादशाह संबंधित अमीर के उत्तराधिकारियों की योग्यता की अपनी समझ के अनुसार उनके बीच बांट देता था। इस मामले में शरीयत के कानून की अवहेलना की गई, क्योंकि मुगल बादशाह अपने अमीरों की सारी संपत्ति का स्वामी होने का दावा करते थे। 1666 में औरंगजेब ने इस नियम में संशोधन कर दिया, जिसके बाद केवल उन्हीं अमीरों की संपत्ति राज्यगत की जाती थी जिन पर राज्य का कुछ बकाया था। लेकिन बादशाह ने अमीरों द्वारा छोड़ी गई संपत्ति को अपनी पसंद के मुताबिक वितरित करने का अधिकार अपने हाथों में सुरक्षित रखा।

उमरा वर्ग के दो पहलुओं की ओर ध्यान देना जरूरी है। ज्यों–ज्यों साम्राज्य सुदढ़ पाए पर स्थित होता गया, अमीरों पर उनके वेतनों और तरक्कियों, कार्य–संचालन, इनामों, बल्कि तौर–तरीकों के भी मामलों में, और भी अधिक नियम और विनियम लागू किए जाने लगे। ये नियम–विनियम दस्तूर–उल–अमल में संहिताबद्ध कर दिए गए। आम तौर पर मनसबदार अपना सेवा–जीवन छोटे मनसब से आरम्भ करता था और इन नियमों–विनियमों (जाब्ते) के अनुसार तरक्की पाता रहता था, हालांकि स्वयं बादशाह जाब्ते को चाहे जब नज़र अंदाज़ कर सकता था। इस प्रकार उमरा वर्ग की कार्य–शैली में दफ्तरशाही का एक तत्व दाखिल कर दिया गया। ग्राम स्तर से लेकर ऊपर तक जिस सावधानी से कागज–पत्र रखे जाते थे उससे इस प्रवत्ति को और भी बल मिला।

दूसरे, मुगल अमीर वाणिज्य–व्यापार को त्याज्य नहीं मानते थे। यह बात बादशाह और शाही परिवार के सदस्यों पर भी लागू होती थी। कुछ अमीर व्यापार करके और अपना धन व्यापारियों के यहां निविष्ट करके अपनी आय की अनुपूर्ति करते थे। **अबुल फज़ल** ने अमीरों को सलाह दी कि वे 'व्यापारिक प्रवत्तियों और लाभकारी उद्यमों में थोड़ा–बहुत भाग लें, अपने पैसों का कुछ हिस्सा बचाकर रखें और दूसरों के व्यापार में उसे लगाएं।' ब्याज लेने पर लगे इस्लामी प्रतिबंध की उपेक्षा करते हुए, **अबुल फज़ल** सुझाव देता है कि 'कुछ धन ऋण लेने वालों को दिया जा सकता है।' अंत में वह कहता है, 'ऐसे व्यक्ति को व्यापारिक प्रवत्ति में खुले मन से लगना चाहिए और अपने हृदय में अपराध–बोध नहीं रखना चाहिए।'

मुगल अमीरों की व्यापारिक प्रवत्तियों के परिमाण का अंदाजा लगाना कठिन है। बताया गया है कि सत्रहवीं सदी में शाही परिवार के सदस्य, जिनमें शासक, शाहज़ादे, शाहज़ादियां, हरम की स्त्रियां सब शामिल थे, व्यापारिक उद्यमों में भाग लेते थे। उदाहरण के लिए, जहांगीर, नूरजहां, शाहज़ादा खुर्रम और राजमाता के पास अपने–अपने जहाज थे, जो सूरत और लाल सागर के बंदरगाहों के बीच चलते थे। यह सिलसिला शाहजहां के अधीन, बल्कि औरंगजेब के भी काल में चलता रहा।

बहुत–से अमीर अपने नाम से या अन्य सौदागरों की साझीदारी में व्यापारी करते थे। मसलन, मीर जुमला के पास जहाजों का अपना बेड़ा था, जो बर्मा, मकासर, मालदीव, ईरान, अरब आदि

जाता था। आसफ खां और सफी खां जैसे अन्य प्रमुख अमीरों के पास भी जहाज थे। सूरत के अंग्रेज प्रबंधक (फ़ैक्टर) ने 1614 में लिखा, 'छोटे–बड़े सभी व्यापारी हैं।' कुछ अमीर लाभ के लिए अपने सरकारी ओहदे का दुरुपयोग करने की कोशिश भी करते थे। उदाहरण के लिए, लाहौर का सूबेदार वज़ीर खां हर खरीदी और बेची जाने वाली चीज़ पर कमीशन पाता था। बंगाल के सूबेदार की हैसियत से मीर जुमला और बाद में शाइस्ता खां ने सभी महत्त्वपूर्ण माल के व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करने का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिए, शाइस्ता खां ने समय–समय पर सोड़े, मधुमक्खी के छत्ते से बनने वाले मोम और यहां तक कि चारे पर भी इजारेदारी कायम कर ली। शाहज़ादा अज़ीमुश्शान ने सौदा–ए–खास के नाम पर व्यापारियों को अपने द्वारा निर्धारित मूल्यों पर माल खरीदने के लिए मज़बूर किया, लेकिन औरंगजेब से कड़ी फटकार मिलने के बाद उसमें उसे संशोधन करना पड़ा। लेकिन औरंगजेब के आला, क़ाजी अब्दुल वहाब तक का व्यापारिक उद्यम चलता था, जिसे उसने बादशाह से छिपाने की कोशिश की।

मालूम होता है, मुगल शासन द्वारा स्थापित शांति के बाद जब वाणिज्य–व्यापार का विस्तार हुआ और विदेशी कंपनियों के योगदान से विदेश व्यापार की अभिवद्धि हुई तो मुगल अमीरों, शाही परिवार के सदस्यों और यहां तक कि न्यायिक और धार्मिक मामलों के अधिकारियों की भी रुचि व्यापार में बढ़ती गई। एक आधुनिक लेखक **तपन रायचौधरी** वाणिज्य–व्यापार में इन लोगों की शिरकत को 'संदिग्ध महत्त्व' की बात मानते हैं। यद्यपि अमीरों द्वारा किया जाने वाला व्यापार देश के कुल व्यापार का एक बहुत छोटा अंश ही था तथापि उसका मतलब कृषि से जैसे–तैसे झटक लिए गए संसाधनों के एक हिस्से को आंतरिक और विदेश व्यापार में लगाना अवश्य था। अमीर लोग कुशल रीति से उत्पादित माल और उनसे सजित व्यापार को भी संरक्षण देते थे। टैवर्नियर कहता है, 'जहाज पकड़ने के लिए सूरत आने पर आपको खूब पैसा मिलता है। कारण, भारत के अमीरों का यह मुख्य व्यापार है कि हरमूज़, बसरा और मोचा, बल्कि बैंटम, अचिन और फिलीपिंस को भी जाने वाले जहाज़ों पर वे सट्टे के लिए पैसा रख देते हैं।' उदाहरण के लिए, मीर जुमला भी अंग्रेजों को ऋण देता था।

अमीरों की धन–लोलुपता से काफी भ्रष्टाचार फैला। भेंट–उपहारों के आदान–प्रदान के बिना कोई कार्रवाई नहीं की जाती थी। दरबार में जिन अमीरों की शहंशाह तक पहुंच थी वे अपने प्रभाव का दुरूपयोग करके सबसे ऊंचा दाम देने वालों का काम करवा देते थे। उदाहरण के लिए, औरंगजेब के मीरमुंशी काबिल खा ने अपने ढाई साल के सेवा–काल में 12 लाख नकद और मूल्यवान रत्नादि जोड़ लिए। इसीलिए मुगल अमीर और प्रशासन से जुड़े मुंशी–मुहर्रिर रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार के लिए बदनाम हो गए थे। लेकिन अमीर लोग जहां बस जाते थे वहां मस्जिदें, धर्मशालाएं, सराय, कटरे (छाजनयुक्त बाज़ार), खानक़ाह आदि भी बनवाते थे और तालाब खुदवाते थे। वे बगीचे बनवाने के लिए जमीनें भी खरीदते थे। ये सब लाभ कमाने के लिए ही नहीं होते थे, बल्कि पुण्य–कार्य माने जाते थे। उदाहरण के लिए, कभी–कभी सरायों, धर्मशालाओं आदि के खर्च कटरों और बगीचों से होने वाली आमदनी से चलाए जाते थे।

अमीरों की धन–लोलुपता ने किसानों के साथ उनके व्यवहार में उन्हें शोषक बना दिया। शाहजहां के शासन–काल के आरंभिक वर्षों में मुगल अमीरों की जीवनियां लिखने वाले लेखक **शेख फरीद भक्खरी** के अनुसार, जहांगीर का मीर बख्शी और प्रियपात्र फरीद बुखारी अपनी जागीर के आमिलों से 50 प्रतिशत और राजस्व की आशा रखता था, और अगर इस कारण से किसान उसकी जागीर छोड़कर चले जाते थे तो वह उस जागीर का त्याग करके कहीं और जागीर ले लेता था। यह

बात कितनी आम थी, यह कहना मुश्किल है। शाही नीति में कृषि के विस्तार और सुधार पर बहुत जोर होता था, और जागीरदारों के शोषण पर अंकुश रखने के लिए एक तंत्र भी था। सरकारी नीति और व्यक्तिगत दष्टिकोणों में बहुत संगति नहीं होती थी।

फ्रांसीसी यात्री **बर्नियर** बताता है कि लोभी अमीरों की मांगों और 'इतने निदंनीय और घोर अत्याचार से त्रस्त' किसान किस प्रकार हताश हो जाते थे और उन्हें भागकर पड़ोसी राजाओं के राज्यों में शरण लेनी पड़ती थी। बर्नियर इसका कारण अमीरों के पास निजी भूसंपत्ति का न होना, या जागीरों की हस्तांतरणीयता मानता है। उसका कहना है कि जागीरों की हस्तांतरणीयता के कारण 'तीमारदारों या जागीरदारों की भूमि में सुधार करने में कोई रुचि नहीं होती थी। हमें कुछ ऐसे अमीरों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने गांव बसाए। लेकिन मालूम होता है, न तो फ्रांसीसी वंशानुगत भूस्वामी भद्रलोक, जिनकी हिमायत **बर्नियर** जोर–शोर से करता है, और न वंशानुगत राजपूत सरदार की कृषि के सुधार में कोई खास दिलचस्पी लेते थे। जागीरदारी प्रथा कृषि के विस्तार और सुधार में बाधक थी, बर्नियर के इस कथन की हमें उपलब्ध साक्ष्यों से पुष्टि नहीं होती।

शासक वर्ग का संगठन

मुगल शासकीय वर्ग दो महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाओं मनसब और जागीर के ढांचे के अंतर्गत संगठित था, जिसने लगभग दो सौ सालों तक मुगल साम्राज्य को संभाले रखा। मनसब व्यवस्था प्रत्यक्ष आदेश के सिद्धांत पर आधारित अर्थात् सभी मनसबदार, चाहे उनका ओहदा कुछ भी हो, सीधे मुगल सम्राट के अधीन थे। तकनीकी रूप में मनसब व्यवस्था में मनसब का तात्पर्य पद या ओहदा था। मुगल के अधीन मनसब का कार्यरूप तिहरा था :

मुगल के अधीन मनसब का कार्यरूप तिहरा था :

i) इससे इसके प्राप्तकर्ता (मनसबदार) का पदानुक्रम में स्थान तय होता था,

ii) इसके आधार पर मनसबदार का वेतन निश्चित किया जाता था, और

iii) इसके अंतर्गत मनसबदार को एक निश्चित संख्या में घोड़ा और सेना का रख–रखाव करना होता था। प्रत्येक पदाधिकारी को दोहरा ओहदा जात और सवार प्रदान किया जाता था। जात एक व्यक्तिगत ओहदा होता था जिसके आधार पर मनसबदार का पदानुक्रम तय होता था और इससे उसका व्यक्तिगत वेतन भी निर्धारित होता था। सवार एक सैनिक ओहदा होता था और जिससे मनसबदार द्वारा रखी जाने वाली सेवा की संख्या तय होती थी और इसके आधार पर सेना के रख–रखाव के लिए धन निर्धारित किया जाता था।

मुगल मनसबदारों को उनके जात और सवार पद के आधार पर नगद धन या जागीर के रूप में भुगतान किया जाता था।

मनसबदारों की नियुक्ति में राष्ट्रीयता की कोई बाधा नहीं थी। इस पद पर नियुक्ति के लिए खानजादों (पहले से कार्य कर रहे मनसबदारों के पुत्र और वंशज) का पहला दावा होता था। ईरान और मध्य एशिया से आये लोगों की भी इस पद पर नियुक्ति की जाती थी। अनुशंसा के आधार पर भी नियुक्तियाँ होती थी। दुश्मन के खेमे को छोड़कर आये सेनानायकों की भी इस पद पर नियुक्ति की जाती थी।

केन्द्रीय मंत्रियों, राजकीय परिवार के राजकुमारों, प्रांतीय राज्यपालों और महत्त्वपूर्ण सेनानायकों की अनुशंसा पर भी नियुक्ति और पदोन्नति होती थी।

शासक वर्ग के बीच राजस्व स्त्रोतों का बंटवारा

ए॰ जान कैसर और **शिरीन मूसवी** ने दिखाया है कि साम्राज्य के कुल राजस्व स्त्रोत का 80% 1571 मनसब्दारों द्वारा प्राप्त किया जाता था। उच्चस्थ 12 मनसबदारों का साम्राज्य की कुल आय के 18.52% पर नियंत्रण था जबकि बचे हुए 1,149 मनसबदार केवल राजस्व का 30% नियंत्रित करते थे। इस प्रकार अकबर के शासनकाल में राजस्व स्त्रोत कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केंद्रित थे। यह केन्द्रीकरण उसके उत्तराधिकारियों के समय भी कायम रहा। **ए॰ जान कैसर** के अध्ययन के अनुसार शाहजहां के अधीन कार्यरत 445 मनसबदार राजस्व के 61.5% पर नियंत्रण रखते थे और इनमें से उच्चस्थ 25 मनसबदारों का 24.5% राजस्व स्त्रोतों पर नियंत्रण था।

अधिकांशतः कुलीन भू–राजस्व से अपनी आय ग्रहण करते थे। मुगल शासक वर्ग के कुछ महत्त्वपूर्ण लोगों (जिनकी संख्या काफी कम थी) के पास धन का अत्यधिक संकेद्रण हो गया था। सवार ओहदे के आधार पर उन्हें जो राशि दी जाती थी उसे वे अपनी सेना के रख–रखाव पर पूरी तरह खर्च नहीं करते थे। इससे कुलीनों के हाथों में धन का और भी सकेंद्रण हो गया।

शासक वर्ग की जीवन पद्धति

शासकीय वर्ग के पास अपार संपत्ति रहने के कारण वे ठाठ और रईसी का जीवन बिताते थे। उनकी कई पत्नियां होती थीं, उनके पास नौकरों, ऊंटों और घोड़ों का एक पूरा दल होता था उनके घरेलू मामलों और हरम के रख–रखाव पर काफी धन खर्च किया जाता था। इसके बावजूद उनके पास काफी धन बचा रहता था जिसे वे भव्य भावन और जन सुविधा के कार्य से संबंधित इमारतें बनवाने पर खर्च करते थे। यहां तक कुलीनों द्वारा करवाये गये निर्माण कार्यों की संक्षिप्त जानकारी देने जा रहे हैं।

शेख फरीद भक्करी की जीवनी संबंधित रचना जखीरत–उल ख्वानीन (1642) को पढ़ने से पता चलता है कि मुगल पदाधिकारी और कुलीन अपने निवास के लिए भव्य और आकर्षक भवन बनवाया करते थे। मुरतजा खां शेख फरीद बुखारी अकबर के समय का एक महान भवन निर्माता था। अहमदाबाद में उसने एक सराय, मस्जिद और अन्य इमारतें बनवाई थी। जहांगीर के शासनकाल में अब्दुर रहीम खान खाना, आज़म खां, ख्वाजा जहां काबुली आदि महान भवन निर्माता थे।

जहां तक जन सुविधाओं संबंधी निर्माण कार्य का संबंध है हमारे स्त्रोत बताते हैं कि पूरे साम्राज्य में कुलीनों ने अनेकों सरायें, हम्माम (जन स्नान सुविधा), कुएं, सीढ़ी नुमा कुंआ (बावली), जलाशय, बाजार, सड़कें और बागान निर्मित किए। अकबर के शासनकाल में मुरतजा खान शेख फरीद बुखारी ले लाहौर, आगरा आदि कई जगहों पर मस्जिदों, सरायों, खानकाहों और जलाशयों का निर्माण कराया। कुलीनों की पत्नियों और कर्मचारी भी जनसुविधा के निर्माण कार्य में बराबर की रुचि लेते थे। मुगल कुलीनों द्वारा निर्मित धार्मिक और शैक्षिक भवनों, जैसा मस्जिद, मदरसे, खानकाह, मकबरा और मंदिरों (देवराह) का अक्सर जिक्र मिलता है। कुछ हिंदु कुलीनों और पदाधिकारियों ने भी मस्जिदें बनवाई। मुगल काल के दौरान अपने लिए और अपने मत पूर्वजों के लिए मकबरा बनवाने का आम प्रचलन था। इन भवनों के चारों ओर सुन्दर बागान लगाये जाते थे। इन मकबरों के निर्माण में कभी–कभी कुलीन आपस में होड़ा लगा लेते थे। सुफियों के लिए उनके शिष्यों

ने भी मकबरे निर्मित किए। मुगल कुलीनों और पदाधिकारियों ने भारत से बाहर भी जल–कल्याण से संबंधित इमारते निर्मित कीं।

जब भी कोई नया शहर या नगर बसाया गया उसमें शहरी जीवन से संबद्ध सभी प्रकार की सुविधाएं उपलब्ध कराई गयीं ताकि वहां लोगों को बसाने के लिए प्रेरित किया जा सके। बागानों का निर्माण कुलीन सांस्कृतिक गतिविधियों का एक अंग था।

ए॰ जान कैसर ने मुगल आभिजात्य वर्ग के सामाजिक मूल्यों और निर्माण गतिविधि में एक प्रकार का संबंध दिखलाया है। उनका कहना है कि ये मूल्य स्थापित भारतीय परम्पराओं की ही निरंतरता थी। इतने व्यापक स्तर पर निर्माण कार्य क्यों किया गया? ऐसा लगता है कि यह एक सम्मान का सवाल था। इन सांस्कृतिक गतिविधियों के पीछे अपने हमवतनों के साथ प्रतियोगिता का भाव भी निहित था। लोग अनन्त काल तक अपने नाम को जीवित रखना चाहते थे। उनकी यह इच्छा उनकी निजी और सार्वजनिक गतिविधियों से स्पष्ट होती हैं। यह सम्भ्रान्त लोग धार्मिक समर्थन के लिए भी निर्माण कार्य में रुचि लेते थे, उदाहरणास्वरूप मस्जिदों का बड़ी संख्या में निर्माण। इसके अतिरिक्त आम लोगों की आशाओं से प्रेरित होकर भी ये निर्माण कार्य करवाते थे। आम जनता इन संपन्न लोगों से यह अपेक्षा रखती थी कि वे सांस्कृतिक पक्ष से जुड़ी जनसुविधाएं उपलब्ध कराएं। उदाहरणस्वरूप अस्पताल, मस्जिद, सराय आदि। जनता यह अपेक्षा रखती थी। कि साधन संपन्न और अमीर लोग अपने धन का एक भाग उनकी भलाई के लिए खर्च करें। मुगल कुलीनों ने अपनी यह भूमिका अच्छी तरह निभाई। इसके कारण कुछ मात्रा में ही सही समाज के भौतिक संसाधनों का बंटवारा समाज के लिए हुआ।

अपने उपभोग की आरामदायक वस्तुओं के निर्माण के लिये ये कुलीन अपने कारखाने चलाते थे। इनमें कालीन, सोने से जड़े रेशमी वस्त्र और उच्च कोटि के स्वर्णाभूषण आदि व्यक्तिगत प्रयोग के लिए बनाये जाते थे। इसके अतिरिक्ति ये विभिन्न देशों से काफी मात्रा में आरामदायक वस्तुओं का आयात भी करते थे। ब्रिटिश और डच स्रोतों से अनेकों विवरण यह दर्शाते हैं कि यह शासक वर्ग विलासिता की मूल्यवान वस्तुओं की मांग करता था और इसके लिए बड़ी राशि खर्च करता था।

शिकार मनोरंजन और खेलकूद संबंधी गतिविधियों के अतिरिक्त पर्व–त्योहारों, घरेलू शादियों आदि में अपार राशि खर्च की जाती थी।

इस प्रकार मुगल शासक वर्ग के विकास में आरंभ में इसमें तुरानी बाहुल्य वर्ग का वर्चस्व रहा, पर राजनीतिक जरूरतों के कारण ईरानी, भारतीय मुसलमान, राजपूत, मराठा और अफगानों की भी नियुक्ति इस वर्ग में हुई। इस प्रकार यह शासक वर्ग एक मिले–जुले बहुजातीय व बहुराष्ट्रीय वर्ग के रूप में विकसित हुआ।

प्रशासन में अमीर वर्ग की भूमिका

कोई भी समय लें, मुग़लकालीन अमीर वर्ग को दो समूहों में बाँटा जा सकता है पहला समूह "तैनात–ए–रकाब" कहलाता था जिसका अर्थ यह है कि वे दरबार में तैनात होते थे, दूसरा समूह "तैनात–ए–सूबाजात" कहलाता था जो सूबों या प्रांतों में तैनात होते थे। यह विभाजन, शुद्ध रूप से अधिकारियों की नियुक्ति के स्थान पर ही आधारित था, क्योंकि वे समय–समय पर एक समूह से दूसरे समूह में स्थानांतरित होते रहते थे। उस समय की स्थापित प्रथा यह थी कि जब कभी

किसी बड़े अमीर का तबादला एक स्थान से दूसरे स्थान पर किया जाता था तो वह अमीर अपनी नियुक्ति के नए स्थान पर जाने से पहले मुग़ल दरबार में हाजिर होता था। लेकिन अगर किसी का तबादला किसी अपराध की वजह से किया जाता था तो उसे दरबार में हाजिर नहीं होने दिया जाता था। जो अमीर दरबार में तैनात होते थे उन्हें एक तरह से आरक्षित बल (Reserve Force) माना जाता था ताकि सभी महत्त्वपूर्ण सैनिक अभियानों में उन्हें भेजा जा सके।

दरबार में उपस्थिति के दौरान अमीर को अनेक दरबारी शिष्टाचारों का पालन करना पड़ता था और अलग–अलग अवसरों पर उसे शहंशाह के भेंट या नज़राना देना पड़ता था, जिसे "पेशकश" कहते थे। इन विस्तत दरबारी शिष्टाचारों का वास्तविक उद्देश्य इतना भर था कि इनसे अमीरों पर शहंशाही प्रतिष्ठा और सत्ता की महत्ता का प्रभाव बना रहे। सभी मध्यकालीन बादशाहों की यही नीति रहती थी कि वे जहाँ तक बन पड़े, अपनी शानो–शौक़त और चमक–दमक पूरी गर्मजोशी से बनाए रखें ताकि अमीर वर्ग को सदा यह भान होता रहे कि वे खुद चाहे कितने ही महान और शक्तिशाली क्यों न हों, शहंशाह की तुलना में उनकी औक़ात बिन्दे भर नहीं है, और या भी कि उनकी सत्ता, अधिकार और महानता पूरी तौर पर शहंशाह की मन–मर्जी पर निर्भर है। इसी के साथ पादशाह अपने आवाम पर यह भी प्रभाव डालना चाहता था कि जनता इस बात को समझ ले और याद रखे कि बड़े–से–बड़ा अमीर शहंशाह का नौकर भर है और इसलिए रियाया की वफ़ादारी पर भी केवल उसी का अधिकार बनता है।

चूँकि मुग़लिया अमीर वर्ग मनसबदारी संगठन का अंग होता था, इसलिए उसे सैनिक, नागरिक (सिविल) और वित्तीय सभी प्रकार के सेवा कार्य करने पड़ते थे। इन कार्यों में न्यायिक कर्तव्यों को छोड़ कर अन्य सभी सार्वजनिक कार्य सम्मिलित थे। हर मनसबदार का अपने ओहदे के अनुसार न्यूनतम सैनिक दायित्व निर्धारित था, फिर भी आवश्यकता पड़ने पर उसे कोई अन्य अतिरिक्त कर्त्तव्य भी सौंपा जा सकता था। यद्यपि अमीर के मनसब और उसे मिले पद में कोई सीधा संबंध नहीं होता था, फिर भी दोनों के बीच एक मोटी संगति अवश्यक होती थी। इसका अर्थ यह हुआ कि बड़े मनसबदारों को प्रायः अधिक महत्त्वपूर्ण, पद ही मिलते थे।

सामाजिक और आर्थिक जीवन में अमीरों की भूमिका

प्रत्येक अमीर की अपनी "अर्ध–स्वायत्त सरकार होती" थी जिसमें उनकी सैनिक टुकड़ी, अफ़सर और ऊपला, घरेलू कर्मचारी, हरम, नौकर–चाकर और आश्रित वर्ग सम्मिलित थे। इस प्रकार की सभी सरकारें अपने–आप में स्वतंत्र इकाइयाँ होती थीं, क्योंकि शहंशाह के प्रति अमीर के सैनिक या अन्य प्रकार के दायित्वों की पूर्ति के बाद बची आय को वह अपन मन–मर्जी के, अनुसार खर्च करने के लिए स्वतंत्र था।

अपने निजी खर्चों के लिए अमीरों को एक बड़ी रक़म मिलती थी। एक पाँच हज़ारी मनसबदारी को तीस हज़ारी, तीन हज़ारी को सत्रह हज़ार और एक हज़ारी को आठ हज़ार रुपये तक हर माह तनख्वाह मिलती थी। **सतीशचंद्र** के अनुसार उस समय के रुपए का क्रय मूल्य सन् 1966 के क्रय–मूल्य से लगभग 60 गुना अधिक आँका गया है। इस तरह यद्यपि अमीर अपनी निजी तनख्वाह में से करीब आधी रक़म परिवहन के काम में आने वाले जानवरों के रख–रखाव और अपनी जागीर के प्रशासन पर खर्च कर देते थे, फिर भी जो रक़म बचती थी उससे वे पूरी तरह आडंबरपूर्ण और विलासिता की जिंदगी बसर करते थे। सच पूछें तो पक्का आडंबरपूर्ण जीवन जीने के लिए अमीर वर्ग के बीच मुग़ल बादशाहों की नक़ल उतारने की होड़ मची हुई

थी। उनके खर्चों की फेहरिस्त में एक अति महत्त्वपूर्ण मद शहंशाह को दी जाने वाली भेंटों से संबंधित थी। फिर भी यह बात याद रखने योग्य है कि दी जाने वाली भेंटों का मूल्य हर अमीर के स्तर के अनुसार निर्धारित था। बदले में अमीरों को भी बादशाह की ओर से उपहार मिलते रहते थे।

कुछ इतिहासकारों का मत है कि मुग़लकालीन अमीर वर्ग में बचत के प्रति तनिक भी रुचि नहीं थी। इसका कारण "राजगामिता कानून" (Law of Escheat) को मानते हैं क्योंकि इस कानून के अनुसार अमीरों की मत्यु के बाद उनकी सारी संपत्ति शाही खजाने में वापस आ जाती थी। जैसा कि हमने पहले कहा है, इन इतिहासकारों का मत विवादास्पर है अर्थात् उनक तर्क अकाट्य नहीं हैं। जो भी हो, धन जमा करने के बजाय उसे खर्च करना की मुग़लिया अमीर वर्ग की प्रमुख विशेषता थी। यद्यपि हमारी जानकारी में कुछ ऐसे अमीर अवश्य आए हैं जिन्होनें अपनी मत्यु के बाद अपार धन–दौलत (नकद और हीरे–जवाहरात दोनों रूपों में) पीछे छोड़ी थी, किंतु ज्यादातर अमीर तो अपनी फिजूलखर्ची की आदतों की वजह से अपने पीछे बड़े–बड़े कर्ज़े ही छोड़ जाते थे।

केवल कुछ अमीरों ने ही अपनी आय विभिन्न प्रकार के उद्यमों में लगाई। तत्कालीन यूरोपीय यात्रियों के वत्तांतों से ऐसा लगता है कि कुछ अमीरों से व्यापार और वाणिज्य के प्रति भी रुचि थी। जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में आसफ खाँ ने अपरिमित वाणिज्यिक रुचि प्रदर्शित की थी और वह अपने ही स्तर पर व्यापार से अपार संपत्ति अर्जित करने में सफल हुआ था। औरंगज़ेब के शासनकाल में शायस्ता खाँ और मीर जुमला जैसे प्रमुख अमीर बड़े पैमाने पर वाणिज्यिक उद्यमों में लिप्त रहें। शायस्ता खाँ की तो आंतरिक व्यापार में ही रुचि थी, पर मीर जुमला के पास जहाजों का एक बड़ा बेड़ा था जिससे उसने फारस, अरब और दक्षिण–पूर्व एशिया के देशों के साथ विस्तत व्यापारिक संबंध जोड़े।

एक ओर अमीरों ने मुगल बादशाहों की जीवन शैली का अनुसरण किया तो दूसरी और समाज के कुछ वर्गों ने भी, जहाँ तक बन पड़ा, वहाँ तक, अमीरों के रहन–सहन की नकल करनी चाही। इसका परिणाम यह हुआ कि ऐशों–आराम की हर प्रकार की वस्तुओं की तथा देश में बनी उच्च स्तर की कारीगरी की चीजों का मांग बढ़ गई। इनमें से कुछ चीजें तो बहुत कुछ अमीरों के कारखानों में ही बनती थी।

मुगलकाल के अमीर वर्ग ने देश के अतिरिक्त उत्पादन के एक बहुत बड़े अंश का उपयोग किया। किन्तु कुछ अमीरों ने अवश्य ही जनता की कल्याणकारी योजनाओं में व धर्मार्थ कार्यों में रुचि ली। कारीगरों, चित्रकारों, कवियों और विद्वानों को भी प्रोत्साहन दिया। इसी का परिणाम हुआ। कि मुगल काल में एक उत्कृष्ट सांस्कृतिक वातावरण बना और फला–फूला इसमें अमीरों का बहुत योगदान था।

जमींदार वर्ग

इतिहासकारों में जमींदारों के स्वरूप और स्थिति के बारे में और वे जमीन थे या केवल लगान इकट्ठा करने वाले लोग थे, इस संबंध में बहुत वाद–विवाद हुआ। अब यह मान्य है कि जमींदार शब्द में, जिसका प्रयोग चौदहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ और सत्रहवीं शताब्दी में आम हो गया, देश के विभिन्न भागों में तरह–तरह के अधिकार व विशेषधिकार शामिल थे। व्युत्पत्ति की दष्टि से जमींदार वह व्यक्ति था जो उस जमीन का मालिक होता था जिसमें वह खेती करता था।

लेकिन मुगलकालीन शब्दावली में इस शब्द का प्रयोग उसे व्यक्ति के लिए किया जाता था जो गाँव या कसबे की जमीन का मालिक होता था और साथ ही खेती भी करता था। **इरफान हबीब** के अनुसार इसलिए जमींदारी ऐसा अधिकार था जो किसानों से इतर और उनके ऊपर स्थित एक ग्रामीण वर्ग का होता था। मुगलकाल में शासक कभी–कभी इसका प्रयोग स्वशासी राजाओं और सरदारों के लिए भी करते थे, जिसका उद्देश्य उनकी मातहती की स्थिति पर ज़ोर देना होता था। और शाक्तिशाली स्वतंत्र और स्वायत्त सरदारों से लेकर गाँव के स्तर के छोटे–मोटे मध्यस्थों तक, विभिन्न प्रकार के पुश्तैनी हितों के अधिकारियों को निर्दिष्ट करने के लिए इसक प्रयोग होता था। मुगलों से पहले सरदारों को **राजा, राय, ठाकुर** आदि कई नामों से पुकारा जाता था जबकि छोटे मध्यस्थ लोग **चौधरी, खोत, मुकद्दम** आदि कहलाते थे। **नुसल हसन** का विचार है कि "विभिन्न प्रकार के भूमि सम्बन्धी हितों से जुड़े अधिकारियों के लिए एक ही सामान्य नाम के प्रयोग की मुगल परम्परा सरदारों को मध्यस्थों के स्तर तक गिरा देने की मुगल इच्छा की झलक देती है।"

मध्यकालीन भारत के राजनीतिक, आर्थिक व सांस्कृतिक जीवन में जमींदार वर्ग ने एक जीवंत भूमिका निभाई। मुगलकाल के दौरान इसका महत्त्व बढ़ा और समाज में उसकी स्थिति और जटिल हुई। किसानों से इकट्ठा किया हुआ अतिरिक्त कृषि उत्पादन बादशाह, उसके अमीरों व जमींदारों में बांट दिया जाता था। देश के कृषि उत्पादन, हस्तशिल्प तथा व्यापार संबंधी आर्थिक जीवन के क्षेत्र में जमींदारो के बीच पैदावार के ज्यादा बड़े हिस्से के लिए होने वाले निरन्तर संघर्ष के बावजूद आर्थिक शोषण की प्रक्रिया में दोनों साझीदार रहे।

मुगल साम्राज्य में जमींदारों को तीन मुख्य श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

1. स्वायत्त सरदार,
2. मध्यस्थ जमींदार,
3. प्राथमिक जमींदार।

ये श्रेणियाँ किसी भी प्रकार से एक दूसरे से अलग नहीं थी। स्वायत्त सरदारों द्वारा नियंत्रित क्षेत्र में स्वायत्त सरदार ही नहीं बल्कि मध्यस्थ व साथ ही प्राथमिक जमींदार भी होते थे। जमींदारों द्वार नियंत्रित क्षेत्र **खालिसा** या **जागीर** की भूमि से अलग नहीं थे। **इरफान हबीब** जमींदारों के विषय में अपने अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मुगल साम्राज्य में एक भी परगना ऐसा नहीं था जिसमें जमींदार न हों।

सरदार

सरदार अपने क्षेत्रों के पुश्तैनी स्वायत्त शासक थे और व्यवहारिक रूप से प्रभुसत्ता का उपभोग करते थे। सल्तनत की स्थापना के समय से ही सुल्तानों ने इन सरदारों से अपना अधिपत्य मनवाने का प्रयत्न किया और उन्हें नियमित रूप से कर देने और आवश्यकता पड़ने पर सल्तनत को सैनिक सहायता देने के लिए बाध्य किया। अकबर (1556-1605 ई॰) के गद्दी पर बैठने तक मुगल साम्राज्य के बड़े भाग में इस प्रकार के स्वायत्त सरदारों का प्रभाव स्थापित हो चुका था। अकबर और उसके वंशजों ने न केवल सरदारों से अपना आधिपत्य स्वीकार करवाने, कर वसूल करने और सैनिक सहायता प्राप्त करने की सुल्तानों की नीति को न केवल जारी रखा बल्कि सरदारों के साथ अपने व्यवहार में नए तत्वों को भी शामिल किया।

अकबर पहला बादशाह था जिसने साम्राज्य और सरदारों के बीच मजबूत संबंध बनाने की महत्ता को समझकर उनमें से बहुतों को प्रशासनिक ढांचे का हिस्सा बना लिया। उसके उत्तराधिकारियों

ने भी इस नीति का पालन किया। **अथर अली** बताते हैं कि औरंगजेब के शासन काल (1658-1707 ई॰) के उत्तरार्ध में सरदार शासक घरानों के 81 व्यक्ति एक हज़ारी या बड़े मनसबदार थे। यह संख्या उनकी कुल संख्या का 15 प्रतिशत थी। जब किसी सरदार को कोई ऊँचा मनसब मिलता था तो अपने सेनाओं के भरण–पोषण के लिए उसे एक बड़ी जागीर भी मिलती थी। जागीर से प्राप्त मालगुजारी सरदार के पैतक क्षेत्र की मालगुजारी से कहीं अधिक हुआ करती थीं। इस नीति से सरदारों और शाही सत्ता के बीच आपसी विरोध काफी हद तक सुलझा और उनके लिए शाही सत्ता को चुनौती देने की बजाय शाही ओहदे में तरक्की अधिक लाभदायक सिद्ध होने लगी। इन तात्कालिक लाभों के अतिरिक्त शाही पद सरदारों के लिए शक्ति का स्रोत था और उन्हें बड़ी सेनाएं रखकर अपनी स्थिति सुदढ़ करने की क्षमता प्रदान करता था।

मुगलों ने प्रभुता के सिद्धान्त पर बल दिया जिसका अर्थ था कि किसी सरदार को अपनी हैसियत के लिए अपने निहित अधिकारों की अपेक्षा बादशाह की कृपा दष्टि पर निर्भर होना होता था। केवल वही सरदार राजा के नाम से जाने जाते थे जिन्हें बादशाह यह उपाधि देता था। मुगलों ने मत राजा के उत्तराधिकारी को मान्यता देने के अधिकार का प्रयोग किया। जहांगीर ने (1605-27 ई॰) बीकानेर के राय रायसिंह के छोटे बेटे की नियुक्ति को अस्वीकार करके बड़े बेटे को मनोनीत कर इस अधिकार का विशेष रूप से प्रयोग किया। इसी प्रकार आमेर के राजा मानसिंह की मत्यु पर उसके बड़े बेटे महासिंह के दावे को रद्द करके उसके छोटे बेटे भावसिंह को 'मिर्जा राजा' की उपाधि के साथ आमेर का राज्य दिया गया। बादशाह द्वारा इस प्रकार किसी राज्य का राजा तय करने के इस अधिकार के प्रयोग से सरदारों पर केन्द्रीय सत्ता का नियंत्रण की मजबूत नहीं हुआ बल्कि उनमें बादशाह के प्रति निजी आभार की भावना भी पैदा हुई।

मुगल शासक इस बात पर जोर देते थे कि या तो सरदार स्वयं बादशाह के दरबार में उपस्थिति रहें या किसी अन्य जगह नियुक्ति होने की स्थिति में, उनका कोई निकट रिश्तेदार दरबार में उनकी प्रतिनिधित्व करें। इससे सरदारों पर साम्राज्य का नियंत्रन दढ़ करने में सहायता मिली।

यद्यपि सभी सुल्तान अपने अधीनस्थ सरदारों से, जब भी आवश्यकता होती सल्तनत के लिए सैनिक सहायता प्राप्त करने के अधिकार का दावा करते थे, पर केवल मुगल ही सरदारों की सैनिक सेवाओं का सुव्यवस्थित रूप से उपयोग करने में सफल हुए जो मनसबदार तक नहीं थे। मुगलों के लगभग हर बड़े अभियान में अधीन सरदारों की सेनाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। सरदारों के इस सैनिक सहयोग को कितना महत्त्व दिया जाता था। इसका अंदाजा **तुजके-जहांगीरी** से सकता जा कसता है। जहांगीर ने बंगाल का महत्त्व वहाँ से मिलने वाली मालगुजारी के बजाए वहां के सरदारों द्वारा पचास हजार सैनिक मुहैया करने की वचन बद्धता के कारण दर्शाया है।

मुगल बादशाहों ने कुछ बड़े सरदारों के अधीनस्थों से सीधा सम्बन्ध बनाने की नीति लागू की। इस प्रकार इन सरदारों की शक्ति सीमित हुई और एक नया सहयोगी वर्ग तैयार हुआ। कई बार बादशाह सरदारों के अधीनस्थों को सीधे ही मनसब प्रदान करता था जैसा कि जसवंत सिंह की मत्यु की पश्चात् मारवाड़ में हुआ।

मुगलों ने स्वायत्त सरदारों के पैतक राज्यों को **वतन जागीरों** के रूप में स्वीकार किया। यह एक महत्त्वपूर्ण बात थी क्योंकि इसका अर्थ हुआ कि सैद्धान्तिक रूप में सरदारों की स्थिति जागीरदार जैसी थी और इस प्रकार वे शाही मालगुजारी वे कानून के बंधे थे। लेकिन इन जागीरदारी अधिकारों

का प्रयोग वे अपने क्षेत्र में वंशक्रम के अनुसार करते थे। फलस्वरूप ये अधिकार अहस्तांतरणीय थे। शाही सत्ता ने सरदारों द्वारा दिए जाने वाले नज़राने को बदलकर उसे वास्तविक उत्पादन के आधार पर निर्धारित मालगुजारी का रूप देने का प्रयत्न किया, यद्यपि यह सिद्धान्त मुख्य रूप से उन्हीं सरदारों पर लागू किया जा सकता था जो मनसबदार भी थे। परन्तु यह कहना मुश्किल है कि अपने इस प्रयत्न में मुगल कहाँ तक सफल हुए। क्योंकि जैसा कि समकालीन रिकार्ड्स से पता चलता है, बहुत से सरदारों ने अनियमित नज़राने ही देना जारी रखा। केवल आंशिक रूप से ही इस नीति को लागू करने में सफलता मिल पाई। इसके बावजूद इसके सरदारों पर कानूनी रूप में और साथी ही अन्य तरीकों से साम्राज्य के नियंत्रण को मजबूत किया। इससे उनके आर्थिक स्रोतों पर शाही दबाव भी बढ़ा और बहुतों को मनसबदार के रूप में शाही सेवा में आने पर मजबूर होना पड़ा।

मुगल बादशाह स्वायत्त सरदारों को शाही कानूनों के अनुसार चलने पर मजबूर करने मे अपने पूर्ववर्ती शासकों की तुलना में अधिक सफल रहे, विशेष रूप से कानून और व्यवस्था के पालन और आवागमन की स्वतन्त्रता के सिलसिले में। बादशाह ने केवल सरदारों से विद्रोहियों, अपराधियों और उनके राज्य में प्रविष्ट शरणार्थियों के विरुद्ध सख्त कदम उठाने पर मजबूर कर देते थे वरन् अपने सरदारों के विरुद्ध शाही सत्ता के समक्ष प्रार्थना करने वालों को न्याय प्रदान करने का अधिकार भी रखते थे। जहाँ तक विभिन्न सरदारों पर अपना अधिकार स्थापित करने और देश को राजनीतिक तथा प्रशासनिक रूप से एक सूत्र में पिरोने में मुगल साम्राज्य ने सफलता प्राप्त की, वहाँ तक इसने भारतीय समाज के विकास में एक प्रगतिशील भूमिका निभाई।

इसमें कोई संदेह नहीं कि विभिन्न सरदारों को साम्राज्य के घेरे में लाने में अपने पूर्ववर्ती शासकों की अपेक्षा मुगल अधिक सफल रहे। एक प्रबल सैनिक अभियान के फलस्वरूप लगभग सारे देश में सरदारों को उनको अधिपत्य स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। वे सरदारों से बड़ी संख्या में निष्ठा, ऐच्छिक सहयोग तथा अपनी प्रशासनिक नीति के मोटे–मोटे पहलुओं के लिए सहमति पा सकने में सफल हुए। फिर भी कठोरता और मित्रता की यह मिली–जुली रीति सरदारों और शाही सत्ता के बीच अंतविरोधों को केवल एक हद तक ही सुलझा पाई। सब सरदारों को ऊँचे मनसब व बड़ी जागीरें नहीं दी जा सकती थी। फिर भी बहुत से दरबारियों को, जो स्वयं जमींदार नहीं थे। शाहीं सेवा में नियुक्त सरदारों द्वारा उपभोग की जाने वाली सुरक्षा से ईर्ष्या थी। उन्होंने बादशाह पर इस वर्ग को दिए जाने वाले मनसबों और जागीरों के अनुदान सीमित करने के लिए दबाव डाला। जागीरों पर दबाव बढ़ा तो बादशाह सरदारों की आकांक्षाओं को पूरा करने की स्थिति में नहीं रहा। ऐसी स्थिति में शाही सेवा में उच्च पदों पर नियुक्त बहुत से सरदार, साम्राज्य द्वारा प्राप्त जागीरों को जो उनकी पुश्तैनी सीमाओं से बाहर पड़ती थी, अपने पैतक राज्य में परिवर्तन करने का प्रयत्न करने लगे। सरदार साम्राज्य के समक्ष आने वाली कठिनाईयों का लाभ उठाने का अवसर नहीं चुकते थे। सत्रहवीं शताब्दी में औरंगजेब के शासनकाल में ऐसे ही हालात थे जब महाराष्ट्र, बुंदेलखण्ड, मेवाड़ और राजपूताना सबके सरदारों ने मुगल साम्राज्य के विरुद्ध हथियार उठा लिया। यह संघर्ष छोटे जमींदारों और कहीं–कहीं किसानों के भी समर्थन के बल पर जीवित रहा, विशेष रूप से जब किसान सरदार के ही कुल या जाति के हों। सरदारों के शाही सत्ता से व्यापक असंतोष ने मुगल साम्राज्य की सैनिक शक्ति को बहुत कमज़ोर कर दिया। दूसरी तरफ सरदारों की शक्ति को पूरी तरह दबाने के लिए साम्राज्य उन्हीं के सहयोग पर बहुत अधिक निर्भर थे।

बार–बार होने वाले सरदारों के विद्रोहों ने लंबे सैनिक अभियानों के लिए रास्ता बनाया और उनके क्षेत्रों के विस्तार को रोकने में शाही सत्ता की असमर्थता ने आर्थिक स्थिति को एकदम कमज़ोर कर डाला। परिणामस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक एक एकीकृत साम्राज्य के आर्थिक–प्रशासनिक लाभ विलुप्त होने प्रारम्भ हो गए।

मध्यस्थ जमींदार

इस श्रेणी के अर्न्तगत विभिन्न प्रकार के वे जमींदार आते थे जो प्राथमिक जमींदारों से मालगुजारी इकट्ठा करके शाही खजाने में, या जागीरदारों को या सरदारों को दे दिया करते थे, या कुछ स्थितियों में अपने ही पास रखते थे। इन सेवाओं के बदले इन्हें अनेक प्रकार के अनुलाभ मिलते थे जैसे कमीशन (हिस्सा), रियायतें, कर मुक्त भूमि (ननकार या बंध), उपकर आदि। साधारण तथा मालगुजारी में उनका हिस्सा 2.5 से 10 प्रतिशत के बीच होता था। अधिकांश जमींदारों को पैतक उत्तराधिकार प्राप्त थे यद्यपि कुछ जमींदार थोड़ें समय के अनुबंध पर भी इस पद पर काम करते थे। व्यवहारिक रूप में सारा देश ही किसी न किसी प्रकार के मध्यस्थ जमींदार के क्षेत्र में आता था। **चौधरी, देशुमुख,** देसाई, देशपांडे, मुकद्दम, कानूनगों और **इजारेदार** व जमींदारों का वह वर्ग जो किसी विशेष क्षेत्र की मालगुजारी वसूल करने के लिए राज्य से अनुबंध करता था और जो 17वीं शताब्दी के उतरार्ध में **तालुकेदार** के नाम से जाना जाने लगा मध्यस्थों के अन्तर्गत आते हैं।

यद्यपि इन मध्यस्थ जमींदारों के अधिकार वंशानुगत होते थे पर फिर भी राज्य ने इनके उत्तराधिकार में हस्तक्षेप करने का हक अपने पास रखा। राज्य द्वारा इनका तबादला भी किया जा सकता था और इन्हें पदच्युत भी किया जा सकता था। **इरफान हबीब** बताते हैं कि औरंगजेब ने एक आदेश निकाला कि परगने में दो से अधिक चौधरी नहीं हो सकते, हो तो उन्हें पदय्युत कर दिया जाए। कई बार विभिन्न कारणों जैसे कानून व व्यवस्था बनाए रखने या मालगुजारी के निर्धारण व वसूली की सुविधा के लिए बादशाह नियुक्त व्यक्तियों को जमींदारों के अधिकार प्रदान कर सकता था।

राज्य के निरीक्षण के लिए राजस्व के निर्धारण का विवरण तैयार करना, लगान वसूली में सहायता करना, खेती को प्रोत्साहन देना, शाही अफसरों को कानून और व्यवस्था बनाए रखने में सहायता देना और निश्चित सैनिक सहायता देना आदि कार्यों की उम्मीद मध्यस्थ जमींदारों से की जाती थी। फिर भी वे अपने अधिकार बढ़ाने और मालगुजारी के एक बड़े हिस्से को प्राप्त करन में हमेशा जुटे रहते थे। ज़ोरतलब जमींदारों के बहुत से उदाहरण मिलते है जो बलपूर्वक माँगे जाने पर ही मालगुजारी दिया करते थे। इसी प्रकार **इजारादार** या **तालुकेदार** के रूप में मालगुजारी इकट्ठा करने के लिए अनुबंधित मध्यस्थ निर्धारण का विस्तत ब्यौरा देने से बचने का प्रयत्न करते थे और केवल अनुबंध में तय राशि का भुगतान करते थे। जागीरों के प्रायः हस्तांतरण की मुगल प्रथा ने मालगुजारी वसूली के अनुबंध को बदलते रहने की प्रवत्ति को प्रोत्साहन दिया।

एक तो ये मध्यस्थ राज्य की कीमत पर अपने अधिकारों को मजबूत करने का प्रयास करते थे, उदाहरणार्थ, वे प्रायः अनुपजाऊ बेकार भूमि को बेचने का राज्य का अधिकार अपने हाथ में ले लेते थे। दूसरी ओर उन्होंने गाँव के लोगों का शोषण बढ़ा दिया और अधीनस्थ प्राथमिक जमींदारों की स्थिति गिराने का प्रयास किया। क्योंकि मध्यस्थों पर मालगुजारी का भुगतान करने की जिम्मेवारी

थी अतः कई बार किसानों से सीधे ही वे इसे इकट्ठा कर लिया करते थे। ऐसे में उनसे प्राथमिक जमींदार के लिए उसका प्रथागत मालिकाना छोड़ने की अपेक्षा की जाती थी। लेकिन ऐसी स्थिति में प्राथमिक जमींदार के अधिकार क्षेत्र में पैर रखने और स्वयं मालिक बनने का प्रलोभन जबरदस्त रहा होगा। साथ ही उनकी दष्टि पैतक राज्यधिकार प्राप्त करने पर लगी रही और जब अवसर आया, उन्होंने सरदार बनने का प्रयत्न किया। मुगल साम्राज्य के कमज़ोर होने और जागीरदारी व्यवस्था का संकट बढ़ने पर इन मध्यस्थों ने अपनी शक्ति बढ़ा ली और अपने कुल के अन्य मध्यस्थ जमींदारों के साथ मिलकर वे विद्रोह के लिए अक्सर उठ खड़े होने लगे या उन्होंने उन सरदारों के साथ हाथ मिला लिए जो शाही सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे। ऐसे जमींदारों और राज्य के बीच खिचाव के फलस्वरूप राजनीतिक तथा प्रशासनिक उथल–पुथल तो मची ही, कृषि उत्पादन और किसानों की दशा भी खराब हुई।

शाही सत्ता के उदण्ड़ जमींदारों को वश में करने और उन्हें शाही मालगुजारी कानून के अनुसार चलने पर बाध्य करने का बहुत प्रयास किया, फिर भी वे इस पूरे के पूर वर्ग को नहीं दबा सकते थे। आमतौर पर शक्तिशाली प्रशासक के अधीन मध्यस्थ अपना काम शाही नियमों के अनुसार करते थे लेकिन कमज़ोर प्रशासकों के अंतर्गत स्थिति प्रायः हाथ से निकल जाती थी। इन जमींदारों के व्यापक विद्रोह ने शाही अफसरों को उनकी आय से वंचित कर दिया जिसके फलस्वरूप उनके सैनिक शक्ति में कमी आई। परिणामतः अफसरों ने उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों से तबादले की माँग शुरू की दी। यहाँ तक कि वे जागीरों की बजाए नकद वेतन की मांग करने लगे।

प्राथमिक जमींदार

प्राथमिक जमींदार को व्यवहारिक रूप से हर प्रकार से कृषि योग्य और निवास योग्य, दोनों प्रकार की भूमि पर स्वमित्व के अधिकार प्राप्त थे। इस वर्ग में अपने हाथ से या किराए के मजदूरों की सहायता से खेती करने वाले कृषक स्वामी ही नहीं बल्कि एक या अधिक गाँवों के स्वामी भी आते थे। साम्राज्य की समस्त कृषि योग्य भूमि इस या उस प्रकार के प्राथमिक जमींदारों के स्वामित्व में थी। प्राथमिक जमींदारों को अधिकार पैतक तथा हस्तांतरणीय थे। ऐसी जमींदारियों के सोलहवीं शताब्दी के अनेक विक्रय पत्र अभी भी उपलब्ध है। मुगल शासन ने इन जमींदारों के अधिकारो की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझा और हस्तांतरण पत्रों को काज़ी के पास दर्ज करवाने को प्रोत्साहन दिया जिससे दावों का सही–सही विवरण रखा जा सके।

जो लोग पीढ़ियों से इन अधिकारों का उपभोग करते चले आ रहे थे या जिन्होंने इन्हें खरीद कर प्राप्त किया था। मुगलों ने उनके अतिरिक्त अन्य बहुत से लोगों को भी ये जमींदारी अधिकार प्रदान किया जो जंगलों और बेकार भूमि को कृषि योग्य भूमि में बदलने के लिए तैयार रहते थे। अधिकतर **मदद-ए-माश** अनुदान ऐसे थे जिन पर खेती नहीं होती थी। प्रत्येक नए शासक के राज्यारोहण पर **मदद-ए-माश** अनुदानों की पष्टि होनी–होती थी लेकिन सामान्यता पैतक उत्तराधिकार में हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। किसान मालिकों के अतिरिक्त अन्य जमींदार साधारण तथा अपनी भूमि पुश्तैनी पट्टे पर अपने कश्तकारों को इस शर्त पर दे देते थे कि वे नियमपूर्वक मालगुजारी का भुगतान करेगे। भुगतान ने करने पर भी काश्तकार को भूमि से बेदखल नहीं किया जाता था वरन् बकाया राशि किसी अन्य प्रकार से वूसल कर ली जाती थी। कृषक की कमी को दष्टि में रखते हुए जमींदारों ने काश्तकारों को भूमि छोड़ने से रोकने और ली हुई सारी कृषि योग्य भूमि में खेती करने पर बाध्य करने के अधिकार का भी उपयोग किया।

जब प्राथमिक जमींदार मालगुजारी का भुगतान नहीं करते थे तब जमींदारों का लगभग दस प्रतिशत **मालिकाना** छोड़कर किसानों से सीधा इसे इकट्ठा कर लिया जाता था। इस प्रकार यह दस प्रतिशत जमींदार का सामान्य हिस्सा दर्शाता है। मालगुजारी में हिस्से के अतिरिक्त जमींदार अनेक प्रकार के उपकर लेने के लिए भी अधिकृत थे, यद्यपि इस प्रकार के उपकारों से होने वाली आया का एक बड़ा हिस्सा उन्हें मालगुजारी के साथ ही जमा करना होता था।

जमींदारों को मालगुजार माना जाता था या उन्हें भी जमींदार माना जाता था जिन पर शासन द्वारा मालगुजारी का निर्धारण किया जााता था। किसानों से मालगुजारी इकट्ठा करने और राज्य का हिस्सा उच्चाधिकारियों के पास जमा करने की उनसे अपेक्षा की जाती थी। कानून व व्यवस्था को बनाए रखने में प्रशासन की सहायता करना और अनेक स्थितियों में अपने वरिष्ठ अधिकारियों के आदेश पर सैनिक टुकड़ियाँ भेजना उनके दायित्वों में आता था।

एक ओर वरिष्ठ जमींदारों तथा राज्य और दूसरी ओर से किसानों के बीच फंसे अधिकांश जमींदार अपनी स्थिति को सुधारने के लिए निरन्तर संघर्षरत रहते थे। यदि वे ऊपर दबाव को सहने में असमर्थ होते तो मालगुजारी की माँग का बोझ किसानों के ऊपर डाल देते और इस प्रकार उनके आर्थिक शोषण को और अधिक करने में सहयोग देते। मगर बहुत से अवसरों पर राज्य की बढ़ती हुई माँगों के विरुद्ध, प्रायः कुल और जाति के नाम पर लोगों को इकट्ठा करके किसान विद्रोहों का नेतत्व भी करते थे। मध्यस्थ जमींदार प्रायः प्राथमिक जमींदारों की स्थिति गिराने का प्रयत्न करते थे।

इस प्रकार भूमि अधिकारों की विविधता ही नहीं वरन् भूमि संबंधों में एक प्रकार का शंकु आकार का ढांचा भी उभर कर सामने आया जिसमें की विभिन्न श्रेणियों के हिस्सों का तथा साथ ही शादी मालगुजारी की माँग का बोझ अन्ततः किसान पर ही पड़ता था। इससे कृषि अर्थव्यवस्था पर इतना दबाव पड़ा कि अधिक प्रगति संभव न रह सकी। शाही सत्ता ने पूरी कोशिश की कि किसान को पैदावार के पचास प्रतिशत से अधिक भुगतान न करना पड़े। लेकिन जैसे ही शाही सत्ता का पतन हुआ और जागीरों पर दबाव बढ़ा, कृषि अर्थव्यवस्था एक संकट की स्थिति में आ गई। यह संकट अठारहवीं शताब्दी में और अधिक हो गया।

राजनीतिक और प्रशासनिक रूप में जमींदारों के विभिन्न वर्गों के बीच हितों का टकराव दूर नहीं हो पाया। इससे कानून व व्यवस्था भंग हुई और राज्य की सैनिक व प्रशासनिक शक्ति में गंभीर रूप से कमी आई। इन अंतर्विरोधों को सुलझाने के लिए मुगल सत्ता द्वारा किए गए उपायों ने काम तो किया लेकिन कुछ ही समय के लिए। अंत में आपस में टकराते हितों के बीच संतुलन रखना संभव न रहा।

प्रशासनिक नियंत्रण

मुग़ल बादशाहों की प्रशासन को केंद्रीकृत करने की नीति के परिणामस्वरूप यह आवश्यक हो गया कि जमींदारों पर अनेक प्रकार से नियंत्रण रखा जाए। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जिन इलाकों पर ज़मींदारों का आधिपत्य होता था, वे "खालीसा" या "जागीर" से अलग नहीं थें जागीर और खालीसा में अंतर मालगुज़ारी में राज्य की हिस्सेदारी के वितरण को लेकर ही था। अगर किसी क्षेत्र विशेष से प्राप्त मालगुजारी शाही खजाने में जमा होती थी तो उसे "खालीसा" कहते थे और यदि वह वेतन के तौर पर किसी अधिकारी को दी जाती थी तो उसे "जागीर" माना जा सकता था। इस प्रकार खालीसा और जागीर दोनों ही में अनेक प्रकार की ज़मींदारियाँ

होती थीं और जागीरदारों को एक शक्तिशाली केंद्रीय और प्रांतीय प्रशासनिक तंत्र ही नियंत्रण में रख सकता था। फौजदार और जागीरदार ही ज़मींदारों पर रौब रख सकते थे, क्योंकि उनके पास अधिक बेहतर फौजी ताकत होती थी, जिसके बल पर वे ज़मींदारों से उनकी देनदारी मुसतैदी से वसूल कर सकते थे। ज़मींदारों के बीच जो झगड़े होते थे, उन्हें काज़ी निपटाते थे और फौज़दार उनके न्यायिक निर्णयों को लागू करते थे।

निजी संपत्ति पर ज़मींदार के हक़ को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त थी लेकिन यदि वह मालगुज़ारी वसूल करने और उसे खजाने में जमा करने की "खिदमत" में चूक कर देता तो उसे हटाया जा सकता था। ज़मींदारों के हक़ पुश्तैनी होते थे फिर भी राज्य के पास यह प्राधिकार रहता था कि वह उत्तराधिकार के मामले में दखल दे सके और अगर चाहे तो निजी संपत्ति का भी भाइयों ओर रिश्तेदारों में बँटवारा कर सके। शाही नाराजगी के स्थिति में इन माध्यमिक ज़मींदारों में से कुछ को बरखास्त या स्थानांतरित भी कर दिया जाता था। अकबर के एक हुक्मनामे से यह पता चलता है कि उसने इलाहाबाद के एक "चौधरी" को केवल इसलिए बरखास्त कर दिया था, क्योंकि वह त्रिवेणी संगम पर स्नान के लिए जाने वाले तीर्थ यात्रियों को तंग किया करता था। कुछ मामलों में मुग़ल बादशाहों ने उन लोगों को भी ज़मींदारी अधिकार प्रदान किए जिन्हें कानून और व्यवस्था बनाए रखने के लिए या कि मालगुज़ारी वसूल करने के लिए नियुक्त किया गया था। जैसा कि इरफ़ान हबीब ने लिखा है, शाही प्रभाव–क्षेत्र में ज़मींदारों की हैसियत ''पूरे तौर पर प्रशासन के अधीनस्थ कर्मचारियों'' की थी। प्रशासन का सदा यह प्रयत्न रहता था कि वह उन्हें केवल कर–समाहर्ता के रूप में ही बनाए रखे। जमींदार अपने कार्य–क्षेत्र से मालगुज़ारी वसूल कर या तो शाही खजाने में जमा कराते थे या जागीरदारों को भेज देते थे। इस प्रकार, इरफान हबीव के कथनानुसार ज़मीदारों को पुश्तैनी तौर पर प्राधिकारियों के लिए की गई सेवा का एक रूप भर माना जा सकता हैं इस सेवा के बदले ज़मींदारों को एक निश्चित रक़म मिलती थी।

हर क्षेत्र में कुछ ज़मीन तो सीधे ज़मींदारों के पास होती थी और शेष काश्तकारों के पास। ये काश्तकार ज़मींदार की "रैयत" कहलाते थे। इनके बीच कोई माध्यमिक ज़मींदार नहीं होते थे। इस तरह तो इलाके जागीर के तौर पर दिए जाते थे, उनमें हर जागीरदार को काश्तकारों और जमींदारों दोनों से निपटना पड़ता था। अतहर अली (Athar Ali) का कहना है कि हर जागीरदार की यह मनोवत्ति होती थी कि वह ज़मींदार के कब्जे में आने वाली ज़मीन का सरसरी तौर पर कर–निर्धारण करके उनसे मालगुज़ारी वसूल करे । ऐसा करते समय काश्तकार संबंधी वस्तु–स्थिति पर ध्यान नहीं दिया जाता था। इस मत की पुष्टि औरंगज़ेब के जमाने के अवध से प्राप्त दो प्रलेखों से होती है जिनमें इस बात का उल्लेख है कि कर निर्धारित या तो ज़मींदार (मालिक) था या गाँवों का ताल्लुकदार, जिन्होंने मालगुज़ारी भरी। ज़मींदारों द्वारा सरसरी तौर पर मालगुज़ारी निर्धारित करने और उसकी वसूली करने की प्रथा से जागीरदारों और उनके कारिंदों का काम निश्चय ही काफी हद तक हल्का हो जाना चाहिए था। पर, जैसा कि अतहर अली सही ही कहते हैं, जागीरदारों का सबसे कड़ा विरोध और शत्रुतापूर्ण व्यवहार वस्तुतः जमींदारों को ही झेलना पड़ा। यदि मालगुज़ारी का निर्धारण बहुत अधिक किया जाता तो हो सकता था कि ज़मींदारों को अपनी आमदनी से हाथ धोना पड़ता और तब उन्होंने कुछ मामलों में काश्तकारों के समर्थन से अपने सशस्त्र आश्रितों के भरोसे जागीरदारों को चुनोती दी होती। हिदायत–अल–कवायद ज़मींदारों को दो भागों में बाँटती है – एक, वे जो समर्पणशील और मालगुजारी अदा करने वाले

(रैयती) थे, दूसरे वे जो विद्रोही किस्म के (जोर तलब) थे। इसमें यह भी कहा गया है कि छोटे मनसब वाले जागीरदार को प्रायः विद्रोही प्रकृति वाले जमींदार को दबाने में काफी कठिनाई होती थी। कुछ मामलों में किसी जागीरदारों को उसके अधीन इलाके का जमींदार भी नियुक्त कर दिया जाता था। कुछ उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर अतहर अली कहते हैं कि यद्यपि किसी जागीरदार को एक क्षेत्र विशेष का जमींदार बनाया जा सकता था, किंतु इससे वह क्षेत्र उसकी "वतन जागीर" नहीं बन सकती थी। जागीरें हस्तांतरित होती रहती थीं, जबकि जमींदारी एक स्थायी पुश्तैनी जायदाद होती थी।

ज़मींदारों और स्वायत्त शासकों, जैसे राजाओं, राणाओं, रावतों आदि के बीच भेद दिखाते हुए इरफ़ान हबीव का कहना है कि जमींदारों में भी स्वायत्त शासकों की कुछ विशेषताएँ होती थीं, जैसे कि उनके पास कुछ निजी इलाके होते थे, शाही सरकार से संबद्ध होना उनके लिए आवश्यक नहीं था और वे अपनी जायदाद की रक्षा के लिए भी सैनिक रख सकते थे। परन्तु दोनों में स्पष्ट भेद शाही सत्ता के साथ उनके संबंधों को लेकर था, अर्थात् जहाँ राजाओं आदि को स्वायत्तता मिली हुई थी, वहाँ सामान्य ज़मींदार बादशाहों की केवल "जायदाद वाली प्रजा" (Propertied Subjects) थी। राजाओं के प्रति जो मुग़ल नीति थी वह उनसे पहले के सुल्तानों की नीति का ही कुछ मामलों में स्वीकरण था। अकबर पहला बादशाह था जिसने मुगल साम्राज्य और राजाओं के बीच संबंध जोड़ने के महत्व को समझा। इसके लिए उसने राजाओं को शाही सोपान क्रम और प्रशासनिक तंत्र में समाहित किया। उसके उत्तराधिकारियों ने इस नीति का अनुसरण किया। हज़ार और उससे ऊपर के "मनसब" मिले हुए थे। यह संख्या उस समय के ऐसे मनसबों की लगभग 15 प्रतिशत बैठती है। जब किसी राजा को ऊँचा मनसब मिलता था तो उसे फौज के रख–रखाव के लिए पर्याप्त "जागीर" मिलती थी।

इस प्रकार इन प्रशासनिक नीतियों ओर सैनिक अभियानों के बल पर मुग़ल बादशाह अधिकांश राजाओं को अधीनस्थ बनाने और उनसे मुग़ल प्रभुसत्ता स्वीकार कराने में सफल हुए। कुछ राजाओं ने तो स्वयं ही वफादारी स्वीकार कर ली और मुगलों को सहयोग प्रदान किया। इससे मुगल साम्राज्य की राजनीतिक और प्रशासनिक एकता सुनिश्चित हो गई, जिसके फलस्वरूप अधिक मात्रा में शांति और सुरक्षा स्थापित हो सकी तथा व्यापार, वाणिज्य और उद्योगों की उन्नति भी हुई।

जमींदारों की आय

मुग़लकालीन भारत में ज़मींदार वर्ग सामाजिक दष्टि से एक विषम–जातीय वर्ग था और निस्संदेह इस वर्ग के ज़मींदारों के अधिकार और दायित्व अलग–अलग स्थानों पर अलग–अलग थे। जो क्षेत्र सीधे ही मुग़ल प्रशासन के अधीन थे उनमें से लोग मुग़लिया भू राजस्व तंत्र के मुख्य साधन थे, जबकि अन्य क्षेत्रों में ये न ज़राना देने वाले थे। काश्तकारों से जो लगान वसूल करते थे वह मुख्यतः इनके अपने खजाने के लिए होता था। ज़मींदारों की आमदनी अनेक मदों से होती थी, जैसे उत्पादन में हिस्सा (जिसे महसूल या हासिल कहते थे); रुसूम–ए–जमींदारी, हक–ए–मिल्कियत, आदि। पर वे अपने काश्तकारों पर सदा अधिरोपित कर नहीं लगाते थे।

ज़मींदार खुद काश्तकारों से मालगुज़ारी वसूल करते थे और केवल एक तयशुदा रकम प्राधिकारियों को देते थे। इस तरह दोनों में जो अंतर था वह उनकी आमदनी को लेकर ही था। जब सरकार किसी क्षेत्र में सीधे ही राजस्व निर्धारित करती थी और उसे वसूलती थी तो उसे क्षेत्र के ज़मींदारों को उनके स्वत्वाधिकारों (मिल्कियत) के एवज़ में कुछ राशि दी जाती थी। इसे उत्तर भारत तथा

बंगाल में "मालिकाना" या "दो बिस्वी" कहते थे और यह कुल संग्रहीत राजस्व का दस प्रतिशत होता था। गुजरात में यह बँध और दकन में "चौथ" (1/4) कहलाती थी। किन्तु इसे राजस्वमुक्त भूमि का रूप भी दिया जा सकता था। वित्तीय लेनदारी के अतिरिक्त ज़मींदार अपने किसानों से छोटे–छोटे अनुलाभ भी ऐंठते थे, जैसे विवाह या जन्म संबंधी उपकर, गहकर (कानशुमारी) आदि। वे उनसे बेगार भी लिया करते थे।

ज़मींदारों की आय और उनके व्यय में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जो भी अंतर पाया जाता था, उसको देखते हुए इसके बारे में किसी केन्द्रीय प्रवति का पता लगाना मुश्किल ही होगा। चाहे छोटे जमींदार कमोबेश काश्तकारों की तरह ही जीवन यापन करते हों, किन्तु बड़े ज़मींदारों का जीवन स्तर तो निश्चय ही जागीरदारों के जीवन स्तर से होड़ करता था क्योंकि उनके व्यय का अधिकांश हिस्सा स्पष्ट उपभोग के काम में आता था। अधिकांश जमींदार प्रत्यक्षतः ग्रामीण क्षेत्र में रहते थे और उनका जीवन अमीर वर्ग का सा था।

शासक वर्ग के रूप में जमींदार

कृषकों के अतिरिक्त उत्पादन में हिस्सेदारी मांगने वाले जमींदारों का एक शोषक वर्ग बन गया जो स्थानीय शक्ति का प्रतिनिधित्व था। किसी विशिष्ट भू–भाग पर उनके अधिकार आनुवंशिक होते थे और अपने बाप–दादाओं के पास पीढ़ियों तक रही उस भूमि में ज़मींदार की जड़े समान्यतः गहरी होती थीं। उसके लिए सबसे लाभप्रद बात शायद यह होती थी कि उसे उस भूमि की उत्पादकता तथा उस क्षेत्र के निवासियों के रीति–रिवाजों और परंपरा की गहरी जानकारी होती थी। ज़मींदारों का वर्ग मोटे तौर पर अनेक जातियों से निर्मित होता था जो लंबे समय से एक–दूसरे को उखाड़ने और अपने अधीन करने में लगा रहता था। इस वर्ग की सामाजिक विषम जातीयता, ज़मींदारियों की खरीद–फरोख्त से अवश्य ही और और अधिक बढ़ी होगी। भौगोलिक दष्टि से ज़मींदारियाँ परस्पर सलंग्न नहीं होती थीं, क्योंकि बीच–बीच में रैयती गाँवों के भू–खंड मिलते थे। ज़मींदारों के बीच आंतरिक विभाजन भी इस वर्ग के एक "एकीकृत" शासक वर्ग" के रूप में उभरने में बाधक बना। लेकिन उनके जातिगत आधार और स्थानीय संपर्क ने ही उनकी शक्ति को बनाए रखा और उनकी उत्तरजीविता में सहायता की।

ज़मींदार वर्ग ने मध्यकालीन भारत के राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मुग़ल काल में इसका महत्व बढ़ा और समाज में इसकी स्थिति अधिक जटिल हो गई। कृषक समाज से मिलने वाला उनका अतिरिक्त उत्पादन बादशाह, उसके जागीरदारों और ज़मींदारों में बँट जाता था। देश के आर्थिक जीवन पर जैसे कृषि उत्पादन हस्तकलाओं और व्यापार पर ज़मींदारों पर पूरा प्रभुत्व था। उत्पाद में अधिकाधिक हिस्सा पाने के लिए शाही सरकार और ज़मींदारों में चलने वाले निरंतर संघर्ष के बावजूद दोनों वर्ग आर्थिक शोषण की प्रक्रिया में साझेदार बन गए।

राजनीतिक दष्टि से भी मुग़ल शासन और ज़मींदारों के बीच अपने–अपने हितों में टकराव (Clash of interests) थी। मुग़ल बादशाह को जो–जो प्रशासनिक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती थीं, उनमें से अधिकांश, ज़मींदारों की कार्यवाहियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती थीं। बावजूद इनके मुग़ल प्रशासन को ज़मीदारों के सहयोग पर बहुत अधिक निर्भर रहना पड़ता था। संस्कृति के क्षेत्र में ज़मींदारों और शाही दरबार के बीच जो घनिष्ठ संबंध थे, उन्होंने विभिन्न समुदायों तथा विभिन्न क्षेत्रों की, प्रभेदक (distinctive) परंपराओं तथा शहरी और ग्रामीण केंद्रों के बीच सांस्कृतिक संश्लेषण

की प्रक्रिया में कम योगदान नहीं दिया। इसके साथ–साथ अलगाववादी, स्थानीय और संकीर्ण या अनुदारवादी प्रवत्तियों को भी ज़मींदार वर्ग से प्रबल संरक्षण प्राप्त हुआ। मुग़ल साम्राज्य के शक्तिशाली होने के पीछे मुख्य कारण यही था कि वह इस वर्ग का समर्थन प्राप्त कर सका। किन्तु एक केंद्रीकृत साम्राज्य और ज़मींदारों के बीच जो अतर्निहित विसंगितयाँ थीं, उनकी जड़ें इतनी गहरी जा चुकी थीं कि उनका समूल नाश संभव नहीं था। विसंगतियों के अंतिम परिणाम के रूप में ही मुग़ल साम्राज्य का पतन हुआ।

मुग़ल साम्राज्य के पतन पर विचार करने वाले कुछ विद्वानों का मत है कि इस प्रक्रिया में ज़मींदारों ने महत्वपूर्ण निभाई। नूरूल हसन के अनुसार केंद्रीकृत मुग़ल साम्राज्य और ज़मींदारों के बीच हुए संघर्ष के मूल में अतिरिक्त कृषि उत्पादों की हिस्सदारी की समस्या थी। कर्षित (खेती हुए) क्षेत्र के आधार पर भू–राजस्व के भुगतान की माँग वाली शाही नीति ने राजाओं के हिस्से में कमी कर दी। इसलिए विद्रोह होना अपरिहार्य हो गया। औरंगज़ेब के शासनकाल में महाराष्ट्र, बुंदेलखंड मेवात और राजपूताना के लगभग सभी राज्यों ने मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध हथियार उठाए और इस संघर्ष में उन्हें निम्न वर्ग के ज़मींदारों से, और यदाकदा उन कृषकों से भी सहायता मिली जो एक ही कुल या जाति के थे। राजाओं के बार–बार विद्रोह पर उतर आने से सैनिक अभियान लंबे खिंचते गए और शाही सरकार राजाओं के क्षेत्र–विस्तार को रोक पाने में असमर्थ रही, आर्थिक हालत बद से बदतर होती गई। कृषि उत्पादों में भारी गिरावट आई और प्रशासनिक एकता कमज़ोर पड़ गई। परिणाम यह हुआ कि शताब्दी के अंत तक एक एकीकृत साम्राज्य के जो आर्थिक और प्रशासनिक लाभ थे, वे लुप्त होने लगे।

माध्यामिक ज़मींदार राजा के खर्चे पर अपने अधिकारों को समेकित और संघटित करने में जुट गए। उदाहरण के लिए, बंजर भूमि को बेचने का अधिकार राज्य के पास था, पर अब वे प्रायः इस अधिकार का उपयोग स्वयं करने लगे। उन्होंने ग्रामीण जनता का शोषण बढ़ा दिया और अपने अधिकार क्षेत्र में प्राथमिक ज़मींदारी की प्रमुखता की स्थिति को कम करने का प्रयत्न शुरू किया। उन्होंने पुश्तैनी इलाकों पर अपने अधिकारों को अधिक सुदढ़ करना चाहा और जब कभी अवसर मिला, वहाँ के राजा बन बैठने का सपना संजोया। ज्यों–ज्यों मुग़ल साम्राज्य कमज़ोर होता गया और जागीरदारी प्रथा का संकट गहराता गया, त्यों–त्यों वे माध्यमिक ज़मींदार शक्तिशाली होते गए और कभी–कभी अपने कुल वाले अन्य माध्यमिक ज़मींदारों के साथ मिलकर या पहले से ही चले आ रहे विरोधी राजाओं के सहयोग से मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने लगे। इन ज़मींदारों और राज्य के बीच चल रही कशमकश से राजनीतिक और प्रशासनिक अशांति तो बढ़ी ही, कृषि–उत्पादन वर्ग की स्थति को भी नुकसान पहुँचा।

एक ओर वरिष्ठ ज़मींदारों तथा राज्य और दूसरी ओर कृषक वर्ग के बीच फँसे अधिकांश प्राथमिक ज़मींदारों की स्थिति ऐसी हो गई जैसे दाँतों के बीच फँसी जीभी हो। वे अपनी स्थिति में सुधार के लिए निरंतर हाथ–पाँव मारते रहे और इसके लिए उन्हें प्रायः दोनों पक्षों से संघर्ष मोल लेना पड़ा। जब ये ज़मींदार ऊपरी दबाव सहते–सहते पस्त पड़ गए तो इन्होंने पलट कर राजस्व सम्बंधी मांगों के बोझ का ठीकरा किसानों के सर पर फोड़ दिया। इस तरह इन्होंने भी कृषकों के आर्थिक शोषण का कुआँ गहरा करने में योगदान किया। ऐसे अवसरों पर उन्होंने आर्थिक दष्टिकोण से पश्चगामी (retrogressive) भूमिका अदा की। पर अनेक अवसरों पर इन्होनें जाति और कुल के नाम पर सहायता की पुकार सुनकर राज्य द्वारा बढ़ती ज़बरन वसूली के ख़िलाफ उठे किसान–विद्रोह की रहनुमाई भी की। जहाँ विद्रोह करना संभव नहीं था, वहाँ अधिकांश ज़मींदारों ने तब तक लगान देने से इन्कार कर दिया जब तक वह जबदरदस्ती न वसूला गया।

मुग़लों की भूमि सम्बन्धी व्यवस्था में सबसे निचली पीढ़ी पर होने की वजह से किसानों को सबसे अधिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता। **नुरुल हसन** कहते हैं कि मुग़ल साम्राज्य में न केवल अनेक प्रकार के भूमि अधिकार पनपे बल्कि भूमि संबंधों की पिराभिडी संरचना भी उभरकर सामने आई जिसमें अनेक प्रकार के अधिकार एक दूसरे पर अध्यारोपित थे। विभिन्न जमींदारों की हिस्सेदारी और राजस्व संबंधी शाही माँगों का भार कृषकों के कंधों पर ही जा पड़ा और इसके कृषक भूमि संबंधी अर्थव्यवस्था को इतना बोझिल बना दिया कि तब उसमें सुधार करना या विकास करना लगभग असम्भव सा हो गया। **इरफान हबीब** के शब्दों में जिन विद्रोहों के बलबूतों पर मुग़ल साम्राज्य ध्वस्त हो गया वे न तो हिन्दू प्रतिक्रया और न ही किसी प्रकार की औरंगजेब के खिलाफ राष्ट्रीय प्रतिक्रिया की परिणति थे। वे तो वस्तुतः 'कृषि–भूमि–संबंधी' संकटों से पैदा हुए थे।

'संक्षेप में कहा जा सकता है कि ज़मींदार वर्ग ने सामान्यतः राजनीतिक और प्रशासनिक दोनों दष्टियों से मुगल साम्राज्य को निष्ठापूर्वक सहयोग प्रदान किया और उसकी सहायता की। फिर भी जमींदारों और राज्य के बीच तथा ज़मींदारों के ही विभिन्न वर्गों के बीच जो हित लाभ द्वंद्व था उसे समाप्त नहीं किया जा सका। 1707 ई॰ में औरंगजेब की मत्यु के बाद केन्द्रीय सरकार इतनी अशक्त हो गई कि वह परस्पर विरोधी विचाराधाराओं में संतुलन बनाए न रख सकी और इस वजह से व कुछ अन्य समस्याओं की वजह से मुग़ल साम्राज्य का पतन हो गया।

अध्याय - 3

(ख) धार्मिक वर्ग उलेमा एवम् सूफी

(b) Religious Classes – Ulema, Sayyads and Sufis

मध्यकालीन भारत का समाज महत्वपूर्ण प्रशासनिक संरचना से विभाजित था। जिसमें सुलतान सर्वोच्च अधिकारी था। इसके अलावा ऐसे भी अन्य महत्वपूर्ण वर्ग समाज में थे। जैसे मध्यमवर्ग, किसान, शिल्पी आदि। एक महत्वपूर्ण वर्ग जो समाज में था वह था धार्मिक वर्ग। धार्मिक वर्ग खासतौर से सल्तनत तथा मुगल काल के समय उलेमा सैयद और सूफी महत्वपूर्ण थे। इस वर्ग का सुलतान तथा समाज पर काफी असर था। और इसी वजह से प्रशासन पर भी इसका पूर्ण प्रभाव था। मध्यकालीन शासक वर्ग इन लोगों का काफी सम्मान करता था और इनको **मदद-ए-माश, इनाम,** (नकदी) आदि के रूप में दे कर खुश रखते थे और इन्हें उपाधियाँ भी प्रदान की जाती थी।

उलेमा

परम्परा के अनुसार उलेमा को दो भागों में बांटा जा सकता है एक **उलेमा-ए-आखरत** दूसरा **उलेमा-ए-दुनिया**। इस विभाजन को उलेमा के विचारों के अनुसार विभक्त किया गया है।

उलेमा-ए-आख़रत : ये अपना जीवन आध्यात्मिक ज्ञान की ओर रखते थे। वह बहुत ही सादा जीवन व्यतित करते थे तथा शासन में हस्तक्षेप करने में उन्हें कोई रूचि नहीं थी। वह पूर्णरूप से त्याग की भावना रखते थे अपने धर्म के प्रति उन्हें राज्य के धन से भी कोई लालच नहीं था।

दूसरी तरफ **उलेमा-ए-दुनिया** पूरी तरह राजनीति तथा प्रशासनिक कार्य में हिस्सा लेते थे वे धन तथा सांसारिक कार्य में बहुत रूचि रखते थे और वे अपने लाभ के लिए हर तरह का समझौता करने के लिए तैयार रहते थे। वे शासक (राजा) को पूर्णरूप से खुश रखने की कोशिश करते थे हर कार्य को करने के लिए तैयार रहते थे चाहे वह कार्य उचित हो या अनुचित। लेकिन कुछ उलेमा मस्जिद में अध्यापन का कार्य भी करते थे।

इन दो भागों के अलावा इन उलेमाओं को दो मुख्य रूप से बाँट सकते हैं।

(i) रुढ़िवादी और परम्परावादी उलेमा

(ii) उदारवादी और सहिष्णुता

उलेमा जो राज्य की नौकरी करना चाहते या राज्य के साथ या फिर शासक वर्ग से अपने आप को नजदीक रखना चाहते थे उनके पद निम्नलिखित है।

सद्र-उस सुद्र : वह धर्म विभाग का अध्यक्ष होता था। राजकीय दान–विभाग उसी के अधीन रहता था। वही जन–साधारण को धर्मानुयायी रखने का प्रबंध करता था। मस्जिदों, मज़ारों, मकबरों, खानकाहो, मदरसों, मकतबों आदि के निर्माण एवं रक्षा के लिए वही दान विभाग से धन अथवा इकता या जागीर देता था। वही साधु–संतों, मुल्ला–मौलवियों, अनाथ अपाहिजों को राज्य की ओर से सहायता देता था। इस विभाग का सम्पूर्ण धन केवल मुस्लिम जनता के लाभ के लिए व्यय किया जाता था। प्रायः इसका अलग कोष रहता था। जिसमें ज़कात से प्राप्त धन एकत्रित होता था।

काजी-ए-मामलिक : मुख्य न्यायधीश वह सुलतान के बाद सर्वोच्च न्यायिक अधिकारी था। वह मुख्य अपीलीय न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश होता था। अधनीस्थ न्यायालयों में काजियों के सभी फैसलों फौजदारी या दीवानी क अपीले यहां भेजी जाती थी। वह राजा के धार्मिक मामलों की देखरेख करता था। जिसमें मदरसों की देखभाल और विद्वान तथा जरूरत मदों, दरवेशों को खैरात (दान) देना भी शामिल है। इस हैसियत से वह सद्र–उस–सदूर समझा जाता था।

खतीब : खतीब की उपाधि उन्हीं लोगों को दी जाती थी जो धर्मिक विद्वान होते थे क्योंकि जब मौलाना मलीक यार, जिन्हें कोई धार्मिक शिक्षा पूर्णरूप से नहीं मिली थी, को ईमामत के लिए मस्जिद में रखा गया तो लोगों ने उनकी नियुक्ती पर विरोध प्रकट किया था। आम जनता में खतीब की काफी इज्जत होती थी।

सुल्तान के द्वारा खतीब से धार्मिक मामलों में धर्मोपदेश दिए जाते थे। कुछ विद्वानों को अध्यापक की तरह नियुक्त किया जाता था सल्तनत कालीन समाज में दो मदरसे बहुत ही उच्च कोटि के ये जिसमें विद्वानों की नियुक्ती होती थी। एक था **मुईज्जी (Mu'izzi)** दूसरा **नासिरया मदरसा (Nasiriya)** इन मदरसों में उलेमाओं को बहुत ही अच्छी सहुलियत मिलती थी तथा उनका वेतन भी उच्च होता था।

जैसा की हम कह चुके है कि उलेमाओं का राज्य और साधारण जनता पर काफी प्रभाव था इसलिए राजा उलेमाओं को खुश रखने की कौशिश करते थे। हमे उलेमाओं का राज्य के मामलों में हस्तक्षेप पहली मरतबा इलतुतमिश के समय में मिलता है उस समय कुछ उलेमाओं ने राज्य पर हावी होने की कौशिश की काजी वजीहउद्दीन काशारानी के नेतत्व में उलेमाओं का एक वर्ग सुल्तान इल्तुतमिश (1210-1236) से मिला और उन्होने सुल्तान से यह सवाल किया की वह अभी गुलाम (दास) या फिर आज़ाद है। सुल्तान ने फौरन ही उनको अपनी आजादी का खत दिखाया। यह कहा जाता है कि इल्तुतमिश ने उलेमा के इस रवैइये को काफी नपंसद किया और उसने चार काजीयों को एक–एक कर के मौत के घाट उतार दिया। ये चार काज़ी निम्नलिखित है काज़ी सईद, काज़ी ईमात, काज़ी हुसाम, और काज़ी निज़ाम।

इसके अलावा एक ओर घटना से हमे उलेमाओं की कौशिश राज्य में हस्तक्षेप करने की नजर आती है। उस घटना में कुछ उलेमा ने सुल्तान इलतुतमिश से यह पूछा कि वे राज्य को शरीयत के अनुसार क्यों नहीं चलाया जा रहा। सुल्तान इल्तुतमिश ने इस पर इन उलेमा को अपने वजीर निजामुल मुलक जुनैदि से मिलने को कहा वजीर ने उनको यह स्पष्टीकरण दिया कि यह अव्यवहारिक और गैर राजनीतिक बात है। क्योंकि अभी उनकी मात्रा बहुत कम है। जैसे भोजन में नमक और इसी शरीयत को लागू कर पाना अभी कठिन है। इस घटना से यह साबित होता है की दिल्ली सलतनत की शुरूआत से ही रूढ़ीवादी उलेमा ने अपनी शक्ति दिखानी शुरू कर दी थी। लेकिन राज्य के लिए व्यवहारिक रूप से शरियत का लागू करना सम्भव

नहीं था। उदाहरण जनता गैरमुस्लिम थी और गैर मुस्लमानों पर शरीयत को लागू नहीं किया जा सकता था। शरियत के अनुसार या तो इन लोगों को मुस्लमान बनाया जाता या फिर इनको राज्य से बाहर निकालना या मौत की सजा देनी होती। ये दोनों बाते राज्य के लिए सम्भव नहीं थीं। राज्य और प्रशासनिक वर्ग के इन्ही लोगों से आय होती थी। इसलिए इन पर किसी तरह का दबाव डालना राज्य के लिए खतरे के समान था इसी लिए वजीर ने उलेमाओं को कूटनीति पूर्ण जवाब दिया।

रजिया जब सुल्तान बनी तो किसी भी उलेमा ने उस पर आपत्ति नहीं की चूंकि उलेमा इलुतिकमश से डरे हुए थे और वे किसी तरह से सुल्तान को नाराज नहीं करना चाहते थे। शरीयत (इस्लामी कानून) के अनुसार औरत को प्रभुसत्ता नही दी जा सकती। इस तरह से रजिया का सुल्तान बनना शरीयत (इस्लाम) के विरूद्ध था, लेकिन किसी भी उलेमा ने इस का विरोध नहीं किया। सौलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ समय के इस्लामी वैधता शेख अब्दुलहक मुहद्दीस देहलवी आश्चर्य के साथ अपनी पुस्तक **तारीख-ए-हक्की** में लिखा है कि कैसे किसी आलिम ने रजिया के सुल्तान बनने पर विरोध नहीं किया।

सुल्तान बहरामशाह **(1240-42ई॰)** के समय में ऐसा लगता है कि जब राज्य या सुल्तान कमजोर हो गया तो उस समय हमें उलेमा की शक्ति बढ़ती हुई नजर आती है। बहरामशाह ने उलेमा को खुश करने की कोशिश की, बहरामशाह ने उलेमाओं के साथ विवाह सम्बंध स्थापित किए। दूसरा सुल्तान ने बागी उमराओं की शक्ति को दबाने के लिए उलेमाओ का साथ लिया कुछ उमरा जैसे नायब बदरूद्दीन संकर काजी इत्यादि ने सुल्तान को उसे के पद से हटाना चाहा उस समय मिनहाज, शेख–उल–इस्लाम कुतुबुद्दीन ऐबक को सुल्तान ने उन बागी उमराओं के विरूद्ध भेजा। एक समय के बाद शेख–उल–इस्लाम सैय्याद कुतुबुद्दीन बागी उमराओं के साथ मिल गया और बहरामशाह के पतन के बाद मिन्हाज को अपने पद काजी–उल–कजात से हटा दिया।

आधुनिक इतिहासकार **प्रोफेसर के॰ एच॰** निजामी का कहना है कि इल्बरी सुल्तान के वक्त में उलेमाओं ने अपने धार्मिक आदर्श को बाल–ए–ताक रखा दिया था उन लोगों ने राजनीति में हिस्सा लेना शुरू कर दिया था और वे लोग इस हद तक पहुंच चुके थे कि इस्लामी नियमों का उल्लंघन करने में बेझिझक हो गए थे उन्होनें एक आदेश जारी कर के कैकुबाद को नमाज और रोजा रखने की छूट दे दी थी।

सुल्तान बलबन उलेमाओं का आदर करता था और अपनी फौज में जो काज़ी थे उनका बड़ा आदर करता था। उन को धार्मिक उपाधिया भी दी। तुत्ररिल ने जब विद्रोह किया तो तुगरिल के पकड़े जाने के बाद जब बलबन तुगरिल के साथियों को मौत की सजा देना चाहता था तो लश्कर (फौज) के काजी के हस्तक्षेप से उन को माफ कर दिया गया। इस के अलावा बलबन ने भी राज्य में किसी तरह का हस्तक्षेप पसंद नहीं किया। उस ने भी उलेमाओं को साफ कह दिया कि राज्य को चलाने में जरूरी नहीं कि शरीयत का पालन करें।

सुल्तान जलालुद्दीन ने सिधी (Sidi) मौला जिसने की उलेमाओं के साथ मिल कर सुल्तान के साथ विद्रोह किया था को मौत के घाट उतरवा दिया इस से बाकी के उलेमा भयभीत हो गए।

जब अलाउद्दीन सुल्तान बना तो उस ने उलेमाओं के साथ सख्त रवईया अपनाया और उसने

उलेमाओं को अपने दरबार ओर अपने राज्य के मामलों से दूर रखा। समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बरर्नी लिखता है कि काजी गुगिस ने सुल्तान के राज्य को चलाने में शरीयत को न मानने पर ऐतराज किया तो अलाउद्दीन ने साफ शब्दों में ये जवाब दिया कि वो यह नहीं जानता कि जिन नियमों से वह राज्य चला रहा है वो शरीयत के अनुसार सही है या गलत लेकिन वो ये जानता है कि वो समय के अनुसार और राज्य के लिए लाभदायक है। अलाउद्दीन ने जो पुराने शक्ति शाली उलेमा थे उनकी ताकत को उसने दबाया उस ने सद्र–ए–जहान के पद पर किसी आलिम की बजाए मालिक–उल–तुज्जार हमीद मुल्तानी को सद्र–ए–जहान के पद पर नियुक्त किया वह एक निम्न वर्ग था इसलिए उलेमा उसका आदर नहीं करते थे।

मुहम्मद बिन तुगलक ने भी उलेमाओं को कोई खास महत्व नहीं दिया। बरनी और इब्न बतुता के पत्रों से पता चलता है कि वो उलेमाओं की खास परवाह नहीं करता था उसने ऐसे कर लगाए जो शरीयत (इस्लामी कानून) के विरूद्ध थे लेकिन किसी भी आलिम ने इस पर ऐतराज नहीं किया। उस ने जब राजधानी दिल्ली से देवगिरी बदली उसने उलेमाओ को भी मजबूर किया कि वो भी दिल्ली छोड़ कर देवगिरी जाए उनमें से एक शेख फखरूद्दीन जर्रादी था।

सुल्तान फिरोज तुगलक के समय उलेमाओं की ताकत बहुत बढ़ी उस ने उलेमाओं को बहुत महत्व दिया वह स्वयं काफी धार्मिक था और उसने शरीयत के अनुसार कर लगाने की कौशिश की और बहुत सारे महत्वपूर्ण पद उलेमाओं को दिए **बरनी** अपनी **किताब फतवाहे जहादारी** में फिरोज तुगलक की प्रशंसा इस बात की करता है कि वह राज्य का प्रशासन शरीयत के अनुसार चलाता है। उस ने उलेमाओं के प्रभाव में आकर यह हुक्म दिया कि सारे कर शरीयत (इस्लामी कानून) के मुताबिक लगाए जाए।

लोदी सुल्तानों के समय भी उलेमाओं का काफी महत्व रहा समय–समय पर लौदी सुल्तान उलेमाओं से राज्य के मामलों के राय लिया करते थे।

डाक्टर कुंवर अशरफ का कहना है कि उलेमा जिन्होंने राज्य से अपने आप को स्वीकृत किया उन्होनें अपनी इज्जद खो दी उन्होंने सुल्तान को खुश करने के लिए शरीयत की गलत व्याख्या करने में संकोच नहीं किया।

उलेमा का अध्ययन करते हुए हमे इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि सभी उलेमा रुढ़िवादी या संकीर्ण विचारधारा के नहीं थे कुछ उलेमा राज्य के उदारवादी नीति का समर्थन करते थे और राज्य के कट्टरपंथी (राज्य के संकीर्ण विचारधारा) के विरुद्ध थे। जैसे आईन–उल–मुलतानी ने फिरोज तुगलक को इस बात को समझाने की कोशिश की कि शरीयत के अनुसार कर नहीं लगाए जा सकते क्योंकि हम शरीयत के अनुसार खर्च नहीं करते। इसी तरह सिकंदर लोदी के समय में जब सुल्तान ने स्वयं उलेमाओं को बुलाकर के ये राय लेने की कोशिश की कि कुरूक्षेत्र में हिन्दुओं के जो धार्मिक स्थान है उन को विध्दवंस कर दिया जाए लेकिन काजी अब्दुल्ला जो एक वरिष्ठ आलीम थे उन्होनें सुल्तान की इस इरादे को यह कह कर ठुकरा दिया कि हिन्दुओं के जो पुराने धार्मिक स्थान है उनको विध्दवंस नहीं किया जा सकता हांलाकि सुल्तान सिकन्दर लोदी काजी अब्दुल्ल से बहुत नाराज हुआ लेकिन उसने अपना फैसला नहीं बदला।

सयैद

मुसलमान समाज का विशाल जनसमुदाय बाहर से देखने में एक था किन्तु अन्दर से वह पूर्णतः

विभाजित था। उसमें सबसे प्रथम श्रेणी में **सादात** की गिनती होती थी जो कि मुहम्मद साहब की पुत्री फातिमा के वंशज थे तथा जिन्हें मुसलमान समाज बहुत ही आदर की दष्टि से देखता था। दिल्ली सल्तनत की स्थापना से पूर्व और उसके बाद अनेक सैय्यद व ग़ैर सैय्यदों की संख्या कितनी थी, किन्तु निःसन्देह वे देश के विभिन्न भागों में फैले हुए थे।

इस्लाम में मुहम्मद साहब के परिवार के विरुद्ध शत्रुता ग़ैर–कानूनी थी और **सादात** को बुरा–भला कहना वर्जित था। इल्तुतमिश ने अपने पुत्र को आदेश दिये थे कि मुहम्मद साहब के वंशजों के प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करना एक नियम व इस्लाम का आधार समझे। अपने राज्यकाल के प्रारम्भ में उसने सैय्यदों को हज़ारों व लाखों तन्के इनाम में दिये। बलबनी वंश का इतिहास लिखते समय बरनी ने कुछ सैय्यदों का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि बलबन के समय यदि नगर में कोई सैय्यद परलोक सिधार जाता था तो बलबन उसके जनाज़े के निकलने के समय उपस्थित रहता था। वह जनाज़े की नमाज़ पढ़ता और उसके तीज़े में सम्मिलित होता था। वह उसके भाइयों तथा पुत्रों को वस्त्र प्रदान करता था। अलाई काल के सैय्यदों का उल्लेख करते हुए उसने लिखा है कि उस समय बड़े–बड़े सैय्यद विद्यमान थे। सभी लोग उनके वंश को उत्कृष्ट समझते थे और उनके चरित्र से प्रभावित थे। उन सैय्यदों में से सैय्यद ताजुद्दीन व सैय्यद रुकुनुद्दीन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सैय्यद ताजुद्दीन के पिता सैय्यद कुतुबद्दीन तथा उनके दादा सैय्यद अइज्जुद्दीन बदायूँ के काज़ी रह चुके थे और वर्षों तक अवध की कज़ा कार्य उनके हाथों में रहा। अलाउद्दीन खिलजी ने सैय्यद ताजुद्दीन को अवध से हटाकर बदायूँ का काज़ी बना दिया। सैय्यद ताजुद्दीन का भतीजा सैय्यद रुकुनुद्दीन कड़े का काज़ी था। वे करामात या चमत्कार भी दिखाते थे और सभा भी करते थे। **बरनी** दोनों सैय्यदों से मिला और उसने उनके पैर भी छुए। वह उनसे बहुत ही प्रभावित था। **बरनी** ने कैथल के सैय्यदों का विवरण देते हुए लिखा है कि सैय्यद मुग़ीसउद्दीन और उसके बड़े भाई सैय्यद मुजीउद्दीन काली पगड़ी वाले थे और वे ज्ञान, धर्मनिष्ठता, भगवान की भक्ति के लिए प्रसिद्ध थे। इसी वंश का सैय्यद जलालुद्दीन कैथली भी बहुत प्रसिद्ध था। **बरनी** का पिता उसकी पुत्री का नाती था। इस काल में लुहता के सैय्यद भी प्रसिद्ध थे। दिल्ली के सभी विद्वान उन पर गर्व किया करते थे। अलाई राज्य–काल के प्रारम्भ में गरदेज़ के सैय्यदों में सैय्यद छज्जू तथा सैय्यद अजली के पूर्वज बहुत की प्रसिद्ध थे। सैय्यद मजीउद्दीन चुनारी, सैय्यद अलाउद्दीन ज्यूरी, सैय्यद अलाउद्दीन पानीपती, सैय्यद हसन व सैय्यद मुबारक अपने समय के बड़े–बड़े विद्वान थे और लोगों को शिक्षा प्रदान किया करते थे। उनके अतिरिक्त मलिक मुइनुद्दीन, मलि ताजुउद्दीन जाफर, मलिक जलालुद्दीन, मलिक जमाल तथा सैय्यद अली भी अपनी पवित्रता व विद्वता के लिए प्रसिद्ध थे। बदायूँ व ब्याना के सैय्यद अपने वंश के लिए प्रसिद्ध थे। अलाई राज्यकाल में इन सैय्यदों में कज़ा विभाग (न्याय विभाग) में तीन सैय्यद उच्च पदाधिकारी नियुक्त हुए–दाउद मलिक का पिता काज़ी सद्रद्दीन आरिफ जो कि मिनहाज़ की पुत्री का नाती था तथा वर्षों तक उपकाज़ी के पद पर रहा और उसके बाद सद्रजहाँ नियुक्त हो गया। दूसरा सैय्यद काज़ी जलालुद्दीन बल्बलजी था जिसकी नियुक्ति नायब काज़ी के पद पर हुई और तीसरा सैय्यद मौलाना जियाउद्दीन ब्याना था। इस प्रकार से समस्त अलाई काल में उन्हें श्रद्धा की दष्टि से देखा जाता था।

मुहम्मद तुग़लक ने गद्दी पर बैठने के बाद सैय्यदों का मान–सम्मान किया। उसने सैय्यद अज़दुद्दौला को 40 लाख तन्के उपहार में दिये। **इब्नबतूता** सैय्यदों को शुराफा कहता है और उसने लिखा है कि भारतवर्ष में अरब वासियों को सैय्यद कह कर सम्बोधित किया जाता था। आरम्भ से ही सैय्यदों के प्रति निष्ठा प्रकट करने की भावना यहाँ के लोगों में प्रबल थी। जब बिहार के

महान् सन्त **हज़रत सरफुद्दीन यहिया मनेरी** के पास एक सैय्यद 10 मुहर्रम को पहुँचा तो उसने कहा कि उसका यह परम कर्तव्य है कि वह उस सैय्यद के घर पर जाकर उसके पूर्वज ईमाम हुसैन के बलिदान के सम्बन्ध में शोक प्रकट करें। तैमूर भी सैय्यदों का आदर करता था। भटनेर की घेराबन्दी के समय वहाँ के राय दल चैन ने एक सैय्यद को तैमूर के पास भेजा कि वह घेरा उठा ले और युद्ध बन्द कर दे। तैमूर ने उस बूढ़े सैय्यद के प्रति कृतघ्नता प्रकट की और अपने सैनिकों को युद्ध बन्द करने का आदेश दिया। जाटों का दमन करने के उपरान्त अनेक सैय्यद तैमूर के सन्मुख उपस्थित हुए। तैमूर ने उनका स्वागत किया और उन्हें शरण दी। उसने उन्हें बहुमूल्य खिलअत प्रदान की और उनके साथ अपना निजी अधिकारी इस आशय से भेजा कि वह तैमूरी सैनिकों से उनकी रक्षा करे। तैमूर ने उन्हें करा धन से भी मुक्त कर दिया। उसने जब दिल्ली में नरसंहार के लिए आदेश दिये तो सैय्यदों का विशेष ध्यान रखा। उसने आदेश दिये कि उनको छोड़ दिया जाए और उनकी सुरक्षा का पूरा ध्यान रखा जाए।

शासक वर्ग तो सैय्यदों का आदर करता ही था और उन्हें श्रद्धा की दष्टि से देखता था, किन्तु साथ ही साथ सूफी सन्तों की आस्था भी उनके प्रति कम न थी। पन्द्रहवीं शताब्दी में मनिकपुर के महान् सूफी सन्त हजरत हिसासुद्दीन ने अपने शिष्य सैय्यद हमीद राजा को कभी भी आज्ञा न दी कि वह उसके सेवा करे क्योंकि वह एक सैय्यद था। **रिज़ाकुल्लाह मुश्ताकी** के अनुसार सुल्तान सिकन्दर लोदी के राज्यकाल में किसी सैय्यद ने भू–राजस्व गबन कर लिया था। जब वह मामला सुल्तान के सन्मुख आया तो उसने न केवल उसे माफ कर दिया वरन् वह धन उसी के पास रहने दिया। किन्तु बहुत ही कम ऐसे सैय्यद थे, जो कि बेईमान, झूठे, फरेबी हों। उनमें से शत–प्रतिशत, पवित्र, निष्ठावान, ईश्वर के प्रति भय रखने वाले, विनम्र, सौम्य ग्रहण किया या उन्होंने न्याय–विभाग में कार्य करना अपनी प्रतिष्ठा के अनुकूल समझा। उनकी आर्थिक दशा कई बातों पर निर्भर करती थी। जब कभी सुल्तान की कृपा–दष्टि उन पर पड़ी तो उन्हें सुखी जीवन व्यतीत करने का अवसर मिला, अन्यथा वे आर्थिक कठिनाइयों के कारण साधारण जीवन व्यतीत करते रहे। **अफीफ** ने उनकी दशा का विवरण देते हुए लिखा है कि सैय्यद अपनी पुत्रियों का विवाह अल्पावस्था में ही कर दिया करते थे। क्योंकि उनके पास धन की कमी नहीं रहती थी, जिसके पास धन न होता था उन्हें उनकी पुत्रियों के विवाह के लिए राजकोष से धन मिलता था। निःसन्देह इस समय उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होने का मुख्य कारण यह था कि सुल्तान ने उन्हें वत्तियाँ, धन, गाँव, वज़ीफे आदि प्रदान कर दिये थे।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रत्येक सैय्यद में एक विलक्षण पवित्रता का समावेश है क्योंकि वे पैगम्बर के कथित वंशज हैं। अब्बासिदों के अभ्युत्थान और इस्लाम में शिया आंदोलनों के प्रसार ने सैय्यदों की नैतिक स्थिति को दढ़ बनाने में बहुत योग दिया है। प्रत्येक सैय्यद पैगम्बर के परिवार का वंशज होने के नाते साहसी, सत्यवादी, पवित्र व अन्य श्रेष्ठ गुणों से युक्त माना जाता था और ऐसा विश्वास किया जाता था कि सैय्यदों को तंत्र विद्याओं और आलौकिक रहस्यों का ज्ञान है। 1398 ई. में तैमूर के आक्रमण के पश्चात् दिल्ली के सिंहासन पर एक राजवंश स्थापित करने में सैय्यद एक बार सफल भी हुए पर जैसा कि **के. एम. अशरफ** लिखते हैं कि दुर्भाग्य से वे इस कार्य के लिए अयोग्य थे और उनके अंतिम शासक ने चुपचाप सिंहासन त्याग दिया। राजनैतिक शक्ति का पतन होने के बावजूद एक वर्ग के रूप में सैय्यदों की सामाजिक स्थिति को आघात नहीं पहुँचा और अफगान उत्तराधिकारियों ने सैय्यदों को दी गई रियासतों और विशेष सुविधाओं का आदर किया।

सूफी

एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग जो समाज में मनन और ध्यान की ओर प्रेरित कर रहा था। तथा इनका समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान था, वह था सूफियों का सूफी अंतर्ज्ञानी और आध्यात्मिक प्रयासों के द्वारा उस ईश्वर के साथ आत्मसात होने की आंतरिक अनुभूति की बात करता है।

इस्लाम के रहस्यवादी पक्ष का प्रतिपादन किया जिसके अनुसार अल्लाह की अर्चना, आराधना, निश्चितता के साथ होनी चाहिए। अतः यह माना जाना चाहिए कि या तो आराधक अल्लाह को देख रहा है या अल्लाह आराधक को सल्तनत काल के दौरान सूफी गठबंधन उलमा–सैनिक नेता गठबंधनों की काट सिद्ध हुआ। सूफियों ने ईसाइ धर्म, बौद्ध धार्मिक मत, नव प्लेटोवाद और उपनिषद की अवधारणाओं को अपने विचारों के दायरे में शामिल किया।

कुछ विद्वावानों का कहना है कि सूफी शब्द की **उत्पत्ति सुफ़ (ऊन) से हुई है।** आरम्भिक संत बारीक सूती व रेशमी वस्त्रों की जगह ऊनी वस्त्र पहनते थे। यह भी समझा जाता है कि सूफी शब्द की उत्पत्ति **'सफा'** शब्द से हुई है। सफा अर्थ है 'शुद्ध'। यह भी माना जाता है कि हज़रत मौहम्मद साहब अपने साथियों के साथ 'सुफा' नामक गुफा में भगवान को याद किया करते और इसी शब्द से सूफी बना है। सूफी अनेक सिलसिलों में विभक्त थे और प्रत्येक सिलसिला किसी पीर/शेख/ख्वाजा के नेतत्व में काम करता था। जिनका खानकाह (कुटी) उनकी सारी गतिविधियों का केन्द्र होता था। शिष्यों को भिन्न–भिन्न कोटियों में श्रेणीबद्ध किया जाता था जिनके सबसे ऊपर की कोटि के शिष्य इबादतों में पीर का साथ देते थे। यदा–कदा खानकाहो में ठहरने और खाने–पीने की व्यवस्था भी होती थी। उनके मकबरे पवित्र पूजास्थल बन जाते थे। पीर वली के रूप में अपना उत्तराधिकारी नियुक्त करता था।

आरम्भ में सूफी स्वयं को प्रार्थना, उपवास जिक्र (ईश्वर के नामों का उच्चारण) समा (धार्मिक गायन जो परमानंद की स्थिति प्रदान करता था) तथा तवज्जुह (आध्यात्मिक संपर्क और सासांरिक में समर्थ हो सकता था) के प्रति समर्पित कर देते थे। उन्होंने **वहदात-उल-वजूद (अस्तित्व की अपरिहयिता)** से पांच चरणों के उद्भव की खोज की: **(1) अहदिया चरण** (आदिपुरूष का सार) **(2) वहदानिया चरण** (ईश्वर की एकता); **(3) अरवाह से उद्भव** (जो अपरिमित रूपों का पुंज है); **(4) मिसाल** (साम्य या देवदूतो के स्वरूप); **(5) अजसाम** (भौतिक संसार के शरीर)।

भारत में सूफी विचारधारा का अत्यन्त महत्व है। सूफी विचारधारा वास्तव में सभी धर्मों के मानने वालो को सहअस्तित्व का ज्ञान देती है। सूफी विचारधारा में समानता नहीं थी इसमें भी कई अलग–अलग विचारधाराएं थी। इन अलग–अलग विचारधाराओं को **'सिलसिला'** कहा जाता है। 13वीं शताब्दी तक आते–आते सूफी विचारधारा चौदह सिलसिलों में विभक्त हो गया। **अबुल फज़ल** ने अपनी किताब **आईन-ए-अकबरी** में भी सूफी मत के चौदह सिलसिले गिनवाए है।

सुहरावर्दी सिलसिला : वे शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी के शिष्य ये जो भारत में आकर बस गए थे। इनमें बहाउद्दीन जकरिया सबसे महत्वपूर्ण थे। उनका जन्म मुल्तान के समीप कोट करोड में 1182 ई० में हुआ था। वे आम आदमियों से नहीं मिलते–जुलते थे और कलंदरो के विरोधी थे। उन्होनें कुबाचा के खिलाफ मुल्तान में इल्तुतमिश को आमंत्रित किया इल्तुतमिश ने उन्हें शेख उल इस्लाम (इस्लाम का प्रमुख पदाधिकारी) की उपधि दी उन्होने काफी धन दौलत

हासिल किया। उन्होने अपने को दरबार से जोड़ लिया इसके बाद से सुहरवर्दी सिलसिले शासन व्यवस्था से जुड़े रहे ओर राजनैतिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे। शेख रूकनुद्दीन इस सिलसिले का महान संत था। जिसे दिल्ली के सुल्तानों ने खून सम्मान दिया। उसके अनुसार एक सूफी के पास तीन चीजे होनी चाहिए संपत्ति **सम्पत्ति** (कलंदर की भौतिक मांगों की पूर्ति के लिए) **ज्ञान** (उलेमा के साथ प्रश्नों पर विद्वतापूर्वक बहस करने के लिए) और **हाल** (रहस्यवादी अंतर्ज्ञान, दूसरे सूफियों को प्रभावित करने के लिए) उसकी मत्यु (1334-35), के बाद सुहरवर्दी सिलसिला मुल्तान के बाहर अन्य प्रातों में भी विकसित हुआ और कच्छ से गुजरात, पंजाब कश्मीर और यहाँ तक की दिल्ली तक फैला।

फिरोजशाह तुगलक के अधीन इस सिलसिले को सैयद जलालुद्दीन बुखारी ने प्रतिष्ठा दिलवाई वह एक कट्टर और शुद्धतावादी मुस्लमान था और मुस्लिम सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं पर हिन्दुओं के बढ़ते प्रभाव का विरोध करता था। कुतुब आलम और शाह आलम इस सिलसिले के प्रमुख संत है इन्होने अपने समय के राजनितिक शासकों को प्रभावित किया था।

फिरदौसिया सिलसिला : यह सुहरवर्दीयों के साथ विकसित होने वाला सिलसिला था। जिसे सबसे पहले बद्रुद्दीन समरकंदी ने दिल्ली में स्थापित किया। बाद में वे बिहार चले गए। शरफुद्दीन अहमद मुनैरी (पटना के निकट मनेर के) सबसे महत्वपूर्ण सूफी थे जिन्होने फिरोजशाह तुगलक द्वारा काकुई और अहमद बिहारी नामक दो सूफियों की हत्या का विरोध किया। वे बहुदेवादी एकेश्वरवाद में विश्वास करते थे।

चिश्तिया सिलसिला : यह अपनी उत्पत्ति की दष्टि से मूलतः भारतीय था। भारत में इसकी स्थापना ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती ने की थी। उनका जन्म सिजिस्तान में हुआ था पर वे अजमेर में बस गए और 1206 ई० में वही उनका देहावसान हुआ। उन्होने टिप्पणी की थी 'अब काबा मेरे ईर्द–गिर्द घूमता है'। उनके शिष्य हमीदुद्दीन नागौरी (राजस्थान में) अपनी पत्नी के साथ किसान का जीवन बिताते थे और हिन्दुओं को काफिर नहीं कहते थे। उनके उत्तराधिकारी उनके पुत्र फरीदुद्दीन महमूद थे (मुहम्मद बिन तुगलक उनका भक्त था और उसने अपनी पुत्री का विवाह महमूद के पौत्र से किया।) फरीद के शिष्य जियाउद्दीन नक्रांबदी ने चितामणि भट्ट की कृति शुक–सप्तति का (तूतीनामा के रूप में) और कोकपड़ित के रति रहस्य (यौनविषयक पुस्तक) का अनुवाद किया। प्रोफेसर **अतहर अब्बास रिजवी** का मत है कि सूफी विचारधारा में जो सिलसिले बने वो भारत की देन है।

दिल्ली में मुइनुद्दीन चिश्ती के शिष्य कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी थे। उनके शिष्य बाबा फरीद गंज–ए–शंकर पंजाब के अजोधन नामक स्थान पर चले गए जहां उन्होने एक जमात खाना का निर्माण करवाया। यह 'जमात खाना' एक बड़ा कमरा होता था जिसमें लोग एकान्त में अकेले बैठकर भगवान की वंदना करते थे। वे सुल्तान मुबारक शाह खिलजी और गियासुद्दीन तुगलक के घोर विरोधी थे। खुसरो खां ने सूफियों को उपहार दिए जो निजामुद्दीन औलिया को प्राप्त हुए गियासुद्दीन तुगलक ने उन्हें वापस मांगा पर चूंकि शेख ने उन्हें बाट दिया था, वे वापस नहीं लौटाए जा सकते थे। व दार्शनिकों के विरोधी थे। उनके उत्तराधिकारी नासिरूद्दीन चिराग–ए–दिल्ली थे जिनका मुहम्मद बिन तुगलक से मतभेद हो गया था। एक कलंदर ने उनकी हत्या करने की कौशिश की चूंकि वह अपने शिष्य को अपना उत्तराधिकारी होने लायक नहीं मानते थे, उन्होने किसी को उत्तराधिकारी नहीं बनाया। उनकी उक्तिंया **खायसल मजलिस** को

संकलित है। उलेमाओं के दबाव के कारण फिरोज शाह तुगलक से सम्बन्ध मसूदी बक्क की हत्या कर दी गई।

बुरहानुद्दीन गरीब (निजामुद्दीन औलिया के शिष्य के खलीफ़ा) को मुहम्मद बिन तुगलक ने विवश करके दौलताबाद भेज दिया। चिराग के शिष्य मुहम्मद बिन युसुफ अल–हुसैनी (जिन्हें बंदानवाज या मीर गेसू दराज़ कहते हैं) गुलबर्गा चले गए उन्होने बाद में वहदात–उल–शहूद का सिद्धांत स्वीकार कर लिया जो वहदात उल वजूद का विरोधी था।

चिश्तिया की साबरी शाखा : इलाहाबाद के अहमद अब्दुल हक मुहीबुल्लाह, अमरोहा के अब्दुल मालियंद अब्दुल हादी।

विद्रोही शाहजोद खुसरो को आशीर्वाद देने के कारण जहांगीर ने निजाम थानेदार को निर्वासित कर दिया।

सलीप चिश्ती की प्रार्थनाओं के बाद अकबर को पुत्र की प्राप्ति हुई। मुहीबुल्ला मुबारिज़ इलाहबादी सबसे प्रबुद्ध सूफी थे जिन्होने **रिसाला-ए-तस्बीया** लिखी जो बहुदेबवादी दर्शन पर केन्द्रित है।

खवाजा फरीदउद्दीन मसूद ख्वाजा कुतुबुद्दीन के खलीफा (उत्तराधिकारी) थे। उन्होनें अपने को राजनेताओं और धनी तथा शक्तिशाली व्यक्तियों से अलग रखा उसने अपने शिष्य सैयदी मौला को सलाह दी थी : **"राजाओं और कुलीनों से मित्रता मत करो। उनके घर जाना तुम्हारे लिए घातक होगा (तुम्हारे ज्ञान के लिए) राजाओं और कुलीनों से मित्रता करने वह हर दरवेश का अंत बुरा होता है।"**

ऐसा ही संदेश उन्होनें अपने प्रमुख शिष्य शेख निजामुद्दीन औलिया को भेजा था और कहा कि राजाओं से दूर रहो। बाबा फरीद का 1265 में 93 वर्ष की आयु में देहावसान हुआ।

शेख निजामुद्दीन उनके प्रमुख शिष्य थे हालांकि उनके जीवन काल में दिल्ली में सात सुल्तानों का शासन हुआ पर उन्होने कभी दरबार के अंदर कदम नहीं रखा। शेख के उदारवादी दष्टिकोण और संगीत से उनके जुड़ाव के कारण कट्टरपंथी उलेमाओं ने उनकी निंदा की। 1325 में उनकी मत्यु के बाद भी शेख को बहुत सम्मान मिला।

शेख निजामुद्दीन का यह प्रेम का संदेश उनके शिष्यों द्वारा देरा के कोन–कोने में ले जाया गया। शेख सिराजुद्दीन उस्मानी इस संदेश को बंगाल तक ले गये। शेख अलाउद्दीन अलाउल हक उनके उत्तराधिकारी बने और वह पूर्वी भारत में इस संदेश का प्रचार करते रहे। शेख निजामुद्दीन के एक अन्य शिष्य शेख बुरहानुद्दीन दौलताबाद में बस गए और वहाँ उनके शिष्य शेख जैनुद्दीन और शाह बरकतुल्ला ने समानता और मानवता का संदेश फैलाया ये लोग आंतरिक प्रकाश और हृदय के धर्म के प्रचारक और पुजारी थे।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि सूफियों की अपने गूढ़ ज्ञान के बावजूद मुस्लिम संत जीवन के यर्थाथ से कटे हुए नहीं थे। और हम देखते है कि राजाओं के द्वारा भी इनका बहुत सम्मान किया जाता था। तथा समाज में इनकी अहम भूमिका थी सुहरवर्दी और चिश्तिया सिलसिले में मूल अन्तर यह है कि सुहरवर्दी राज्य और सुल्तानों से सम्बंध रखने को बुरा नहीं मानते थे। सुल्तानों से ईनाम व पद वगैरा भी स्वीकार करना बुरा नहीं समझते थे जब कि चिश्ती सिलसिला के सूफी राजा से संबंध रखना, ईनाम या कोई पद लेना अच्छा नहीं मानते थे।

कुब्राविया सिलसिला : इसका मुख्य केन्द्र कश्मीर या और इसके प्रवर्तक अलाउधौला सिमानी के शिष्य मीर सैयद अली हमादानी थे जिन्होंने वहदात उल शह्त् (ज्ञान या चेतना की एकता) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार जीव और ईश्वर एक नहीं हो सकते हैं। हमादानी अत्यंत उत्साही धर्म प्रचारक थे और उन्होने काली के एक मंदिर को तोड़ दिया था जिस पर उनका चबूतरा बनाया गया। मत्यु के बाद उन्हें वाजिकिस्तान के खट्टलाना नामक स्थान पर दफनाया गया। सुल्तान सिकंदर (कश्मीर के) और उसका मंत्री सैकुद्दीन (पहले शुआ भट्ट नामक ब्राह्मण) मीर मुहम्मद के शिष्य थे। उन्होंने बहुत से मंदिर तोड़े जजिया लगाया और बलात धर्म परिवर्तन किया। बाद में सुल्तान सिकन्दर ने पश्चाताप करते हुए धर्म परिवर्तन बंद कर दिया और तरूराकानदंड (जजिया) समाप्त कर दिया। जैनुल आबिदीन के संरक्षण में बैहागी सैयदो ने सुन्नी कट्टरपंथ को कुचलने के उसके कदम का समर्थन किया।

शत्तारी सिलसिला : 15वीं सदी में शाह अब्दुल शत्तार ने जिन्हें 'दूतगामी' कहा जाता था। इसकी स्थापना की उन्हें माडू में दफनाया गया था। गुजरात के सुल्तान गियासुद्दीन शाह उनके सरंक्षक थे। मुहम्मद गौस (या गौठ) एक अन्य प्रमुख संत थे जिन्हें हुमायू का संरक्षण प्राप्त था। वे पहले चुनार और फिर ग्वालियर मे रहे। तानसेन उनके शिष्य थे। उन्होने मुस्लिम और हिन्दू रहस्यावाद को सयोजित किया, तांत्रिक आचार–व्यवहार सीखे और योग सम्बंधी ग्रंथ बहरुल हयात और अमत कुंड का पुनः अनुवाद किया। यह सिलसिला सीरिया मलेशिया और इंडोनेशिया में शुरू किया गया। शेख बुरहानुद्दीन धनी लोगो से नहीं मिलते थे और इसलिए उन्होने शाहजादा औरंगजेब से मिलने से इंनकार कर दिया।

कादरिया सिलसिला : कादरी सिलसिला के संस्थापक बगदाद के शेख अब्दुल कादिर जिलानी (मत्यु 1166) थे। पश्चिमी अफ्रिका और मध्य एशिया के बीच इस्लाम के प्रसार में इस सिलसिले ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। 15 वीं शताब्दी के मध्य में शाह निआमतुल्लाह और मखदूम मौहम्मद जिलानी इस सिलसिले को लेकर भारत आए। इस परिवार के एक सदस्य शेख मूसा ने अकबर की सेवा स्वीकार कर ली पर उनके भाई शेख अब्दुल कादिर ने सरकारी सेवा स्वीकार नहीं की। मूसा अकबर के मनसबदार बनें।

मिया मीर (सरहिन्द और लाहौर) ने जहांगीर को प्रभावित किया और उसे बारहसिंधा की खाल भेंट के रूप में दी। उनके शिष्य मुल्लाशाह बदख्शी ने कहा जो काफिर सत्य को समझ लेता है वह आस्थावान है और जो आस्थावान व्यक्ति सत्य को नहीं समझ पाता हे वह बुतारीकन अर्थात मूर्तिभंजक होने के बावजूद काफिर है। दारा रिकोह उसकी बहन जहांआरा उसके शिष्य बने। औरंगजेब ने उसे केवल लाहौर में ही रहने का आदेश दिया।

दाराशिकोह ने **सकीनातुअल अवलिया** (सूफियों और खासकर मिया मीर और मुल्ला शाह की जीवनिया) **हसानातुअल अरिफीन** (सफ़ लोकोक्तियाँ) और **मजमाउल बहरैन** (दो सागरों का मिलन) लिखी। अंतिम पुस्तक में उसने सिद्ध किया कि उपनिषद की अवधारणाएं और सूफी अवधारणाए बिल्कुल एक जैसी है इस कृति के लिए उलेमा ने उसके नाम से मत्युदण्ड का फतवा सुनाया। उसने **सिर्र-ए-अकबर** के रूप में उपनिषद का अनुवाद भी किया। जहांआरा बेगम ने जिसे बेगम साहिबा कहा जाता था, ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती की एक जीवनी के अलावा साहिबया नाम से मुल्ला शाह की भी एक जीवनी लिखी। उसने बंदीगह में शाहजहां की सेवा की और बाद में राज्य के मामलों में औरंगजेब को सलाह दिए। वह आजीवन अविवाहित रही।

नक्शबंदी सिलसिला

भारत नक्शबंदी सिलसिले की शुरूआत ख्वाजा बाकी बिल्लाह (1563-1603) ने की। इस सिलसिले के संस्थापक ख्वाजा बहाउद्दीन नक्राबंदी (1317-1389) थे। बाकी बिल्लाह इस सम्प्रदाय के 7 वें उत्तराधिकारी थे। आरंभ से इस सिलसिले के संतो ने इस्लाम के कानून (शरियत) पर काफी बल दिया। और उन सभी बिद्दतो (धर्म में नई प्रथाओं का प्रयोग) की जमकर आलोचना की जिससे इस्लाम की शुद्धता पर आंच आती थी। इस प्रकार इसे वहादत उल वजूद के सिद्धांतों के खिलाफ एक प्रक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। ख्वाजा बाकी बिल्लाह के प्रमुख शिष्य शेख अहमद सराहिंदी ने इस सिद्धांत की जमकर आलोचना की। अहमद सरहिन्दी अबुल फजल से घणा करता था। उसने **रद्द-ए-खाफिज़** शिया लोगो के विरूद्ध, इबात उल नुबुब्बा मांबदा वा माद (वहदात–उल–वजूद और गणित के बहुदेववादी दर्शन के विपरीत वहदात–उल–सहूद पर आधारित) लिखी और मिया मीर का विरोध किया। वह जजिया और गोवहत्या का समर्थन तथा शिया–विरोधी था। उसने उलमा और सूफियों की निंदा की और उन्हें सुन्नी कट्टरपंथ से विपथन के लिए दोषी ठहराया। उसका विश्वास था कि वह मुजाहिद (इस्लाम नवजागरण का अग्रदूत) है जिसे ईश्वर ने पथ्वी पर सुन्नी रुढ़िवादी और शुद्धतावाद को पुर्नजीवित करने के लिए भेजा है। जहांगीर ने स्वर्ग से अपनी रहस्यपूर्ण उत्पत्ति का दावा करने के कारण उसे बंदी बना लिया उसके बेटे कैयूम (शारवत) मुहम्मद मासूम और मुहम्मद सईद औरंगजेब के सामाजिक थे। औरंगजेब ने कैयूम मासूम को सरंक्षण दिया और उसने इस सिलसिले में प्रवेश किया पर बाद में औरंगाबाद में जो उलमा का मुजादिदिया विरोधी केन्द्र था, उनके उपदेश पर प्रतिबंध लगा दिया। मक्का के रोरिफ ने औरंगजेब को लिखा कि शेख अहमद सिराहिन्दी और उसके शिष्य नास्तिक है। 18वीं सदी में मिर्जा मजहर और ख्वाजा मीर दर्द ने नकराबंदी सिलसिले को पुर्नजीवित किया। मिर्जा मजहर द्वारा रचित कालिमात–ए–तथ्यीबाती ने सरहिन्दी का खण्डन किया, आत्मा के पुनर्जन्म के पक्ष में तर्क दिया, वेदों को प्रवित्र धर्मग्रंथों की कोटि में रखा और राम तथा कृष्ण को पैगंबर माना।

शाह वलीउल्लाह (1702-1762) एक जाने माने विद्वान और नक्शबंदी सिलसिले के एक प्रमुख संत थे। उन्होंने वहदत उल वजूद ओर वहदत उल शहूद के दोनों सिद्धांतों को एक साथ मिलने की कोशिश की क्योंकि उसका मानना था कि इन दोनों सिद्धांतों में कोई मूलभूत अंतर नहीं है। उनके अनुसार इन दोनों विचारों में ईश्वर का अनुभव करने का तत्व छिपा हुआ है और ईश्वर का अस्तित्व स्वतंत्र है। इस संसार का अस्तित्व सत्य नहीं है और इसे काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता है। उनका यह भी मानना है कि यथार्थ एक ही है जो उनके रूपों में परिलक्षित होता है। इसके बावजूद अगर कहीं थोड़ी बहुत भिन्नता है। यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है।

ख्वाजा मीर–दर्द एक प्रमुख उर्द कवि के साथ–साथ नक्शबंदी सिलसिले के एक प्रमुख संत थे। वह शाह वलीउल्लाह के समकालीन थे। अपने आंतरिक अनुभव के प्रकाश से उन्होने वहादत–उल–वजूद की भी आलोचना की थी। उनके अनुसार आनंदातिरेक के नशे में सूफियों ने इस सिद्धांत की स्थापना की थी। अतः इस प्रकार का सिद्धांत न्यायोचित नहीं है। उन्होंने वहदत–'उल–वजूद में आस्था रखने वाले लोगों की यह कहकर आलोचना की कि उन्हें यथार्थ का कोई ज्ञान नहीं है। उनका यह भी मानना था कि ईश्वर के समक्ष दास बनकर ही पहुँचा जा सकता है।

ऋषि सिलसिला

कश्मीर में एक सूफी सिलसिला जो ऋषि सिलसिला के नाम से जाना जाता है इस के जनक शेख नुरूद्दीन और लल्ला माने जाते हैं लल्ला एक हिन्दू योगनी थी। लल्ला के दोहों से और नुरूद्दीन के रवैये से पता लगता है कि कश्मीर में जो रूढ़ीवादीता थी उन्होने उसकी आलोचना की उन्होने ब्राह्मणों और उलेमाओं की भी आलोचना की उन्होने आम आदमियों के सामाजिक शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। इस तरह से लल्ला और नुरूद्दीन हिन्दू–मुस्लिम को एक दूसरे के नजदीक लाए और कश्मीर में एक मिल–जुली संस्कृति को जन्म दिया। लल्ला ने सूफी विचाधारा को जो मूल समानता ओर भाई–चारे की भावना को उजागर किया। लल्ला ने मूर्तिपूजा का विरोध किया। लल्ला ने सूफियों के चमत्कारल दिखाने की जो परम्परा थी उसका विरोध किया उसका यह कहना था कि मैं धोखा व असत्य चलाकी को त्यागती हूँ और में अपने दिमाग से सब लोगो में एक भावना को देखती हूँ अब में किस तरह से इंसान से इंसान में फर्क कर सकती हूँ और कोई मेरा भाई मुझे खाना दे मैं उसको लेने से मना कर सकती हँ। ऋषि सिलसिला की खास देन उन की सम्नवय की विचारधारा है उन का यह कहना कि हम एक ही माता–पिता की औलाद है तो हम एक दूसरे से अपने को अलग क्यों समझे, आओ हिन्दू और मुस्लमान हम दोनों खुदा की तारीफ करे, हम इस दुनिया में सहपाठी की तरह आए है,

हम अपने दुख–सुख को एक दूसरे में बांटे,।

भारत में सूफी विचारधारा एक उदारवादी विचारधारा थी। सूफियों ने इस्लाम के असूलों का बगैर खण्डन किए। हिन्दुस्तान की संस्कृति को अपनाया एवं एक दूसरे को जोड़ा। सूफी शेख चिश्ती शेख फरीद चिल्ला–ए–माकुस जो उन्होनें उर्ध्दमुर्ति साधुओं से सीखा, किया करते थे। हांलाकि ये चलन इस्लाम धर्म के विरूद्ध है चूंकि इस्लाम में भूखे रहना और अपने शरीर को यातना पहुँचाना सख्त माना है। चिश्ती सूफी समा (सूफी संगीत) किया करते थे हांलाकि संगीत नाचना–गाना रूढ़ीवादी विचारधारा के उलेमा इस्लाम के विरूद्ध समझते थे। लेकिन सूफियों ने हिन्दूस्तानी परम्परा को अपनाकर इस संगीत में भगवान को देखा इसीलिए प्रोफेसर **मुजीब** का कहना है कि हिन्दूस्तान में वो इस्लाम है जो सूफियों ने बनाया इसी सूफी विचारधारा की इन्सानियत के सिद्धांत से अकबर व दाराशिकोह प्रभावित हुए।

अध्याय - 3
(ग) मध्यम वर्ग
(c) Middle Class

मुसलमानों ने समाज के सम्भ्रान्त एवं गणमान्य व्यक्तियों में **अजलफ** (निम्न व अवर वर्ग के नागरिक) एवं पेशेवर तथा **अशरफ** (अभिजात, भ्रदजन) का सिद्धान्त प्रतिपादित करके उमरावर्ग तथा धार्मिक वर्ग के नीचे शेष जनता के सर्वसाधारण की कोटि में रख दिया। इस सर्वसाधारण में मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग के लोग थे। दिल्ली सल्लनत की स्थापना के प्रारम्भिक वर्षों में प्रशासन का स्वरूप मुख्यतः सैनिक ही रहा। उसे सुदढ़ बनाने तथा संगठित करने की आवश्यकता ने दिल्ली के सुल्तानों को बाध्य कर दिया कि वे दीवानी एवं न्याय–व्यवस्था की ओर ध्यान दें। भू–राजस्व व न्याय दोनों ही साम्राज्य के आधार स्तम्भ थे। ऐबक ने एक ओर उच्च सरकारी पदाधिकारी जैसे कि **अमीर-ए-शिकार** य **अमीर-ए-दाद** इत्यादि पदों की स्थापना की तो दूसरी ओर घरेलू कर्मचारियों के लिए कुछ पदों जैसे कि सरजानदार (अंगरक्षक) इत्यादि की स्थापना की। इल्तुतमिश के शासनकाल से राजतन्त्र का प्रारूप सामने आने लगा। उसने भी विदेशों से आने वाले अप्रवासी मुसलमानों तथा दासों को अनेक नवीन पद स्थापित करके उन पर नियुक्त किया। उच्च पदों पर अमीरों तथा साधारण व्यक्तियों की निम्न पदों पर नियुक्तियाँ की गई। जो व्यक्ति **दबीर,** मुशरिफ–ए–मुगालक, **शराबदार शहना-ए-पील, शहना-ए-आखूर,** कोतवाल आदि–आदि विभिन्न पदों पर नियुक्त किए गए वे समाज के मध्य वर्ग के थे जिनमें से अनेक ने कालान्तर में उन्नति करके उमरावर्ग में प्रवेश किया। जो उन्नति नहीं कर सके वे मध्य वर्ग के सदस्य बने रहे। सैनिक व दीवानी विभागों में कार्य करने वाले द्वितीय श्रेणी के अधिकांश कर्मचारी मध्यम वर्ग के ही थे। सुलतान अलाऊद्दीन खिलजी के शासनकाल में जब नवीन आर्थिक सुधार लागू हुए तो दीवानी व सैनिक विभागों में अनेक नवीन पदों की स्थापना हुई। अन्ततोगत्वा केन्द्रीय प्रशासन के विभागों **दीवान-ए-वज़ारत, दीवान-ए-अर्ज, दीवान-ए-इंशा, दीवान-ए-रियासत, दीवान-ए-रसालत** आदि–आदि विभागाध्यक्षों के नीचे कार्य करने वालों का एक पथक् समूह बन गया। इन विभागों में कार्य करने वाले वे व्यक्ति थे, जो कि उमरा वर्ग में नहीं थे और न ही वे समाज के निम्न वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। अतएव साधारण वेतन प्राप्त करने वाले व्यक्तियों का समुदाय मध्य वर्ग बन गया। इस प्रकार मध्य वर्ग, शासक वर्ग व सामान्य वर्ग के बीच एक कड़ी के रूप में होता था।

इस काल में अनेक व्यक्तियों का मुख्य व्यवसाय व्यापार रहा। इन व्यापारियों ने भी समाज के मध्यम वर्ग का सजन किया। **बरनी** बताता है कि मुल्तानी लोग और दिल्ली के साह अमीरों को कर्ज़ पर पैसे देकर इतने अधिक धनी बन गए थे कि केवल उन्हीं के घरों में सोना–चाँदी पाई जा सकती थी। **बरनी** ने मुल्तानियों और साहों के धन और समद्धि की पुष्टि अन्य प्रकार से

भी की है। वह लिखता है कि जलालुद्दीन खिलजी ने हिन्दुओं के विरुद्ध कोई भी कठोर कार्यवाही करने से साफ मना कर दिया और उन्हें राजधानी दिल्ली में भी पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। उनमें से धनी लोग जो स्पष्टतः मुल्तानी व्यापारी थे, अपनी जान व संपत्ति की सुरक्षा के संबंध में बिना किसी भय के आराम व आमोद–प्रमोद का जीवन बिता रहे थे।

बरनी ने व्यापारियों के एक अन्य वर्ग का भी उल्लेख किया है जिन्हें **दलाल** कहा जाता था। ये दलाल कमीशन एजेंट होता थे जो खरीदने वाले और बेचने वाले को मिलाने के कार्य के लिए शुल्क लिया करते थे। उनका उदय दिल्ली में व्यापार की वद्धि का सूचक है। बताया गया है कि अलाऊद्दीन द्वारा बाजार के नियंत्रण के बाद विभिन्न वस्तुओं, विशेषकर कपड़ों के खरीददार दिल्ली में भारी संख्या में आया करते थे। **बरनी** ने घोड़ों के विक्रय को नियंत्रित करने के अलाऊद्दीन के प्रयासों के विशेष संदर्भ में दलालों का उल्लेख किया है।

दिल्ली के मुस्लिम व्यापारी प्रायः विदेशी थे। जैसे इराकी, ईरानी, खुशसानी आदि। यद्यपि कुछेक मुस्लिम मुल्तानियों के बारे में भी सुनने को मिलता है। **इब्नेबतूता** के अनुसार, भारत के सभी विदेशी व्यापारियों को खुशासानी कहा जाता था। मुस्लिम व्यापारियों का एक अन्य समूह अफगानों का था। वे कारवां व्यापार और घोड़े के व्यापार में माहिर थे। जैन, मारवाड़ी, गुजराती, बनिए एवं बोहरा लोग भी काफी सक्रिय थे।

इसके अतिरिक्त विविध शिक्षा व धर्म के प्रसार के साथ–साथ मदरसों व मस्जिदों में शिक्षा देने वाले धर्मशास्त्री, शिक्षक, उपदेशक, दार्शनिक, साहित्यकार लेखक तथा इतिहासकार आदि भी मध्यम वर्ग के सदस्य कहे जाने लगे। इसी भांति जैसे–जैसे नगरीकरण में प्रगति हुई, नए शहरों की स्थापना हुई, वैसे–वैसे सामान्य आय अर्जित करने वाले लोगों का उत्कर्ष हुआ तो मध्यम वर्ग की संरचना हुई। इस प्रकार धीरे–धीरे समाज में मध्यम वर्ग का अभ्युदय भारतवर्ष में हुआ।

मध्यम वर्ग के सदस्यों की आय निर्धारित न थी। समकालीन इतिहास में इस सम्बन्ध में वर्णन लगभग नगण्य सा है। शिक्षक, विद्वान, कवि, काजी, मुफ्ती इत्यादि मुख्यतः अनुदानों, वत्तियों, वजीफों पर ही निर्भर थे। जो विद्वान तथा कवि दरबार से संलग्न थे या किसी अमीर की सेवा में थे, उन्हें समय–समय पर ईनाम, वत्तियाँ या नकद धन इत्यादि मिलता रहता था। सुल्तान नासिरुद्दीन महमूद के समय मिनहाज को एक गाँव ईनाम में दिया गया। 1250 ई. में उसे 40 गुलाम तथा 100 खच्चरों का लदा हुआ सामान खुरासान में अपनी बहन के पास भेजने के लिए राज्य की ओर से मिला। अलाऊद्दीन खिलजी ने अमीर खुसरो को 1000 टका उपहार में दिया। इसी प्रकार से हकीम तथा ज्योतिषयों को भी उनकी सेवाओं के लिए नकद धन या इनाम मिलता रहता था। **शिहाबुद्दीन अल-उमरी** के अनुसार मुहम्मद तुगलक के एक शिकदार को 2000 से 4000 टके, लिपिक को 10000 टके प्रतिवर्ष वेतन के रूप में और उसके अतिरिक्त परिधान, खिलअत तथा अन्य वस्तुएँ मिलती थी। **मुहतसिब** को वेतन में एक गाँव जिसका राजस्व 8000 टका प्रतिवर्ष होता था, मिलता था। सैनिकों की आय के दो स्रोत थे। सर्वप्रथम युद्ध में प्राप्त लूट के माल में से उन्हें हिस्सा जिसे **खन्स** कहते थे, मिलता था, दूसरा उन्हें वेतन मिलता था। इसके अलावा समय–समय पर उन्हें ईनाम भी मिलते थे। जलालुद्दीन खिलजी का वध करके जब अलाऊद्दीन कड़ा से दिल्ली की ओर रवाना हुआ तो मलिकों, अमीरें के साथ जो सैनिक आए थे उसने उनमें से प्रत्येक सैनिक को तीन–तीन हजार टके नकद ईनाम में दिए। अलाऊद्दीन खिलजी के समय एक घोड़ा रखने पर 234 टका और दो घोड़े रखने पर दूसरे घोड़े की परवरिश के लिए 78 टका अतिरिक्त वेतन के रूप में मिलता था। सुलतान ने उन्हें मिलने वाले सभी प्रकार के अनुदनों

जैसे कि ईनाम, इक्ता इत्यादि बन्द कर दिए और उन्हें वेतन देना प्रारम्भ किया। कभी–कभी संकटकालीन स्थिति में उन्हें अग्रिम वेतन भी दे दिया जाता था। उदाहरणतः मंगोल आक्रमणकारी कुबक ने आक्रमण किया तो सुल्तान ने अपने सैनिकों को एक वर्ष का अग्रिम वेतन दिया। शिहाबुद्दीन अल–उमरी के अनुसार एक सैनिक का वेतन 1000 से 10000 टका था।

मुगलकाल में मध्यम वर्ग

इस बात को लेकर काफी बहस चली है कि मुगलकाल में भारत में मध्यवर्ती वर्ग था या नहीं। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर का कहना है कि भारत में कोई 'मध्यवर्ती दर्जा' नहीं था; या तो लोग बहुत संपन्न थे या दुःखद अवस्था में जीते थे। लेकिन इस कथन से सहमत होना संभव नहीं है। संक्षेप में 'मध्यवर्ती वर्ग' का मतलब होता है व्यापारी और दुकानदार। भारत में संपन्न व्यापारियों और वणिकों का एक विशाल वर्ग था। उनमें से कुछ तो उस काल के विश्व के सबसे धनाढ्य व्यापारियों में से थे। उन व्यापारियों के अपने पारंपरिक अधिकार थे, और उन्हें अपनी जान–माल की हिफाजत का हक हासिल था। लेकिन उन्हें किसी शहर का शासन चलाने का अधिकार प्राप्त नहीं था। यूरोप में व्यापारियों ने विशेष परिस्थितियों में ऐसे अधिकार प्राप्त कर लिए थे। लेकिन साथ ही जब कभी शक्तिशाली प्रादेशिक राज्यों का उदय हुआ, इन अधिकारों को सीमित करने का प्रयत्न किया गया – जैसे फ्रांस और ब्रिटेन में।

अगर मध्यम वर्ग का मतलब ऐसे लोगों का वर्ग है तो सामंती संपत्ति में कोई हिस्सा नहीं पाते थे, बल्कि जिन्हें अपनी पेशागत सेवाओं के लिए पारिश्रमिक मिलता था तो शहरों में हमें पेशेवर और सेवा प्रदान करने वाले समूहों का एक विशाल वर्ग प्रशासनिक व्यवस्था ऐसी थी जिसमें राज्य के लिए ही नहीं, बल्कि अमीरों और यहां तक कि व्यापारियों के लिए भी लेखाकारों और लिपिकों की एक विशाल फौज की जरूरत थी। धनाढ्य कारीगरों का जीवन–स्तर भी गरीबों से बहुत ऊपर होता था।

मध्यम वर्ग से अर्थ

इस प्रकार मुगल काल में मध्यम वर्ग का अध्ययन करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि किस कसौटी के आधार पर इनको निम्न और उच्च वर्ग से अलग–थलग किया है तो हम ज्यादा आसानी से इसकी संरचना और क्रियाकलापों को समझ सकेंगे। हम इस आधार को लेकर चले हैं कि मुगल काल में उत्पादन–सम्बन्धों का केन्द्र बिन्दु एक विशिष्ट प्रकार का सामन्तवाद था जो कार्ल मार्कस के "ऐशियाटिक मॉडल" से भिन्न था। यदि हम इस बात को माने तो स्वाभाविक है कि ऐसे सामन्तवाद में निश्चित ही ऐसी सामन्त–श्रेणियाँ (Feudal classes) होंगी जिनमें आर्थिक–स्वार्थ एक दूसरे के विपरीत होंगे। इसका यह अर्थ लगाना कि सामाजिक वर्ग के रूप में कार्ल मार्क्स के किसान और कारीगर वर्ग का कोई महत्व ही नहीं था नितान्त गलत होगा अपितु इनके अलावा ऐसे समुदाय थे जिनकी रोटी–रोजी का आधार इस सामन्ती सम्पदा से बिल्कुल स्वतन्त्र था। मुगल काल के सन्दर्भ में इस आधार पर हम व्यापारियों और व्यावसायिकों अथवा पेशावरों को मध्यम वर्ग की अहम भूमिका निभाने वाला वर्ग में मान सकते हैं। एक ऐसा सामाजिक स्तर अथवा वर्ग स्वाभाविक रूप से न केवल जागीरदारों और जमींदारों के सामन्ती स्वार्थों का प्रतिद्वन्द्वी था अपितु सामन्ती विधि के उत्पादन–नीति का भी विरोधी था।

सामाजिक बदलाव (Social change) की इस प्रक्रिया में आज के इतिहासवेता इस बात में एकमत हैं कि मुगलकाल में (अ) मुद्रा–अर्थव्यवस्था (Money economy) काफी विकसित हो चुकी थी जिसके

अन्तर्गत कृषि और गैर–कृषि सम्बन्धी वस्तुओं के लिये बाजार प्राप्त करने की प्रवत्ति अथवा झुकाव मौजूद था। इसका अर्थ था कि गाँवों की आत्म–निर्भरता की पुरानी नीति के बदले में गाँवों की उपज के लिये शीर्ष बाजारों को ढूंढना तथा खेती से प्राप्त धन अथवा पूँजी को गैर–कृषि के साधनों में लगाकर अधिक लाभ प्राप्त करना एक साध्य था। इसकी निम्न दिशायें थीं : (अ) भूमि–पूँजी के मालिकों के अतिरिक्त अब एक ऐसा वर्ग विकसित होता जा रहा था जो पूंजी को भूमि में लगाने की अपेक्षा अन्य दूसरी दिशाओं में लगाना हितकर समझता था। (ब) इसमें आन्तरिक व्यापार को वाणिज्य और बड़े बाजारों से जोड़ने की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण योगदान रहा तथा (स) व्यापारिक पूंजी (Merchant capital) का अत्यधिक मात्रा में होना नितान्त आवश्यक हो गया जो कि नगरों की लघुमान माल उत्पादन (Small-scale commodity production) को अनेकानेक ढंग से प्रभावित कर सके।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि मुगलकाल के आते–जाते पूँजी नियमन ने भूमि अथवा कृषि के क्षेत्र के साथ ही साथ दूसरे विकल्पों को भी स्वीकारा था और अब भूमि की अतिरिक्त पूँजी को व्यापार आदि में लगाने की प्रक्रिया स्थापित हो चुकी थी। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि आखिर ये क्यों और कैसे हुआ। यह हम यूं कहें कि आखिर इन तीनों तत्वों (जिसमें अधिकतर इतिहासकार एकमत हैं) ने किस प्रकार से एक विशेष प्रकार के उत्पादन–सम्बन्धों को (Production relations) बगैर किसी विदेशी हस्तक्षेप के पूंजीवादी सम्बन्धों (Capitalist relations) में परिवर्तित कर दिया। इसका उत्तर अनेक प्रकार से दिया गया है। वे लोग जो ये मानते हैं कि भारतीय समाज रूढ़िवादी था; जिसमें परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं थी क्योंकि इसको 'ऐशियाटिक डेस्पाटिज्म' के माध्यम से ऊपर से प्रतिबन्धित रखा जाता था। इन विचारकों के अनुसार यदि इन तत्वों के आधार पर समाज में अथवा यहाँ की 'इकानॉमी' में कोई परिवर्तन आया तो ये परिवर्तन केवल कुछ तटीय प्रदेशों तक ही सीमित था और इसने सम्पूर्ण भारतीय समाज को अछूता ही रखा। इसके विपरीत दूसरे वे लोग हैं जिन्होंने मुगलकाल में पूंजीवाद के विकास के लिये मार्क्स के सिद्धान्तों को आधार बनाकर इस परिवर्तन का कारण ढूंढ निकालने की कोशिश की है। उनके अनुसार 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत सामन्तवादी इकानामि के अन्तर्गत ही पूंजीवादी के विकास की दहलीज पर पहुँच चुका था, जब की उसने 'निर्माण अवस्था' (Manufactory stage) को प्राप्त कर लिया था। रूसी लेखक **चिचेरोव** ने इसका कारण यूरोपीय उपनिवेशी विस्तार को माना है। इरफान, हबीब, चिचेरोव कि इस मान्यता को परिवर्तन के लिये पूर्णतया उत्तरदायी तो नहीं मानते परन्तु उन्होंने इस बहुचर्चित धारणा से आगाह किया है कि 'राजनैतिक वातावरण' व 'जाति' ने वाणिज्य के विकास में किसी प्रकार का अवरोध पैदा किया था। इसके साथ ही प्रो. हबीब ने मुद्रा–अर्थव्यवस्था की अत्यधिक व्यापकता के विरुद्ध भी आगाह किया है। देहाती मुद्रीकरण (Monetization) का एकमात्र निकास कृषि–सम्बन्धी उपज के अधिशेष (Surplus) को शहरों तक पहुँचाने में ही था।

इन विभिन्न दष्टिकोणों के होते हुये भी आर्थिक इतिहास में 'मध्यम वर्ग' अथवा 'मध्यम स्तर' की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण हो जाती है। मुगलकालीन भारत में मध्यम वर्ग इंग्लैण्ड के मध्यम वर्ग से नितान्त भिन्न था। 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में इंग्लैण्ड में मध्यम वर्ग में से सब लोग थे जो औद्योगिक विकास की प्रक्रिया में लगे हुये थे। कार्ल मार्क्स ने इसी रूप में मध्यम वर्ग को स्वीकारा था। इसको और अधिक निश्चित रूप देने के लिये हम सामन्तवादी व्यवस्था में **ई.एम.एस. नम्बूदरीपाद** की परिभाषा को लेकर चलते हैं जिसमें उन्होंने उन सब लोगों को जो सामन्त, जागीरदार अथवा कृषिदास (Serf) नहीं थे मध्यम वर्ग में माना है।

इसके लिये हमें यह देखना पड़ेगा कि विभिन्न और एक प्रकार से विरोधी व्यावसायिक तथा व्यापारिक समुदाय क्यों कर एक ही वर्ग में आ गये थे। इनमें विभिन्न छोटे–छोटे वर्गों के मुख्य वर्ग के साथ अर्न्तद्वन्द्वः तथा दूसरी ओर जागीरदारों व जमींदारों के स्वार्थों के साथ इनकी प्रतिक्रिया को भी देखना पड़ेगा।

अर्थव्यवस्था में सर्राफ, महाजन आदि : मुगलकाल में सर्राफ व महाजन वर्ग समाज की सामन्तवादी व्यवस्था के अन्दर स्वतः एक सम्पत्ति के रूप में उभरे थे और इन्होंने उत्पादन की विद्यमान व्यवस्था को पूर्णतः प्रभावित किया था। ये वर्ग 18 वीं शताब्दी के प्रथम अर्धभाग में देहाती अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर रहा था और किसान–समुदाय में जमींदारों और जागीरदारों के विरुद्ध प्रभावशाली प्रतियोगी के रूप में उभर चुका था। इस वर्ग ने मुद्रा–अर्थव्यवस्था (Money economy) में भी स्वयम् को एक गैर–सामन्तवादी सम्पत्ति के रूप में स्थापित कर लिया था।

जहाँ हमें इस वर्ग के उत्थान के बारे में स्पष्ट जानकारी है वहाँ दूसरी ओर हमें शहरी बुद्धिजीवियों में व्यावसायिक व नौकरी पेशा वर्ग की स्थिति की जानकारी बहुत ही कम है। मोरलैण्ड यह मानता है कि इन व्यावसायिक व नौकरी–पेशा–वर्ग के लिये बाजार बहुत ही सीमित था और ये वर्ग स्वयम् को शाही दरबार अथवा प्रान्तीय गर्वनरों के आश्रय में ही अपने आपको पनपा सकता था। वह लेखाकारों (Accountants) और लिपिकों के योगदान को तो मानता है परन्तु वह इन्हें उत्पादन सम्बन्धों में सन्दर्भ में मात्र खून–चूसा अथा परजीवी ही मानता है। वह इस प्रकार मुगलकाल में इस वर्ग की भू–राजस्व, अग्नि–शस्त्र अथवा विशाल भवन निर्माण क्षेत्र में इनकी विशिष्टता को अनदेखा कर देता है।

यहाँ पर डॉ. के.एन. राज द्वारा विशिष्ट पटुता की परिभाषा देना अधिक उचित होगा। डॉ. राज के अनुसार विशिष्ट पटुता सम्पत्ति का एक भिन्न स्वरूप है। इसको यदि मुगलकालीन भारत के नौकरी पेशा वर्ग पर लागू किया जाए तो हम पायेंगे कि इस वर्ग को दी जाने वाली तनख्वाह गैर–सामन्ती सम्पत्ति के समान थी जो कि मध्यम वर्ग के निर्माण तथा उसके स्वरूप को निश्चित करने में निर्णायक थी। इनकी सेवायें ही इनकी विशिष्टता थी।

विशिष्ट सेवायें व धनोपार्जन : प्रमाणिक आंकड़ों के न मिलने के कारण हम यह दावा नहीं कर सकते कि इस वर्ग की आमदनी का क्या स्तर रहा होगा। परन्तु यह बात स्पष्ट है कि सरकार में लिपिकों, लेखाकारों, वैद्यों तथा शिक्षिकों द्वारा दी जाने वाली सेवाओं की अत्यधिक मांग थी। अपनी विशिष्ट पटुता के आधार पर ये वर्ग पर्याप्त मात्रा में सम्पत्ति अर्जित करने में समर्थ था।

भू–राजस्व अधिकारियों के सम्बन्ध में हमें जो जानकारी मिल पाई है उससे हमें मालूम पड़ता है कि इनका एक सम्पन्न वर्ग था। 1644-47 ई. में लिखित तारीख–ए–पीर हस्सू तेली का लेखक सूरत सिंह मात्र एक कारकून था परन्तु फिर भी उसने लाहौर के एक शानदार मोहल्ले में 700 रुपये का मकान खरीदा था। इसी तरह से ख्वाजा उदय सिंह ने जो एक छोटा–मोटा अधिकारी था, लाहौर में दरगाह के पास एक कुंआ बनवाने में 3000 रुपये खर्च किये थे। सूरतसिंह के अनुसार ही उसके बड़े भाई गंगा राय ने जहाँगीरपुर में अमील रहते हुये आश्चर्यजनक रूप में सम्पदा प्राप्त की थी जबकि उसका वेतन केवल 130 रुपये माह था। समकालीन मानदण्डों के आधार पर यह अच्छी खासी आमदनी थी, परन्तु इसके बाद भी जिस शान–शौकत से वो रहता था वो सब इतनी आमदनी में सम्भव नहीं था। इसी प्रकार परगना स्तर का एक अधिकारी, ब्राह्मणों में गाय और सोना बांटता था। प्रत्येक सुबह वह ब्राह्मण के साथ भोजन करता तथा

36 जातियों के लोगों को भोजन अर्पित करता था। इसी प्रकार अब्दुल समद खाँ (जो जहाँनावाद का अमीर तथा फौजदार था) ने अपने लड़के के नाम पर एक 'पुर' बसाया था जिसमें बाग, सराय तथा तुर्की हम्माम तक थे। इन राजस्व अधिकारियों में मोटे रूप से ब्राह्मण कायस्थ, खत्री व वैश्य जाति के लोग ही थे। इन लोगों की शिकायत करते हुये शाह वलीउल्लाह ने अहमद शाह अब्दाली को लिखा था कि इन जाति के लोगों ने, जिनका मोटे तौर पर मुतसद्दी और कारकूनों के पेशों पर एकाधिकार सा है, राज्य की अत्यधिक सम्पत्ति को अनुचित ढंग से हथिया लिया है।

इन राजस्व अधिकारियों के अलावा इस विभाग के लिपिकों, लेखाकारों और दूसरे छोटे–मोटे अधिकारियों ने भी मनचाहे ढंग से धन कमाया था। मुहम्मद शफी ने 1644 ई. में लाहौर के मुहल्ला तल्ला में एक मस्जिद बनवाई थी अथवा शाहस्ता खां का मुन्शी शेख अब्दुल वाहिद जिस शान शौकत से रहता था उस तरह से उच्च वर्ग के सदस्यों लिये भी रहना मुश्किल था। साधारण तौर पर इस वर्ग के लोगों की सम्पदा का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अहमदाबाद में 1725 ई. में सरकारी अधिकारियों ने आठ अधिकारियों से लगभग 57,300 रुपये ऐंठे थे। दीवान, पेशकार और खजान्ची आदि अत्यधिक मालदार थे। नादिरशाह ने इन उपरोक्त वर्ग के ग्यारह धनी अधिकारियों से लगभग 31 लाख रुपये वसूल किये थे। इनका वेतन मात्र 17 रुपये से लेकर 133 रुपये प्रतिमाह हुआ करता था। ऐसे निम्न वेतन के आधार पर इतनी सम्पत्ति को जुटाने के लिए स्वाभाविक रूप से इस वर्ग ने अनैतिक साधनों को काम में लिया होगा।

इन साधनों में सम्भवतः राजस्व इकट्ठा करते समय गबन अथवा खयानत इजारे पर भूमि लेना, ब्याज लेना, खेती करना आदि सम्मिलित थे। इन सबके अतिरिक्त नजराने और घूस, जिन्हें एक प्रकार से रिवाजी मान्यता मिली हुई थी, इनकी अनैतिक आय के आधार थे।

किस प्रकार से ये वर्ग इन साधनों को कारगर करता था यह बड़ा ही हास्यपद है। सूबा अजमेर की एक रिपोर्ट से यह जानकारी मिलती है कि वहाँ के 'करोड़ी' और 'अमीन', फोतदार से मिली–भगत कर प्राप्त राजस्व को ऊंचे ब्याज पर महाजन को उधार दे देते थे और इस ब्याज को स्वयं हथिया लेते थे।

इसी प्रकार गाँव में कानूनगो और पटवारी मिलकर सरकारी धन का दुरुपयोग करते थे। ये कागज–ए–खम (जो हिन्दी में लिखे जाते थे) जिनमें गांव से प्राप्त होने वाले हाल–ए–हासिल का हिसाब रहता था, उच्च अधिकारियों के रेकार्डस् ने समझने की मजबूरी का फायदा उठाकर इनमें हेर–फेर कर लेते थे और इस प्रकार से भूमि का कम गरीब बताकर सरकारी धन का गबन कर जाते थे। शाहजहाँ के काल में जब इस प्रकार की धांधली के अनेकानेक मामले सामने आये तो उसने प्रत्येक महल में अमीन नामक एक विशिष्ट अधिकारी की नियुक्ति की जो अमील और पटवारी की इन हरकतों को रोकने के लिये उत्तरदायी था। परन्तु परिणाम उलटा ही निकला। अब पटवारी और कानूनगो के साथ अमीन भी इस बढ़ती हुई बेईमानी का एक हिस्सा बन गया। इसका उदाहरण हमें एक परगने के अमीन की कार्यवाहियों में मिलता है जिसने कि सूरतसिंह के विरुद्ध करोड़ी और मालगुजार (अमील) द्वारा की जाने वाली खोजबीन में रोड़े अटकाये थे, यद्यपि यह निश्चित था कि सूरत सिंह ने सरकारी राजस्व का गबन किया था।

ऐसा लगता है कि अधिकारी–वर्ग भ्रष्टाचार अथवा घूसखोरी के मामलों में उच्च अधिकारियों के विपरीत अपने सह–कर्मियों की मदद करना व्यावसायिक परिधि में नीतिसंगत मानता था। स्थिति

यहाँ तक थी कि यदि कभी दो सहकर्मियों के बीच इस अनैतिक कार्यवाहियों को लेकर कोई तकरार भी खड़ी हो जाए तो बिचोलिये उसको वहीं रफा दफा कर देते थे और उच्च अधिकारियों तक इसकी भनक भी नहीं पहुंचने देते थे। कभी–कभी तो यहाँ तक होता था कि बिचोलिये उन पर आर्थिक दंड भी लागू कर देते थे। इस आर्थिक दंड का क्या होता था इसकी हमें जानकारी नहीं है परन्तु हम सहज ही में अनुमान लगा सकते हैं कि जब ये सरकारी कोष में जमा नहीं किया जाता था तो स्वाभाविक रूप से इस समझौते की खुशी में जश्न मनाने में खर्च किया जाता रहा होगा। प्रो. शिरीन मुसवी ने लिखा है कि दस्तूर–उल–अमल में जो रकम वसूल दिखाई गई थी वह आधे से भी कम थी। यद्यपि हम 'जमा' और 'हासिल' के इस अन्तर के लिये (रेकार्डस् के आधार पर) कोई हल देने में असमर्थ हैं। परन्तु स्वाभाविक रूप से हम अन्दाजा लगा सकते हैं कि ये अन्तर अधिकारियों द्वारा राजस्व में हेरफेर के कारण ही हुआ होगा। वाकर इलियट ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दी जाने वाली एक रिपोर्ट में लिखा है कि केवल गन्टूर के परगने से कम्पनी ने बारह साल से भी कम समय में लगभग 74 लाख रुपयों का खमियाजा या नुकसान उठाया है जो उस परगने के वार्षिक राजस्व का छः गुना था। यदि कम्पनी जैसे कठोर शासन के अन्तर्गत इस प्रकार ही गैर–नैतिक कार्यवाहियाँ पनप सकती थीं तो मुगलों के लचीले शासन में यह कितनी व्यापक रही होगी, इसका आसानी से अंदाजा लगाया जा सकता है।

केवल यही नहीं कि ये वर्ग भू–राजस्व में ही इस प्रकार के अनैतिक साधनों को अपनाये हुये था अपितु राज्य द्वारा निषेधात्मक अब्बाबों को वसूल करने में भी सक्रिय था। औरंगजेब के समय के अनेक फरमान हमें मिले हैं जिसमें बार–बार इन अधिकारियों को सचेत किया गया है कि वे गैर कानूनी अब्बाबों को वसूल बन्द करे परन्तु इस वर्ग पर कोई असर नहीं हुआ। विशेषकर वे अधिकारी जो केन्द्र से दूर प्रदेशों में थे वे इनकी अनसुनी ही कर देते थे। इसी प्रकार प्रत्येक बादशाह के गद्दीनशीन होने पर उन सब अब्बाबों को वसूल न करने के आदेश पुनः जारी किये जाते थे जो पिछले शासन ने कर रखे थे। स्थिति इतनी बिगड़ गई थी कि कानूनगो की ज्यादतियों से परेशान होकर खम्बोज के व्यापारियों ने सूरत जाने में ही अपनी भलाई समझी।

ऐसी राज्य–विरोधी कार्यवाहियों के होते हुये अगर मुगल शासन ने इस वर्ग के लिये यह कठोर रवैया अपना लिया हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यहाँ यह याद रखना पड़ेगा कि साधारणतया मुगलों का अपने सामन्तों के प्रति अत्यन्त सहृदयता का दष्टिकोण था। वास्तविकता यह है कि इस प्रकार का रवैया मुगलों ने सल्तनत काल से विरासत अथवा बपौती के रूप में ही पाया था। जियाउद्दीन बरनी ने लिखा है कि अलाउद्दीन खिलजी ने राजस्व विभाग के अधिकारियों पर अत्यन्त क्रूर किस्म के दंडों को लागू किया था। वह लिखता है कि, यह संभव न था कि कोई भी एक तनके का अपहरण करे – मुतसर्रिफों तथा कर्मचारियों को हजार पाँच सौ तनकों के कारण वर्षों तक बन्दीगह में रखा जाता था। राजकीय सेवा, तसरुफ तथा पदाधिकारी होना लोग बुखार से भी अधिक बुरा समझने लगे थे। नवीसिन्दगी, बहुत बड़ा दोष समझा जाता था नवीसिन्दे को लोग अपनी पुत्री विवाह में न देते थे। तसर्रुफ का कार्य वे लोग स्वीकार करते जो कि अपने प्राणों से हाथ धो लेते थे।

बरनी द्वारा दिया गया ये विवरण 15 वीं व 16 वीं शताब्दी के राजस्व अधिकारियों पर पूर्णतया लागू होता है। गुरु ग्रन्थ साहब में उद्धरत कबीर की एक साखी से जानकारी मिलती है कि अमील को हिसाब करने के लिये बुलाना मत्यु–तुल्य था। अकबरनाना से मालूम पड़ता है कि टोडरमल द्वारा 1580 ई. में बन्दीगह में डाले गये अनेक करोड़ी कई वर्षों तक जेल में सड़े रहे

थे। शाहजहाँ के काल में भी हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं। शाहजहाँ के मन्त्री सादुल्ला खाँ ने अनेकों करोड़ियों को बीस साल से भी अधिक बन्दी बनाये रखा था। औरंगजेब ने अहमदाबाद के सूबेदार को आदेश दिया था कि वे अमील जो वर्षों से जेलों में सड़ रहे हैं उनके अपराधों को पुनः देखा जाए। तथा उनकी जेल में रहने की अवधि को निश्चित किया जाए। इसी प्रकार के क्रूर दण्डों की गाथा पर्वतीय मुगल शासकों के समय में भी मौजूद थी। इस समस्त काल में राजस्व अधिकारी शासकीय वर्ग के सम्भावित शत्रु ही समझे जाते रहे।

शहरी बुद्धिजीवी की सम्पन्नता : शहरी बुद्धिजीवियों (Urban Intalligenstia) तथा सामन्ती सम्पत्ति (Feudal Property) के बीच सम्बन्धों को निर्धारित करने के लिये हमें वैद्य, जर्राह आदि द्वारा रोगों के निदान से अपनी जीविका कमाने की विधि को देखना पड़ेगा।

मोरलैण्ड का विचार है कि वैद्यों, हकीमों की समाज में माँग बहुत ही सीमित थी और इसलिये इस पेशे में काम करने वाले लोगों के लिये दरबार अथवा किसी सामंत के साथ नत्थी होकर ही सम्मानित जीविका कमाना सम्भव था। इस आधार पर उनकी सेवाओं के बदले में दिया जाने वाला वेतन, वेतन न होकर सामन्ती संरक्षण का प्रतीक था। मोरलैण्ड का यह कथन अधिक मान्य नहीं है क्योंकि हमारे पास इस प्रकार के प्रमाण मौजूद हैं कि उत्तरी भारत के अधिकतर भाग में इस पेशे वालों की माँग अधिक थी।

तजकरा–ए–पीर हस्सू तेली से हमें मालूम पड़ता है कि हकीम बसन्त नामक व्यक्ति लाहौर में शाहजहाँ के काल में हिकमत (वैद्यक) करता था। मनूची के विवरण से भी हमें जानकारी मिलती है कि दारा की पराजय के बाद वह लाहौर में आकर हिकमत करने लगा और उसका पहला रोगी एक काजी की पत्नी थी जिसको उसने पूर्णतया स्वस्थ कर दिया, इससे उसकी प्रसिद्धि इतनी फैली कि उसके पास आने वालों का तांता सा लग गया। उसकी व्यक्तिगत आय इतनी अधिक थी कि उसने लाहौर के गर्वनर मुहम्मद अमीन खां द्वारा सरकारी नौकरी की पेशकश को भी ठुकरा दिया।

इससे ये अनुमान निकालना कि सब ही हकीम सम्पन्न थे उचित न होगा। क्योंकि बदायूंनी के विवरण से हमें मालूम पड़ता है कि अनेक हकीम व्यक्तिगत सेवा के आधार पर जीवन निर्वाह करते थे। इनमें से कई नीम हकीम थे और उनकी आय भी अधिक नहीं थी परन्तु फिर भी जौनपुर, खेराबाद, बनारस, कलानोर और हिसा में अनेक हकीम ऐसे थे जिनकी माँग बराबर बनी रहती थी। बनारसी दास ने 'अर्ध कथानक' में लिखा है कि 1591 ई. में वह जौनपुर में लगभग एक साल तक एक हकीम के इलाह में रहा। फ्रांसीसी डाक्टर मारटिन ने 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में देहली में अपना एक अस्पताल खोला था। यह इस बात को बनाता है कि उत्तरी भारत में इनकी माँग काफी थी।

इससे ये मालूम पड़ता है कि हकीम लोगों की माँग छोटे–मोटे अधिकारियों, व्यापारियों और शहरी बुद्धिजीवियों में अधिक थी। देहली, लाहौर और आगरा में इन हकीमों के मरीज अधिकतर निम्न श्रेणी के मनसबदार हुआ करते थे परन्तु बनारस, जौनपुर, खेराबाद, हिसार आदि शहरों में व्यापारी, कारीगर वर्ग आदि में ही इनकी माँग अधिक थी।

इससे यह स्पष्ट है कि वे हकीम जो शासक अथवा उच्च सामन्तों व मनसबदारों के सम्पर्क में थे निश्चित ही अधिक सम्पन्न रहे होंगे। कभी–कभी ये हकीम सामन्तों की स्थिति को भी प्राप्त कर लेते थे जैसे हकीम अलीमुद्दीन उर्फ वजीर खां अथवा हकीम दाऊद उर्फ तकररुबखां

आदि। परन्तु ऐसे हकीमों की संख्या बहुत कम थी और जो भी थे उनमें फारसी हकीम ही अधिक थे।

साधारण सोपानक में इनकी माँग अधिक थी क्योंकि प्रत्येक मनसबदार को अपने अधीन सैनिकों की देख–रेख करने के लिये अथवा युद्ध में घायल हो जाने पर उनकी मरहम–पट्टी करने के लिये किसी न किसी तबीब अथवा हकीम की आवश्यकता रहती थी। ये मनसबदार इनको अंशकालिक (Part-time) के रूप में रखते थे परन्तु इस आधार पर भी उनको काफी वेतन मिल जाता था।

मनसबदारों द्वारा इनकी सेवाओं को प्राप्त करने के अतिरिक्त राज्य और उच्च मनसबदारों के द्वारा स्थापित किये गये अस्पतालों में भी इनकी खपत थी। जहाँगीर ने मुख्यतः विदेशी यात्रियों के लिये अनेक शहरों में अस्पताल खोले थे। ऐसे अस्पताल औरंगजेब के समय में भी मौजूद थे और कभी–कभी छोटे–छोटे शहरों में भी इनकी स्थापना कर दी गई थी।

इस विवरण से हम यह कह सकते हैं कि सरकारी तथा अर्द्ध–सरकारी क्षेत्र में साधारण हकीमों की माँग काफी अधिक थी। इनकी विशिष्ट सेवाओं के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मनसबदारों और राजकीय अस्पतालों में नियुक्त हकीमों की सामाजिक स्थिति समाज के दूसरे सम्मानित पेशों में काम करने वाले लोगों के समरूप थी।

अन्तर व्यावसायिक गतिशीलता : सामन्ती सम्पत्ति तथा मध्यम वर्ग के बीच आर्थिक विरोधाभास के अध्ययन के बाद अब हम इस बात का अध्ययन कर लें कि आखिर इस वर्ग के व्यवहार में क्या विशेषतायें रहीं जिनके आधार पर इनको एक अलग वर्ग के रूप में स्वीकारा गया।

इस सन्दर्भ में इनकी अन्तर–व्यावसायिक (Inter Professional) गतिशीलता का अध्ययन अधिक रुचिकर होगा। किस प्रकार से ये जाति बंधनों तथा दूसरी पारंपरिक बाधाओं के होते हुये भी अपने व्यवसायों को बदल लेते थे। इस सम्बन्ध में हम बनारसी दास के उदाहरण से शुरू करते हैं। उसके दादा हुमायूँ के समय में मोदी थे तथा उसके पिता श्रीराम धन्ना के अधीन 1569 ई. तक फोतदार थे। तत्पश्चात् उन्होंने आगरा में व्यापार शुरू किया। इसका अर्थ है कि इस परिवार ने किस प्रकार नौकरी छोड़ व्यापार को अपनी जीविका के रूप में अपनाया। इसी प्रकार अकबर कालीन तीन प्रसिद्ध कवि – गुबारी, महमी तथा कासिम क्रमशः बक्काल, तीर–गर व फीलवान (Elephant-keeper) की सन्तान थे। इसी तरह से काजी जलालुद्दीन आरम्भ में एक व्यापारी था परन्तु बाद में उसने शिक्षण के व्यवसाय को अपना लिया था। इसी प्रकार सूरत के प्रसिद्ध व्यापारी रुस्तम जी व अब्दुल गफूर पुरोहिती भूमिका से आये थे। सेठ दयाराम 1720 ई. तक सूरत में डच इस्ट इण्डिया कंपनी के काजी हाऊस के दलाल के रूप में कार्य कर रहा था। परन्तु फिर उसने वहाँ व्यापार शुरू कर दिया। 18 वीं शताब्दी के दूसरे दशक से हमें अनेकों ऐसे उदाहरण मिलते हैं जब महाजनों को चौधरी और कानूनगो के पद दिये गये थे। इससे यह स्पष्ट है कि मध्यम वर्ग में अन्तर–व्यवसाय को बदलने की प्रक्रिया मौजूद थी।

जातीय विशेषतायें : इके अतिरिक्त एक ओर विशेषता थी कि राज्य में लिपिक साधारणतया व्यापारी वर्ग से ही भर्ती किये जाते थे और इनमें मुख्यतः खत्री तथा उत्तरी भारत के जैन प्रमुख थे। गुरु नानक के पिता एक स्थानीय सरदी के अधीन लेखाधिकारी थे। व्यापार तथा वाणिज्य में सक्रिय रहने के साथ ही ये (खत्री आदि) मुगलों के समय में लिपिक का काम भी करने लगे थे। 17 वीं शताब्दी के अन्त तक अनेक खत्री परिवार अहमदाबाद तथा सूरत में बस गये। जहाँ वे व्यापार के साथ ही लेखाधिकारी का कार्य भी करते रहे।

इनकी दूसरी विशेषता थी कि पेशे के बदलने के साथ ही वे एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिये तत्पर रहते थे। इस सम्बन्ध में जगत सेठ के परिवार का उदाहरण अधिक अच्छा है। ये परिवार मूलतः राजस्थान में नागौर से निकला था। इसके एक पूर्वज, हीरानन्द शाह शर्राफ, पहले पटना में जाकर बसे फिर मुर्शिदाबाद चले गये और इसी बीच नागौर से मुर्शिदाबाद जाने के बीच वे मुगलों के खजानदार बन गये। इस स्थिति में उसने ने केवल अत्यधिक धन ही इकट्ठा किया अपितु व्यक्तिगत महत्ता के क्षेत्र में भी अपनी साख बना ली। इसी प्रकार बनारसी दास के परिवार ने भी उन्नति की।

इस भौगोलिक गतिशीलता का एक अच्छा उदाहरण जादूदास के परिवार का है। इस परिवार के सदस्यों ने सूरत में अंग्रेजी कम्पनी के दलालों के रूप में जीवन शुरू किया और जैसे–जैसे कम्पनी ने अपनी शाखाऐं स्थापित कीं वैसे ही वैसे इस परिवार के सदस्यों ने इन अलग–अलग स्थानों पर जाकर कम्पनी में अपने परिवार की दलालों की स्थिति पर एक प्रकार से एकाधिकार ही कर लिया। पीटर मुन्डी ने लिखा है कि सूरत, पटना, आगरा, भणोंच तथा बुरहानपुर में इसी परिवार के सदस्य कम्पनी के दलालों के रूप में कार्य कर रहे थे। इससे हमें यह जानकारी मिलती है कि भौगोलिक सीमाओं तथा जाति बन्धनों को पार कर इस परिवार ने कम्पनी के दलालों के रूप में किस प्रकार अपना एकाधिकार जमाया।

केवल यही नहीं कि मध्यम वर्ग के परिवार ही एक जगह से दूसरी जगह जाकर बस जाते थे परन्तु हमारे पास ऐसी भी जानकारी है जबकि व्यापारियों की बिरादरी की बिरादरी देश के एक भाग से दूसरे भाग में जाकर बस गई। अर्ध कथानक का लेखक हमें बताता है कि फतेहपुर में एक पूरा मोहल्ला ओसवाल व्यापारियों का था जो मूलतः मारवाड़ से आकर बस गये थे। इसी प्रकार गुजराती सर्राफ दिल्ली में जाकर बसे गये थे।

इस प्रकार हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि पेशेवर तथा व्यापारिक वर्ग के आर्थिक आधार, उनकी एक जगह से दूसरी जगह जाकर बसने की प्रवत्ति, अपने–अपने क्षेत्रों में प्राप्त निपूर्णता इस बात को दर्शाती है कि इन दो विभिन्न ग्रुपों के सदस्य समाज के एक ही वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। इस वर्ग की जीविका गैर–सामन्ती सम्पत्ति पर आधारित थी और मुगलकाल में यह मध्यम वर्ग के रूप में विद्यमान थी।

जीवन स्तर

16 वीं तथा 17 वीं शताब्दी का हमें कोई ऐसा विस्तत विवरण नहीं मिल पाया है जिसके आधार पर हम उस समय के सामाजिक स्तर–विन्यास अथवा स्तर का अनुमान लगा सकें। इसलिये हमें विदेशी यात्रियों के विवरण अथवा प्रासांगिक पुरालेखों अथवा यूरोपियन फैक्ट्री रेकार्डस पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके बाद भी प्राप्त आंकड़े इतने कम हैं कि उनके आधार पर किसी प्रकार की तस्वीर बनाना पूर्णतया सम्भव नहीं है। 16 **वीं** 17 शताब्दी के यात्रियों के विवरण से हमें केवल ये जानकारी मिल पाई है कि यहाँ जनता का एक छोटा–सा वर्ग बड़ी तड़क–भड़क व ऐशो–आराम की जिन्दगी बिताता था, जबकि किसान, कारीगर आदि की स्थिति दयनीय थी। देशी स्रोतों में भी इस मत से कोई असहमति नहीं है, परन्तु वे अधिकतर उच्च और सम्पन्न वर्ग के विलासी जीवन की ही बात करते हैं और यदा–कदा ही साधारण वर्ग के अभाव व तंगी की कोई जानकारी देते हैं। साधारण वर्ग व शासक वर्ग के बीच जीवन–स्तर की यह तीक्ष्ण विषमता हिन्दुस्तान के लिये ही कोई असाधारण बात नहीं थी अपितु इंग्लैंड जैसे देश में भी 25 प्रतिशत लोग गरीब, बेरोजगार अथवा न्यून–नियुक्त (Under Employed) थे।

आमदनी और सम्पत्ति में इस तीव्र विरोध के होते हुये औसत जीवन–स्तर को निकालने की कोशिश करना एक जोखिमपूर्ण चुनौती है। इसके अतिरिक्त परिमाणात्मक आंकड़े बहुत ही कम उपलब्ध हैं जिनकी व्याख्या करना मुश्किल है। इसलिये जो कुछ भी गुणात्मक सबूत हमें मिल पाये हैं उन्हीं के आधार पर अध्ययन सम्भव है और यहाँ पर भी हमें इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि ये कहीं पक्षपात, पूर्वाग्रह अथवा अनभिज्ञता से विकृत न हो गये हों। ऐसी स्थिति में हमारे लिये यह उचित होगा कि हम समुचित जीवन–स्तर को विभिन्न वर्गों के आधार पर देखें और फिर कोई परिणाम निकालें। इसलिये हमने समस्त समाज को उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग, निम्न वर्ग, शहरी गरीब तथा किसान वर्ग में बाँटा है।

बर्नियर लिखता है कि दिल्ली में कोई मध्यम वर्ग नहीं था : या तो मनुष्य उच्च वर्ग का था अथवा फिर वह तंगहाली में रहता था। ये कथन अधिक उचित नहीं लगता है। साधारणतया मध्यकालीन भारतीय समाज एक पिरैमिड के समान था जिसका शिखर बादशाह था। शाही दरबार के लोग, मनसबदार, राजा, जागीरदार तथा जमींदार आदि इसकी ऊपरी ढाल थे। आधार में जनसमूह था जिसमें किसान, कारीगर व साधारण मजदूर थे। इन अन्तिम दो वर्गों के बीच अनेक प्रकार के पेशावर व्यक्ति थे – जैसे धनी व्यापारी, सर्राफ, महाजन दुकानदार तथा अनेक पेशावर वर्ग जैसे लेखाकार, शिक्षक, छोटे अधिकारी, वैद्य, हकीम आदि जो मध्यम वर्ग के अंग थे।

मध्यम वर्ग

किसी वर्ग की संकल्पना सामाजिक, आर्थिक, व सांस्कृतिक हितों की एकरूपता पर आधारित है। साधारण रूप में हम मध्यम वर्ग उस वर्ग–विशेष को कह सकते हैं जो पिरैमिड के उच्चतर सामाजिक स्तर व आधार के बीच का वर्ग हो। परन्तु हमारी यह धारणा कार्ल मार्क्स द्वारा दी गई विवेचना के समरूप नहीं मानना चाहिये। फिर भी मध्यम वर्ग के अन्तर्गत कुछ पूर्व–काल्पनिक शर्तें मौजूद हैं – जैसे तकनीकी और मशीनी आधार पर व्यापक उत्पादन, व्यापार और उद्योग का विकास, आर्थिक स्वतन्त्रता, पेशेवर वर्गों का अस्तित्व आदि।

मुगलों के समय में मध्यम वर्ग के पनपने का एक और कारण है। मुगल शासन–प्रबन्ध एक अत्यधिक केन्द्रीय शासन था और ऐसे शासन के लिये विस्तत रिकार्डों को रखने की आवश्यकता थी। मुगलों ने जिस प्रकार से जातिवार आसामियों का ब्यौरा तैयार किया था अथवा एक ही गाँव में भिन्न–भिन्न जाति के रहने वालों की सूची तैयार की थी अथवा कीमतों के उतार–चढ़ाव का ब्यौरा रखा था अथवा अलग–अलग गाँवों, कस्बों और शहरों से जो राजस्व व कर वसूल करते थे, उनको देखकर आश्चर्यचकित हो जाना बड़ा ही स्वाभाविक है। इन सब रिकार्डों को रखने के लिये माफी मात्रा में छोटे अथवा अधीनस्थ अधिकारियों की जरूरत पड़ती थी और यही लोग मध्यम वर्गी थे। इस श्रेणी में दीवान, मुहर्रिर, अमील, कारकून आदि की संख्या अच्छी थी। मनसबदारों के निम्न अधिकारी – अहदी, हकीम तथा वैद्य, शिक्षक आदि को आमदनी के आधार पर हम इस वर्ग में ही रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त छोटे व्यापारी, पेशेवार लोग भी इसी वर्ग के सदस्य थे, जिनमें गुमाश्ते, दलाल, सर्राफ आदि प्रमुख थे। इस आधार पर मध्यकालीन समाज में मध्यम वर्ग की संख्या किसी प्रकार से नगण्य नहीं कही जा सकती है।

विदेशी यात्री इस प्रकार से संस्थापित वर्ग से अनभिज्ञ थे क्योंकि उनके देशों में मध्यम वर्ग की संरचना की विधि अलग ही थी। उसके अनुसार वर्नियर ने दिल्ली में मध्यम वर्ग के अस्तित्व को स्वीकारा ही नहीं है। उसके अनुसार या तो व्यक्ति उच्च पदीय था अथवा दुखद जीवन बिताता

था। इसका स्पष्ट अर्थ था कि या तो यहाँ पर अमीर रहने थे अथवा गरीब और इन दोनों के बीच कोई तीसरा वर्ग नहीं था।

मोरलैंड व ब्रिज नारायण भी मध्यम वर्ग की नगण्य स्थिति को मानते हैं। उन्होंने लिखा है कि इस समय भारत में वकील, पेशेवार शिक्षक, राजनीतिज्ञ, पत्रकार अथवा इंजीनियर नहीं थे। यहां पर न तो कोई कारखाने अथवा वर्कशाप थीं और न ही आज की तरह कोई रेल अथवा डाक व्यवस्था ही थी। इसी आधार पर उसने मध्यम वर्ग की उपस्थिति नगण्य मानी है।

पिछले छः दशकों में हुये अनुसन्धान के आधार पर बर्नियर व मोरलैण्ड के विचारों को अब स्वीकारना सम्भव नहीं है। मध्यम वर्ग के विकास की रूपरेखा को तैयार करने के लिये हमने इन्हें निम्न श्रेणियों में बांटा है : (अ) व्यापारिक वर्ग, (ब) औद्योगिक मध्यम वर्ग, (स) भूमि सम्पन्न मध्यम वर्ग व (द) पेशावर मध्यम वर्ग, कृषक वर्ग।

पहले वर्ग में व्यापारी, बंजारे, सर्राफ, महाजन, गुमाश्ते, दलाल आदि थे जिनके अलग–अलग पेशेवर समूह थे और जिन्होंने तटीय अथवा देश के आन्तरिक भागों में धन की बाहुलता के आधार पर सक्रिय भूमिका निभाई थी। इनमें से अनेक समूह ईस्ट इंडिया कम्पनी के अन्तर्गत पनपने वाले व्यापारिक वर्ग के अग्रदूत थे, जो 18 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सेठ, पारिख व आरनेनियन कहलाये। हमें इसका ताज्जुब है कि मोरलैण्ड ने इटालियन और डच स्रोतों की पूरी तरह उपेक्षा की है। इन स्रोतों में तटीय प्रदेशों में बसने वाले अनेक व्यापारियों की जानकारी है जो धनाढ्य व्यापारी थे। इटालियन स्रोतों से मालूम पड़ता है कि बंगाल और अराकाट में चिटगाँव के बनिये (व्यापारी) बड़े शक्तिशाली थे। गुजरात के अनेक बनिये, सर्राफ व दलाल मुस्लिम व्यापारियों से कई अधिक गुणा व्यापार करते थे। मोरलैण्ड ने अपने मत की पुष्टि के लिये एक दष्टान्त दिया है जिससे उसने यह परिणाम निकाला है कि साधारणतया व्यापारी वर्ग की औसत आय अधिक नहीं थी और धनाढ्य व्यापारी भी बड़े अल्पव्ययी थे। ऐसे कथन न केवल भ्रामक हैं अपितु इनकी प्रासंगिकता भी सीमित है। गुजरात और बंगाल में अनेक व्यापारियों के पास अतुल सम्पत्ति थी। वीरजी बोहरा के पास लगभग 80 लाख रुपये थे और उसका व्यापार ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समरूप था। आगरा और अहमदाबाद में भी बड़े व्यापारी थे जिनके भव्य भवन थे। यदि ये वर्ग मुगल सामन्तों के अनुरूप तड़क–भड़क के जीवन से परहेज करता था तो इसका एकमात्र कारण था कि वे चोरी हो जाने के डर से भयभीत थे। इसके विपरीत सूरत और पश्चिमी तट के मुसलमान व्यापारी विशेष रूप से फिजूलखर्ची थे। 18 वीं शताब्दी के मध्य तक राजस्थान के महाजन इतने प्रभावशाली हो गये थे कि वे यहाँ के जमींदारों व जागीरदारों से प्रतिस्पर्द्धा करते थे।

औद्योगिक मध्यम वर्ग : ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय में इस वर्ग का जो विकास हुआ उसकी कल्पना मध्यकाल में करना सम्भव नहीं है क्योंकि बगैर उन्मुक्त प्रतियोगिता के एक औद्योगिक वर्ग का विकास नितान्त असम्भव है। यह ठीक है कि भारत की हस्तकला अत्यन्त उन्नत थी परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि कलाकार का सामाजिक स्तर भी उतना ही ऊंचा था। पूँजी, अशिक्षा और श्रम–विभाजन की अनुपस्थिति में इन लोगों के लिये किसी प्रकार से उद्योग को प्रभावित करने और बाजार पर अपनी पकड़ बनाना मुश्किल था। अधिकतर लोग दलालों, बड़े व्यापारियों आदि के कारिन्दों के रूप में ही काम करते थे जिन्हें किसी प्रकार से भी औद्योगिक संगठनकर्ता नहीं कहा जा सकता है। 'कारखानों' के माध्यम से उत्पादन पर राज्य के एकाधिकार ने इन पेशावर वर्गों को मात्र वेतनभोगी बना दिया था।

भूमिसम्पन्न मध्यम वर्ग : इस सम्बन्ध में हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि क्या मुगलकाल में भूमिसम्पन्न कुलिनों के नीचे कोई भूमिसम्पन्न मध्यम वर्ग था। मोरलैण्ड का ये कथन कि आधुनिक मापदंडों के आधार पर इस प्रकार के लोगों की संख्या बहुत कम थी कुछ अनिश्चित सा मालूम पड़ता है। मुगलों के समय में एक ऐसा वर्ग था जो मध्यवर्ती भूमिसम्पन्न वर्ग कहलाता था। इसमें बड़े जमींदारों और काश्तकारों के मध्य के लोग थे जिनके पास भूमि के छोटे–छोटे टुकड़े थे जैसे बंगाल और बिहार में ताल्लुकदार और मुकररीदार, दक्षिण भारत में मिरासदार आदि। इन भूमि सम्पन्न मध्यम वर्ग के पनपने में सबसे बड़ा रोड़ा उच्च भूमिसम्पन्न वर्ग का था जैसे अवध में जागीरदार बम्बई में ईमामदार, बंगाल में जागीरदार आदि। इस वर्ग के शक्ति–सम्पन्न होने के कारण इस मध्यम वर्ग का अधिक विकास नहीं हो पाया। लेकिन इसके बाद भी मध्यवर्ती जमींदार, 'ऐमा' के भोगी तथा धनाढ्य किसान गाँव की जनसंख्या में मौजूद थे।

पेशेवर मध्यम वर्ग : मुगल राज्य एक 'कागजी राज्य' था जिसमें छोटी से छोटी घटना का विस्तत ब्यौरा रखा जाता था और इसके लिये अधीनस्थ कर्मचारियों के एक अच्छे–खासे वर्ग की जरूरत पड़ती थी। इस वर्ग में सबसे पहले तो विशिष्ट पेशेवर वर्ग थे जो किसी विशेष प्रकार के प्रशासकीय कार्य में दक्ष थे। इनमें अमील, कारकून, मुहर्रिर और राजस्व विभाग के अन्तर्गत अनेकों निम्न श्रेणी के अधिकारी थे जो अपने विशेष क्षेत्र में माहती रखते थे। ये अधिकतर कायस्थ, खत्री अथवा वैश्य जाति के थे जिन्होंने पुश्तैनी रूप में कार्य करते हुये उसमें दक्षता प्राप्त कर ली थी। ये लोग सम्पन्न थे। उनकी सम्पन्नता उनके वेतन पर आधारित न होकर अनेक दूसरे तत्वों पर निर्भर थी जिसमें घूस लेना, राजस्व का गबन करना एक साधारण बात थी। सूरतसिंह ने लाहौर के एक सम्भावित मोहल्ले में 700 रुपये में एक घर खरीदा था। वह आजीवन एक मात्र कारकून में पद से ऊँचा नहीं उठ सका था। इसी प्रकार एक दूसरे अधीनस्थ अधिकारी ख्वाजा उदयचन्द ने एक दरगाह के निकट 3000 रुपये में एक कुँआ बनवाया। इसके अतिरिक्त **आई.ए.खान** के अनुसार, कुछ अमीनों और फौजदारों ने जमीन खरीद कर छोटी–छोटी बस्तियाँ बसाई, जिनमें बगीचों, सरायों और हमामों का निर्माण किया गया जिनमें बहुत आय होती थी। **अनिल चटर्जी** बंगाल प्रान्त का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि स्थानीय राजाओं की सेवा में काम करने वाले अनेक दीवान और बख्शी और कानूनगो धनी जमींदार हो गए। **सतीशचन्द्र** के अनुसार निश्चय ही उनकी समद्धि उनके वेतनों से नहीं हुई वरन् गलत तरीकों से धन कमाने, गबन अदि करने से हुई।

निम्न श्रेणी के मनसबदारों को जो वेतन मिलता था उसमें वे साधारण वर्ग के लोगों से अच्छा जीवन बिताते थे परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जागीरों की कमी, बारम्बार होने वाले तबादले तथा प्रबल भ्रष्टाचार ने उनकी स्थिति काफी खराब कर दी थी।

बर्नियर (फ्रांसीसी यात्री) लिखता है कि उनके मकान 'काम चलाऊ दिखावट' के थे। उनमें से केवल कुछ ही ईंट व पत्थर के बने थे परन्तु इसके बाद भी वे हवादार थे।

इनके बाद मध्यम वर्ग में बुद्धिजीवियों की गणना होती थी। **मोरलैण्ड** इस प्रकार की श्रेणी को अस्वीकार करता है क्योंकि यहाँ पर आंग्ल भाषा में पारंगत कोई शिक्षक नहीं था। परन्तु इसके बाद भी यहाँ पर मदरसे, मखतब, गुरुकुल व आश्रम थे जहाँ संस्कृत, अरबी और फारसी के प्रकाण्ड विद्वान मौजूद थे। हिन्दुओं में धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न कराने की जिम्मेदारी ब्राह्मणों की थी। इनमें से शिक्षित ब्राह्मण राजगुरुओं के रूप में राजघरानों अथवा धनाढ्य लोगों के यहाँ धार्मिक क्रियायें सम्पन्न कराते थे और अशिक्षित साधारण वर्ग की धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते

थे। मुसलमानों में इसकी पूर्ति मुल्ला, मौलवी करते थे। आर्थिक रूप से यह वर्ग अधिकतर गरीब ही था तथा अपने जीवन–यापन के लिए किसी संरक्षक पर ही निर्भर था। परन्तु इसके साथ ही अबुल फज़ल व बीरबल जैसे उदाहरण भी मिलते हैं। जिन्होंने अकबर के समय में अत्यधिक उन्नति की।

इसी वर्ग में वैद्य और हकीमों की स्थिति भी अच्छी थी। **मोरलैण्ड** का मानना है कि इनकी सेवाओं का क्षेत्र बड़ा ही सीमित था परन्तु इतिहासकार मोरलैण्ड के इस विचार से सहमत नहीं हैं। मनसबदारों के यहाँ जो वैद्य और हकीम सेवारत थे उनकी आर्थिक स्थिति सम्पन्न थी। जगदीश नारायण सरकार कहते हैं कि कुछ वैद्य 15-20 रुपये महावारी पर अमीर परिवारों से जुड़े हुए थे। **इक्तिदार आलम खान** का कहना है कि राज्य और मनसबदारों के अतिरिक्त साधारण वर्ग में वैद्य और हकीमों की अच्छी माँग थी जिसके कारण ये वर्ग अधिक सम्पन्न दिखाई देता है। इसी वर्ग में ज्योतिषी भी सम्मिलित थे। किसी कार्य को शुरू करने से पहले हिन्दू तथा मुसलमान इनमें शुभ मुहूर्त पूछते थे। बर्नियर लिखता है कि ये या तो बाज़ारों अथवा दरबारों में मिलते थे।

ग्रामों में रहने वाले धनी लोग शानो–शौकत का जीवन व्यतीत करते थे। सूरदास ने अनेक प्रकार के व्यंजनों का उल्लेख किया है जो समारोहों के अवसर पर उनके घरों में बनाए जाते थे। इस वर्ग की स्त्रियाँ अनेक प्रकार की बहुरंगी साड़ियाँ पहनती थी और पुरुष लोग शहर में रहने वालों की तरह **जामा** और **काबा** पहनते थे। इससे प्रकट होता है कि जिन गाँवों में ये धनी लोग रहते थे, वे शहर के बाज़ारों से अलग–थलग होते थे।

अध्याय - 3
(घ) कारीगर
(d) Artisans

दसवीं सदी से उत्तर भारत में शहरों का विकास पुनः आरम्भ हो गया था। यह प्रक्रिया तुर्क केन्द्रीकरण एवं शहरों में रहने वाले एवं उच्च स्तर का जीवन यापन करने वाले प्रशासक वर्ग की संख्या में वद्धि के परिणामस्वरूप 13 वीं सदी से काफी तेज़ हो गई। दिल्ली सल्तनत की स्थापना होते ही उतरी भारत में कृषि एवं शहरी क्रांति प्रारम्भ हुई। तेरहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी में कृषि अर्थव्यवस्था का विकास पहले से काफी तीव्रता से हुआ। तीन शताब्दियों में ग्रामीण समाज के अन्दर के ढाँचे में यद्यपि गहन परिवर्तन नहीं हुआ किन्तु समाज के विविध वर्गों के अधिकारों की परिभाषा बदलते ही, आन्तरिक एवं ब्राह्य दबाव में, ग्रामीण समाज की अर्थव्यवस्था एवं आर्थिक संगठन में जो विकास हुआ, वह नवीन दिशा में था। उनकी नई–नई आवश्यकताओं की पूर्ति करने हेतु अनेक नवीन उद्योगों ने जन्म लिया। कृषकों ने कृषि उत्पादन में अपना योगदान दिया। साथ ही साथ इस काल में कृषि गह उद्योगों या कुटीर व लघु उद्योगों से जुड़ी रही। यह गह उद्योग इस काल में आर्थिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग बन गए। गाँव तथा शहरों में शिल्पी तथा कारीगर अपने पैतक व्यवसाय में लगे रहते थे। उनके औजार व तकनीक पुरानी थी। तुर्कों के उदय के साथ एक नए शासक वर्ग का उदय हुआ जिनकी सोच शिल्पकार जातियों की अपेक्षा उनके उत्पादनों में अधिक थी। उन्होंने जातिगत बंधनों को लागू करने में कोई नहीं दिखाई। अपितु अंतर–व्यवसायिक रूचि गतिशीलता को नियंत्रित किया जिसे **मुहम्मद हबीब** ने नगरीय क्रांति की संज्ञा दी है। जहाँ एक ओर कृषि पर आधारित अनेक उद्योग गाँवों में पनपे वहाँ दूसरी ओर नगरीय अर्थव्यवस्था के विस्तारण के परिणामस्वरूप नगरों तथा कस्बों में भी अनेक उद्योग–धंधे स्थापित हुए।

कारीगर तीन प्रकार के होते थे

1. पहले वे जो कच्चा माल खरीद कर अपने परिवारिक श्रम के साथ माल तैयार करते थे तथा तैयार माल को स्वतन्त्र रूप से नज़दीक के बाज़ार में बेच देते थे।
2. दूसरे वे थे जो कि किराए पर माल तैयार करते थे।
3. तीसरे तथा सबसे महत्वपूर्ण शाही कारखानों में काम करने वाले दास थे, जिनको किसी एक शिल्प में दक्ष किया जाता था। यही दास शाही कारखानों में वस्तुए तैयार करते थे। उस समय आधुनिक युग की तैयार वस्तुएं मशीन पर तैयार न की जाकर हाथों से तैयार की जाती थी जो मशीन से ज्यादा समय लेती थी?

14वीं सदी में कारीगर शहरों में आने लगे और मुस्लिम सुल्तानों ने इनको प्रोत्साहन दिया लेकिन उनके हितों को राज्य की तरफ से सुरक्षा प्रदान नहीं थी। औद्योगिक वस्तुओं की पूर्ति उच्च वर्ग की आवश्यकतानुसार की जाती थी (जो बहुत ही सीमित थी) जैसे कपड़े की बहुत ही अच्छी

किस्म, धातु की बनी कुछ चीजे, लकड़ी की चीज़ें और स्थापत्य कला के कुछ कुशल कारीगर आदि ही इनकी जरूरत थे। इसलिए कारीगर समस्त वर्गों की जरूरत की बात नहीं सोचता था। के॰ एम॰ अशरफ कहते हैं कि यह सही है कि इन कारीगरों की बनी वस्तुएँ शिल्कला का अद्‌भुत नमूना थी लेकिन इनके संघ की रूढ़िवादिता और अलगाव के कारण शिल्पकला के (secrets) बनाने के ढंग अब भावी पीढ़ी के लिए लुप्त हो गए। हस्तशिल्प या दस्तकारी एवं उद्योग बहुत बहुत विशिष्ठ हस्तशिल्प या दस्तकारी एवं उद्योग बहुत विशिष्ठ होते थे व कुछ विशिष्ट जातियों के लोग ही विशिष्ट व्यवसायों का अनुसरण कर सकते थे। सभी शिल्पकार वर्गों को शिल्प संघों या श्रेणियों में संघटित किया गया है। यह हस्तशिल्प के व्यवसायिक संघ इसी प्रकार की यूरोपीय श्रेणियों से बहुत भिन्न नहीं थे। यूरोपियन Guilds या श्रेणियाँ कीमतों व मजदूरी का निर्धारण व उत्पादन का निरीक्षण (मानकीकरण) आदि भी करते थे जबकि भारत के संघ मूलतः सामाजिक सस्थाएँ थी और वे अनुचित करो का विरोध करने जैसी बातों पर ही एकजुट होते थे। बुनकरों, रंगरेजों, दर्जियों, चर्मकारों, तेलियों, कुंभकारों, नाईयों आदि के अपने–अपने सामूहिक संगठन या श्रेणियों थी। वंश परम्परा व जाति ही इन संगठनों में काफी हद तक महत्वपूर्ण थी?

विभिन्न व्यवसायिक जातियों की अपनी अलग–अलग गलियाँ थी। गाँव में कुम्हार, नाई, धोबी, पहरेदार, बढ़ई आदि जैसे आवश्यक हस्तशिल्पी ग्राम समाज का अभिन्न अंग होते थे।

मुस्लिम समाज में मध्यम वर्ग के नीचे शिल्पकार, खव्वाज (रोटी पकाने वाले) हलवाई, कस्साब (कसाई), जरगर (सुनार), कुम्हार, दरजी, टोपी बनाने वाले, मोज़ा बनाने वाले, तीर कमान बनाने वाले, कुम्हार, धुनिया, रंगरेज, जुलाहे, हज्जाम (नाई), धोबी, व अन्य छोटे–छोटे व्यवसायों में लगे हुए लोग थे। जैसे – पत्थर काटने वाले, बढ़ई, जिल्दसाज आदि। **बरनी** अलाऊद्दीन खलजी के काल का वर्णन देते हुए लिखता है कि शेख निजामुद्दीन औलिया के प्रभाव के कारण उसके शिष्यों में रहस्यवाद की पुस्तकों के अध्ययन करने की रूचि बढ़ी व इससे दिल्ली में पुस्तक विक्रेताओं का बाजार, बढ़ा। सूफी मत के मानने वालों के कारण लोहे व चमड़ों के मश्कों का मूल्य अत्यधिक बढ़ गया। इससे ज्ञात होता है कि पगड़ी, कंघी, लोटे तथा चमड़े के मश्क बनाने के नए व्यवसाय इस काल में विकसित हुए। दरगाहों में सुगन्धित इत्र व धूपबत्ती व ताबीज की आवश्यकताओं ने अनेक भारतीयों मुसलमानों के नवीन व्यवसाय प्रदान किया। मुसलमान समाज के उच्च वर्ग की इन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए यही वर्ग था। भारतीय मुसलमानों ने इन व्यवसायों को अपनाकर अपना जीवनयापन प्रारम्भ किया। ज्यों–ज्यों किसी व्यवसाय में व्यवसायिक योग्यता और उत्पादन की नवीन तकनीक का विकास हुआ, वैसे–वैसे मुसलमानों की बढ़ती जनसंख्या इन व्यवसायों में खपती चली गई। उत्तरी भारत के विभिन्न स्थानों पर खानकाहों व दरगाहों के कारण उपरोक्त सभी व्यवसायों को प्रोत्साहन मिला। शहरीकरण के कारण उन्हें उन्नति करने का अवसर मिला।

कारखानों व कारीगरों की स्थिति

कारखाना का शाब्दिक अर्थ है वह स्थान जहाँ सामान्यतः जनसाधारण के प्रयोग के लिए कार्यशालाएँ स्थित हों। मध्ययुगीन इतिहासकारों ने इसे व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया है जिसके अनुसार कारखाना के अंतर्गत कार्यशालाओं के अतिरिक्त अन्य चीज़ें भी सम्मिलित थी जैसे कि भंडार, शाही दरबार, सुल्तान की निजी सेवाएँ एवं पशुओं के बाड़े इत्यादि। कारखाने के लिए **बयूतात** शब्द का प्रयोग किया जाता था जो अरबी भाषा के शब्द **बैत** का बहुवचन है। बैत का अर्थ है घर। अतः कारखानों या बयूतात जैसा कि इस विभाग का नाम था, के अंतर्गत वे कारखाने और भंडार आते थे जिनका

रखरखाव सरकार राज्य के इस्तेमाल के लिए करती थी। हीरे–जवाहरात से लेकर तलवारों, तोप–बंदूकों और भारी गोली–बारूद तक की खरीद–फरोख्त और रख–रखाव इसी विभाग की जिम्मेदारी थी। सेना के लिए घोड़े और हाथी, सामान ढोने वाले टट्टू जानवर और शाही शिकार के लिए अन्य पशुओं के रख–रखाव की जिम्मेदारी भी **बयूतात** की ही थी। यह विभाग न केवल सब प्रकार की वस्तुओं की खरीद और भंडारण करता था अपितु युद्ध के लिए अस्त्र–शस्त्र एवं विलास साम्रगियों के निर्माण का सबसे बड़ा केन्द्र भी था। यद्यपि कारखानों का स्वामित्व एवं प्रबंध राज्य के हाथ में था फिर भी इसे पूर्णतः व्यापारिक ढंग से चलाया जाता था। कारखानों की भूमिका न केवल घरेलु अपितु साम्राज्य के सैन्य एवं वित्तीय क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण थी। इसके अतिरिक्त राज्य की औद्योगिक प्रगति को भी ये प्रभावित करते थे।

मध्ययुगीन शासकों के विलास, उनके दरबारों व महलों की साज–सज्जा एवं शानशौकत के लिए जिन–वस्तुओं की आवश्यकता होती थी उनका निर्माण सामान्य बाज़ार में होना कठिन था। अतः शासकों को बाध्य होकर इनके निर्माण के लिए सरकारी कारखाने लगवाने पड़े। **के॰एम॰ अशरफ** का विचार है कि कारखानों की व्यवस्था कदाचित फारस से ली गई है किन्तु वास्तव में कारखानों का वर्णन मध्यकाल में अलाऊद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक व फिरोज तुगलक के समय में आता है। सल्तनत काल के सभी कारखानों को उचित रूप से कारखाने या कार्यशालाएँ नहीं कहा जा सकता। इनमें से कुछ तो कारखाने थे जबकि अन्य शाही विभागों एवं सुल्तान की निजी सेवाओं और पशुओं के बाड़ों से संबंधित थे।

सल्तनत काल में राजकीय कारखानों के साथ–साथ व्यक्तिगत अमीरों के कारखाने भी होते ही थे, जहाँ कि सुल्तान परिवार के सदस्यों व राज्य के विभिन्न विभागों के काम आने वाली वस्तुओं का निर्माण किया जाता था। शाही कारखानों को राज्य व व्यापारियों से वित्तीय सहायता मिलती थी। दिल्ली के लगभग सभी सुल्तानों के बड़े–बड़े कारखाने थे जहाँ कि विविध वस्तुओं का उत्पादन होता था, जहाँ हजारों की संख्या में कारीगर कार्य किया करते थे। प्रत्येक वर्ष सुल्तान अपने अमीरों को खिलअतें, छल, पताकाएँ, ज़ीन सहित घोड़े, सोने व चाँदी की ज़री से कढ़ी हुई ज़ीने व झूलें उपहार में प्रदान करते थे। इन शाही वस्तुओं का उत्पादन शाही–कारखानों में ही होता था। सुल्तान मुहम्मद तुग़लक ने भी पूर्व सुल्तानों की भाँति अपनी व अपने परिवार या राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए विभिन्न प्रकार के कारखानों की स्थापना की। शिहाबुद्दीन अल उमरी ने लिखा है कि इनमें से एक कारखाना रेशमी वस्त्रों व कढ़ाई करने का था जिसमें 4000 कारीगर कार्य करते थे। यहाँ खलअतें व उपहार में देने के लिए विभिन्न प्रकार के वस्त्र तैयार किये जाते थे। सुल्तान प्रतिवर्ष 2 लाख पूरे वस्त्र वितरित करता था अर्थात् 1,00000 शीत ऋतु में तथा 1,00000 शरद ऋतु में। शीत ऋतु के परिधान सिकन्दरिया से आयात किये हुए कपड़े के बनाए जाते थे। ग्रीष्मकालीन परिधान सूती कपड़े के बनाये जाते थे, जो दिल्ली या उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बनाये जाते थे या चीन तथा ईराक से आयात किये जाते थे। शाही परिधान खानकाहों में वितरित किये जाते थे। इन्हीं कारखानों में 4000 जरदोज़ी का कार्य करने वाले कारीगर अन्तःपुर के लिए किमख्वाब के वस्त्र तथा सुल्तान के लिए परिधान तैयार करते थे। इनमें से कुछ खिलअतें सुल्तान राज्य के पदाधिकारियों तथा उनकी पत्नियों को भी प्रदान करता था। यह कारखाने सुल्तान के प्रयोग में आने वाली सभी वस्तुओं जैसे कि टोपियों और जूतों, पर्दों, जीन, कढ़ाईदार वस्तुओं, टेपस्ट्री, दरी, कमरबन्दी, शश इत्यादि का उत्पादन करते थे।

सुल्तान फिरोज़शाह तुग़लक ने अपने शासनकाल में इन कारखानों की व्यवस्था की। उसके समय

36 कारखाने थे। वह विभिन्न कारखानों में सामग्री एकल करने का प्रयास किया करता था। ताकि प्रत्येक कारखाने को नाना प्रकार की उत्तम वस्तुओं तथा सामग्री उपलब्ध कराई जा सकें। धीरे–धीरे प्रत्येक कारखाने में अत्यधिक बहुमूल्य सामान एकत्र हो गया। उसके समय दो प्रकार के कारखाने थे — 1. रतीबी 2. ग़ैर रतीबी — रतीबी कारखानों में पीलखाना (गजशाला) पायगाह (अश्वशाला) मतबख (रसोई), शराबखाना, शमाखाना (रोशनी का प्रबन्ध करने वाला विभाग) शुतुरखाना (ऊँटों का अस्तबल) सग़खाना (कुत्तों को रखने का स्थान) आवदार खाना (जल के प्रबन्ध का स्थान) आदि थे। रतीबी कारखाने पर अपार ध्रान व्यय होता था। उकसे लिए वार्षिक धन निर्धारित था। उसके लिए एक लाख 60 लाख टन्का प्रति माह व्यय होता था। वहाँ के कर्मचारियों पर तथा अन्य लोगों के वेतन के अतिरिक्त एक लाख साठ हजार चाँदी के तन्के मासिक खर्च होता था। रतीबी कारखाने में पैगाह सबसे महत्त्वपूर्ण था। यह पैगाम अनेक स्थानों पर थे। सबसे बड़ा पैगाह शाहखान मुल्तानपुर, किब्ला, दरबार के समीप (पैमान–ए–महल–ए–खास) शकरखाना–ए–खास मैं था। कुछ विशेष दासों के हाथें में भी एक अन्य पैगाह था। कारखाना नफर (ऊँट अस्तबल) में अनेक ऊँट थे। ऊँट के अस्तबलों के रख–रखाव के लिए दोआब में अनेक गाँव की आय निर्धारित थी। प्रत्येक वर्ष ऊँटों की संख्या में वद्धि होती रहती थी क्योंकि विभिन्न अक्ताओं के मुक्ती अन्य उपहारों के साथ ऊँट सुल्तान को भेंट में दिया करते थे।

ग़ैर रतीबी कारखाने में **जामादारखाना, अलमखाना** (पताका विभाग) फर्राशखाना (फर्श इत्यादि विभाग) रिकाबखाना (घोड़े की जीन आदि तथा भोजन से सम्बन्धित विभाग) आदि थे। उनमे प्रत्येक वर्ष नये सामान तैयार किये जाते थे। जामादारखाने में प्रत्येक वर्ष शीतऋतु में छः लाख टन्के के मूल्य के शीतऋतु तथा ग्रीष्मऋतु के परिधान तैयार किये जाते थे। आलमखाने पर प्रत्येक वर्ष 80 हजार तन्के खर्च होता था। इसमें व्यय में कार्य करने वालों का वेतन सम्मिलित नहीं होता था। फर्शखाने में दो लाख तन्के के मुल्य के फर्श बनाये जाते थे। ग़ैर रतीबी कारखाने पर व्यय होने वाली राशि निर्धारित नहीं होती थी।

यह कारखाने बड़े–बड़े खानों व प्रतिष्ठित व्यक्तियों के आधीन होते थे। जामादारखाना मलिक माली तथा मलिक इस्माइल के आधीन था। पीलखाना मलिक शाहीन सुल्तानी, शिकारखाना मलिक खिज्र बहराम, अलमखाना व पायगाहे खास व रिकाब खाना मलिक मुहम्मद हजी, जर्रादखाना (अस्त्र–शस्त्र विभाग) वे सिलहखाना (अस्त–शस्त का भण्डार) मलिक मुबारक कबीर के आधीन था। तश्तदातरखाना मलिक बिलालखान व जवाहरखाना ख्वाजए जहाँ सरवर सुल्तानी के हाथों में था। सुल्तान फिरोजशाह तुग़लक स्वयं इन कारखाने के अधिकारियों तथा मुत्सर्रिफों को नियुक्त करता था। जामादारखाने का मुत्सर्रिफ मलिक कमालउद्दीन तुरती खान था। उस समय उलमखाने, रिकाबखाने तथा पीलखाने के मुत्सर्रिफ का पद अफीफ के पिता तथा चाचा को प्राप्त था। सुल्तान के आदेश की सूचना सर्वप्रथम ख्वाजा अबुल हसन को फर्मान द्वारा दे दी जाती थी। ख्वाजा अबुल हसन कारखाने के तुत्सर्रिफों को आदेश देता था कि वे अमुक वस्तुएँ तैयार करवाएँ। कारखानों के हिसाब–किताब की जाँच दीवाने मजमुए में हुआ करती थी। कारखाने के मुतसर्रिफ दीवान–ए–वज़ारत को भी अपना हिसाब–किताब पेश करते थे। प्रत्येक कारखाने में अगणित निम्न श्रेणी के कर्मचारी हुआ करते थे।

विविध कुटीर उद्योगों का जो विवरण ऊपर दिया हुआ है उससे कई बातें सामने आती हैं। इस काल में शासक तथा व्यापारी वर्ग ने उनके विकास व उत्पादन में रुचि तो ली किन्तु उन उद्योगों की संरक्षण प्रदान नहीं किया। किसी भी शासक व अमीर ने अपना धन उद्योग में नहीं लगाया।

इसलिए कुटीर उद्योगों के मालिकों को अनेक कठिनाइयों व समस्याओं का समय–समय पर सामना करना पड़ा। अधिक पूँजी उनके हाथों में न होने के कारण वे अत्यधिक उत्पादन नहीं कर सके और न ही अपने उद्योग को कभी बढ़ा सके। दूसरे ऐसे बहुत ही कम उद्योग थे जिनमें व्यवसायिक गतिशीलता हो। साधारणतः एक ही जाति के लोग अपने पुश्तैनी व्यवसाय में लगे रहते थे और उन्होंने दूसरे व्यवसायों में प्रवेश करने की न चेष्टा की और न ही उत्पादन के साधनों में परिवर्तन करने का प्रयास किया और न ही उत्पादन की नवीन तकनीक ही अपनाई।

श्रम की प्रकृति

पूर्व मध्यकालीन भारत में श्रम की कोई समस्या न थी कारण यह कि वहाँ श्रमिक अधिक संख्या में विभिन्न कार्यों के लिए उपलब्ध थे। दिल्ली के सुल्तान व अमीर अभियानों द्वारा तथा विभिन्न प्रदेशों पर छापे मारकर दास प्राप्त कर लिया करते थे और इन दासों को विभिन्न कार्यों में या तो स्वयं लगा लेते थे या उन्हें विभिन्न व्यवसायों में प्रवेश करने का अवसर प्रदान कर देते थे। शहरों में विभिन्न उद्योगों में लगे हुए औद्योगिक श्रमिकों और गाँव में कुटीर उद्योगों में लगे हुए श्रमिकों में कोई विशेष अन्तर न था। क्योंकि दोनों ही अपने–अपने व्यवसायों में कुशलता प्राप्त कर लेते थे या कुशलता रखते थे। दोनों को ही प्रशासन की ओर से कोई संरक्षण नहीं मिलता था। अन्तर केवल इतना ही था कि शहरों में शाही कारखाने में कार्य करने वाले कारीगरों को अच्छा वेतन व राज्य की ओर से संरक्षण मिलता था जबकि ग्रामीण कारीगरों को नहीं। दोनों ही समाज के विशेष वर्ग के लिए ही सामान तैयार करते थे। किन्तु यहाँ भी अन्तर केवल रहता था कि शाही कारखानों में सुल्तान व उसके परिवार के सदस्य के लिए वस्तुएँ तैयार होती थी या अमीरों के कारखानों में उनके लिए वस्तुएँ तैयार की जाती थी, किन्तु ग्रामीण कारीगर गाँव के लोगों व निकटवर्ती कस्बों या शहरों की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर वस्तुओं का उत्पादन किया करते थे। शहर ग्रामीण सम्बन्धों को देखते हुए यह कहना भ्रमात्मक होगा कि कारीगर समस्त समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उत्पदन नहीं करते थे। प्राचीन काल में भी और अब भी शहर की जनता गाँव के उत्पादन पर ही निर्भर रहती थी। चाहे वह कृषि उत्पादन हो अन्यथा ग़ैर–कृर्षि उत्पादन। इस काल में गाँवों में श्रम की बाहुल्यता के कारण ही कुटीर उद्योग जीवित रह सके। खेतों को जोतने, बोने, उनकी निराई व सिंचाई; फसल की कटाई और मड़ाई के बाद जो भी समय कृषकों को मिलता था उसमें वे अन्य कार्य कर लिया करते थे। जिनका सम्बन्ध किसी उद्योग से न था और जो भूमिहीन थे वे निकटवर्ती शहरों में जाकर रोजी–रोटी कमा कर अपने गाँव को वापस लौट आया करते थे।

इस काल में चाहे राजधानी हो या अन्य शहर, सभी स्थानों में कुशल व सामान्य श्रमिकों की आवश्यकता बराबर रही। दिल्ली के सुल्तान, 'अमीर, गणमान्य व्यक्ति अपने लिए रहने के लिए बड़े–बड़े दुर्ग, सुन्दर महल, हवेलियाँ या मकान बनवाते थे। इस कार्य के लिए उन्हें छोटे मजदूर से लेकर कुशल कारीगरों की निरन्तर आवश्यकता पड़ती रही। उन्हें श्रमिक बराबर विभिन्न स्रोतों से प्राप्त होते रहे। मस्जिद, मदरसें, खानकाहें, दायरे व दरगाहें तथा मकबरे मुस्लिम समाज की आवश्यकताएँ थी। धार्मिक तथा सेक्युलर इमारतों को बनवाने में सहस्त्रों मजदूर व कारीगर राजधानी राजधानी दिल्ली, तदुपरान्त आगरे, प्रान्तीय राजधानियों तथा नये व पुराने शहरों में लगे रहे। यहाँ दूर–दूर से कारीगर, शिल्पकार तथा मजदूर आते रहे क्योंकि उनके आवागमन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। श्रमिक शिल्पकार वर्ग का नगरीकरण में क्या महत्त्व था इसकी चर्चा अन्यत्र की जायेगी।

कुशल कारीगरों में व्यवसायिक निपुणता इतनी अधिक थी कि वे सुन्दर से सुन्दर वस्तुओं का निर्माण अपने औज़ारों से व सीमित साधनों से कर लिया करते थे। बारीक से बारीक काम में वे अभ्यस्त, अनुभवी, निपुण और अत्यन्त कुशल थे। अपनी कुशलता को वे अपने साथ संरक्षित रखते थे और अपनी कला को वह अन्य किसी वर्ग के व्यक्ति या जाति व समुदाय के पास नहीं पहुँचने देते थे। उनकी कला वंशानुगत थी। पीढ़ी दर पीढ़ी तक उनकी कला उनके परिवारों में रही। यही कारण था कि उन्हीं के साथ उनकी कला भी समाप्त होती रही। बाबर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि "हिन्दुस्तान की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ विविध प्रकार के असंख्य कारीगर है। प्रत्येक कार्य के लिए कारीगरों की एक निर्धारित जाति है जहाँ की पिता से लेकर पुत्र तक व्यवसाय चलता रहता है।" यही कारण था कि यहाँ के कारीगर प्रत्येक व्यवसाय में कुशल थे किन्तु विभिन्न उद्योगों के कारण यहाँ हज़ारों की संख्या में शिल्पकार थे, जैसे कि सुनार, लोहार, टीन का काम करने वाले, बढ़ई पत्थर काटने वाले, नक्काशी करने वाले आदि। किन्तु ऐसा केवल अपवाद था। ऐसे बहुत से व्यवसाय थे जहाँ कि अमुक व्यवसाय की कला–कौशल एक ही परिवार में कई पीढ़ियों तक सीमित रही क्योंकि परिवार के सदस्यों का यह कहना था कि पुत्र को पिता का और पुत्री को माँ का व्यवसाय अपनाना चाहिये। विभिन्न कुटीर उद्योगों में वस्तु की माँग के साथ–साथ श्रम की कुशलता का भी विकास निरन्तर हुआ। प्रत्येक उद्योग में श्रम की कुशलता में वद्धि होने से नई–नई जातियों की उत्पत्ति भी हुई। पूर्वी भारत मे गुड़ बनाने वालों को मोदक तथा ताड़ का गुड़ बनाने वालों को सियूली कहते थे। आगे चलकर जब गन्ने के रस से शुद्ध चीनी बनने लगी तो उसके बनाने वालों का पथक जाति स्थापित हो गई।

सल्तनत काल में सबसे अधिक लाभ श्रमिक वर्ग को चाहे वे कुशल शिल्पकार हो या कलाकार, सुल्तान फिरोज़शाह तुग़लक के राज्य काल में ही पहुँचा। फिरोज़शाह तुग़लक का शासनकाल नवीन नगरों के निर्माण व भवन–निर्माण तथा नहरों, जलाशय, तालाबों के निर्माण अथवा लोकपयोगी कार्यों के लिए प्रसिद्ध था। इन सभी कार्यों के लिए श्रमिकों की प्रचुर संख्या में उपलब्ध होना नितांत आवश्यक था। बिना उसके उसकी कोई भी योजना पूर्ण हो ही नहीं सकती थी। उसके शासनकाल में इन योजनाओं के लिए श्रमिक प्राप्त करने के कई स्रोत थे। उस समय स्थानीय योजनाओं के लिए अर्थात् नहर, कुओं, जलाशय आदि के निर्माण के लिए कृषक उपलब्ध थे, जिनकी सहायता से तथा जिनके उपयोग के लिए ऐसी योजनाएँ पूरी की गई। श्रम का दूसरा स्रोत भूमिहीन किसान थे, जो कि अपना जीवन–निर्वाह करने के लिए श्रम की खोज में रहते थे। इसके अतिरिक्त इस काल में दास विविध कार्यों के लिए मौजूद थे। अर्न्तप्रादेशिक गतिविधि में पहले की भांति कोई कमी नहीं हुई। **अफीफ** ने लिखा है कि फिरोजाबाद शहर के निर्माण के समय व उसके बाद मजदूर मज़दूरी पर किसी न किसी कार्य करने में तल्लीन रहते थे और वे निकट व दूर से आते रहते थे। अफीफ ने यह भी लिखा है कि प्रत्येक वर्ष राज्य में नये नगर बसाये जाने के कारण मजदूरी करने वालों को प्रत्येक वर्ष पिछले वर्ष की अपेक्षा अच्छी मजदूरी प्राप्त होती थी।"

फिरोज़शाह तुग़लक के शासनकाल में श्रम की कोई समस्या न थी। अनाज का भाव इतना सस्ता था कि मजदूर बड़ी आसानी से मिल जाते थे। जिस प्रकार हजारों व्यक्तियों की सहायता से उसने तेबरा ग्राम तथा मेरठ कस्बे से अशोक की लाटें दिल्ली मँगवाई, उससे पता चलता है कि श्रमिक बहुत अधिक संख्या में उपलब्ध थे। दूसरे इस काल में श्रमिकों के उपलब्ध होने के कारण ही इतनी इमारतों, भवनों, दुर्गों, नहरों आदि का बनना व शहरों की स्थापना होना सम्भव हो सका।

इतनी लोकोपयोगी योजनाओं को लागू करने पर भी उसके शासनकाल में बेरोज़गारी की समस्या थी। फिरोजशाह ने आदेश दिया कि शहर में यदि कोई योग्य व्यक्ति बेरोज़गार हो तो उसे सिंहासन के समक्ष प्रस्तुत किया जाये। इस पर दिल्ली के कोतवाल ने प्रत्येक मुहल्लेदार को बुलाकर उनसे पूछ–ताछ की कि उनके मुहल्ले में कोई बेरोज़गार तो नहीं हैं। उसने उनसे कहा कि यदि कोई हो तो व उसकी सूचना उसे दें ताकि वह सुल्तान द्वारा उन्हें किसी कार्य में लगवा दे। इस प्रकार से सुल्तान बेरोज़गारों को विभिन्न व्यवसायों में लगाने लगा। यदि कोई अहल–ए–कलम से सम्बन्धित होता था तो उसे कारखाने में दाखिल करा दिया जाता था। यदि कोई महत्त्वपूर्ण कारकून हो तो वह वजीर खान–ए–जहाँ को सौंप दिया जाता था। यदि कोई प्रार्थना करता था कि उसे अमुक अमीर को सौंप दिया जाय तो सुल्तान वैसा ही करता था। यदि कोई किसी अक्तारदार के अन्तर्गत कार्य करना चाहता था तो उसे उसके पास भेज दिया जाता था। इस प्रकार से बहुत कम लोग बेरोज़गार रह गये। जहाँ कहीं भी इन बेरोज़गारों को सौंपा जाता वहाँ, उनकी जीविका का उत्तम प्रबन्ध हो जाता था।

मजदूरी व कीमतें

सल्तनत काल में चौदहवीं शताब्दी के पहले समकालीन स्रोतों के आधार पर मजदूरी व कीमतों की जानकारी प्राप्त करना काफी मुश्किल है क्योंकि हमारे पास इस सम्बन्ध में बहुत थोड़ी जानकारी है।

बरनी लिखता है अलाउद्दीन खलजी के समय में दिल्ली में गेहूँ, जौ और मोठ की कीमत प्रति मन 7½, 4 तथा 3 जीतल थी। भरण–भोषण सस्ता होने के कारण मजदूरी भी कम थी। कारीगर की मजदूरी प्रतिदिन 2 से 3 जीतल थी। बुनकर एक चादर बुनने के 2 तथा दर्जी एक जामा वस्त्र की सिलाई के 4 जीतल लेता था। मजदूरी कम होने के साथ क्योंकि कीमतें भी कम थी इसलिए **बरनी** के अनुसार एक सात या आठ सदस्यों का परिवार मात्र 6 जीतल में रोटी व माँस खा सकता था। एक नौकर अथवा चाकर को 2 जीतल दिए जाते थे। **बरनी** ने लिखा है कि निष्ठा मजदूरी व निम्न कीमतों से साधारण वर्ग को कोई लाभी नहीं हुआ। यह कहावत प्रसिद्ध थी 'एक ऊँट एक दाँग (ताँबे का सिक्का) में मिलता है पर दाँग आए कहाँ से?'

अलाऊदीन द्वारा ये निम्न कीमतें कितने क्षेत्र में लागू थी, यह कहना कठिन है। **बरनी** के विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः ये कीमतें दिल्ली में ही लागू थी। परन्तु ऐसे उचित लगता है कि दिल्ली के आसपास के प्रदेश में भी यही कीमतें रही होगीं। सम्भवतः ऐसे समस्त प्रदेश जहाँ अलाऊद्दीन द्वारा भू–राजस्व नियम लागू थे, उन समस्त प्रदेशों में ये व्यवस्था लागू रही होगी। अलाऊद्दीन की मत्यु के साथ ही बाज़ार नियन्त्रण की व्यवस्था चरमरा गई और केवल चार वर्षों में (1316-1320 ई॰) में ही कीमतें बढ़ गई और उसी के साथ मजदूरी भी पहले की अपेक्षा चार गुणी हो गई। मुहम्मद तुगलक के समय में कारखानों में काम करने वाले मजदूरों को प्रतिमाह दो मन गेहूँ तथा चावल, तीन सेर माँस उनकी भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं के लिए दिया जाता था। इसके अतिरिक्त दस टंक प्रतिमास तथा 4 जोड़े कपड़े प्रतिवर्ष उन्हें दिए जाते थे।

फिरोज तुगलक के समय में भाव घटते–बढ़ते रहे। उसके शासन के प्रारम्भिक काल में मुल्तान में ज्वार की कीमत 80 जीतल प्रति मन तक पहुँच गई। मजदूरी की दरें भी बढ़ी और दर्जी अब एक जामा सीने के लिए, अलाऊद्दीन के समय की तुलना में लगभग 7 से 15 गुणा लेने लगा। तैमूर के आक्रमण के बाद समस्त राजनीतिक व्यवस्था अस्त–व्यस्त होने आर्थिक व्यवस्था को भी ठेस पहुँची।

इस प्रकार सल्तनत काल में कारीगरों की स्थिति ग्रामीण शिल्पकारों की तरह ही थी, जिन्हें अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता था। साधारण कारीगरों व श्रमिकों के किसी प्रकार का संरक्षण नहीं मिला हुआ था। अपनी वस्तुओं की बिक्री के लिए वे दलालों पर आश्रित थे जो उनका शोषण करते थे। सुल्तानों द्वारा उद्योग–धन्धों को प्रोत्साहित करने के बाद भी जातीय व्यवस्था से सम्बन्धित शिल्पियों पर सरकारी नियंत्रण लागू किया गया। परन्तु इसके भी कोई ठोस परिणाम नहीं निकले। राज्य द्वारा लगाए गए विभिन्न प्रकार के महसूल, बेगार आदि ने शिल्प के विकास तथा उत्पादन को पनपने नहीं दिया।

मुगल कारखाना

मुग़ल साम्राज्य में सरकारी आवश्यकता की सभी वस्तुएँ शासन स्वयं उपलब्ध कराता था। इसके लिए स्वयं सरकार सभी वस्तुओं का उत्पादन करती थी। इसके अतिरिक्त बेहतरीन किस्म की चीयें भी वहीं बनती थीं। जदुनाथ सरकार का कथन है कि इसके कारण मुग़लों का अपने "सेवकों एवं प्रजाजनों की प्रति पितवत् दष्टिकोण था"।

बड़े स्तर पर उत्पादन न होने के कारण सामान्य बाज़ार सरकार की विभिन्न महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता था। आज जो सरकार बाजार से तैयार वस्तुएँ खरीदती है या ठेकेदारों को बड़ी मात्रा में वस्तुएँ उपलब्ध कराने का आदेश देती है, वह कुटीर उद्योगों के उस काल में संभव नहीं था। साथ ही पूँजीपति बिक्री को दष्टि में रखकर बड़े पैमाने पर उत्पादन नहीं करवाते थे। अतः सरकार के पास इसके अतिरिक्त कोई और चारा नहीं था कि अपनी आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन स्वयं करें। राज्य की वस्तुओं की आवश्यकता कितनी बड़ी होती थी, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि साल में दो बार, सर्दियों और बरसात के मौसम में, बादशाह अपने प्रत्येक मनसबदार को मौसम के अनुसार पोशाक प्रदान करता था। अतः सरकारी विभाग को अपनी वार्षिक आवश्यकताओं के लिए बडी मात्रा में कपड़ा और पोशाकें तैयार रखनी पड़ती थीं। राज्य स्वयं अनेक कारखाने चलाकर इन वस्तुओं की आपूर्ति सुनिश्चित करता था। ये कारखाने साम्राज्य के प्रमुख शहरों में लगाए गए थे जहाँ कुशल कारीगरों को (कभी–कभी तो दूर–दूर से) लाकर रखा जाता था। ये कारीगर एक सराकरी दरोगा की निगरानी में कार्य करते थे और उन्हें दैनिक मज़दूरी दी जाती थी। इनके द्वारा तैयार की गई हस्तशिल्प की वस्तुओं के भंडारण की उचित व्यवस्था की जाती थी। शाही घराने के लिए आवश्यक उपभोक्ता एवं विलास वस्तुओं के उत्पादन एवं आपूर्ति के लिए ऐसी ही व्यवस्था की जाती थी। इसमें संदेह नहीं कि मुग़ल बादशाह कारखानों में विशेष रुचि लेते थे। इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता था कि शासकीय कारखाने न केवल केन्द्रीय अपितु प्रांतीय मुख्यालयों एवं अन्य महत्त्वपूर्ण औद्योगिक नगरों में भी लगाए जाएँ।

दरबारी इतिहासकारों एवं विदेशी यात्रियों की टिप्पणियों से अनुमान लगाया जा सकता है कि मुग़ल सम्राट कारखानों एवं कार्यशालाओं में कितनी रुचि लेते थे। **अबुल फजल** लिखता है "शाहंशाह तरह–तरह की चीज़ों पर बहुत ध्यान देते हैं कुशल विशेषज्ञों और कारीग़रों को देश में बसाया गया है ताकि वे लोगों को उत्पादन के सुधरे हुए तरीके सिखा सकें। लाहौर, आगरा, फतेहपुर, अहमदाबाद, गुजरात में स्थित शाही कार्यशालाएँ कारीगरी के अनेक अनुपम नमून बनाती हैं, कारीगरों की अच्छी देखभाल की जाती है और इस कारण यहाँ के चतुर कारीगर शीघ्र ही अपने काम में कुशल हो गए हैं शाही कार्यशालाएँ वे सब वस्तुएँ उपलब्ध कराती हैं जो दूसरे देशों में बनाई जाती हैं। बढ़िया वस्तुओं के प्रति रुचि आम हो गई है और दावतों के समय प्रयुक्त वस्त्रों का

तो वर्णन करना कठिन है। अकबर अपने करखानों एवं उनमें विभिन्न देशों के कारीगरों को भर्ती करने में और स्थानीय लोगों को कला में प्रशिक्षित करने में रुचि लेता था।" इसका विवरण **आइन-ए-अकबरी** में मिलता है। फादर **मान्सेरट** (Monserrate) ने भी इसका उल्लेख किया है उनका कहना है कि अकबर स्वयं खड़े होकर आम कारीगर को काम करते हुए देखता था और कभी–कभी तो मनबहलाव के लिए स्वयं भी वह कार्य करने से नहीं हिचकिचाता था। जहाँगीर और शाहजहाँ भी कारखानों को प्रश्रय देते रहे। जहाँगीर के समय में अनूठी वस्तुएँ बनाने एवं कुशल कारीगरों को पारितोषिक दिए जाने के उनके उदाहरण मिलते हैं। इनमें से सर्वोत्तम उदाहरण एक छुरी का है जिसकी मूठ काले धब्बों वाले दंदान–ए–माही (मछली दाँत) की बनी हुई थी। इसके अतिरिक्त जाहाँगीर ने एक सौ तोले उल्का पत्थर और सामान्य लोहे कि मिश्रण से उस्ताद दाऊद द्वारा एक तलवार, एक छुरी और एक चाकू बनवाया था। इस तलवार की धार इतनी तेज़ थी कि सर्वोत्तम पानीदार तलवार से मुक़ाबला कर सकती थी। बंगाल का मुग़ल सूबेदार इस्लाम ख़ान जब राजधानी राजमहल से ढाका ले गया तो उसने बढ़इयों, शस्त्र ढालने वालों एवे अन्य कारीगरों की सहायता से सरकारी जहाज़घाटों, भंडारघरों और कारखानों का निर्माण करवाया। शाहजहाँ के काल में कश्मीर और लाहौर का कालीन उद्योग श्रेष्ठता की ऐसी ऊँचाइयों पर पहुँचा कि "सौ रुपए प्रति गज़ के हिसाब से बनने वाले ऊनी कालीनों की तुलना में ईरान के शाही कारखानों में बनने वाले ऊनी कालीन टाट प्रतीत होते हैं"। गह–उद्योगों की ओर शाहजहाँ कितना ध्यान और कितना प्रश्रय देता था संयोगवश उसके एक दान के उदाहरण से ज्ञात होता है। गद्दी पर बैठने से पहले जब उसकी लाड़ली बेटी बेगम साहिब बीमार पड़ी तो उसने पाँच लाख रुपये मक्का भेजने की मन्नत माँगी। जब वह गद्दी पर बैठा और उसकी बेटी ठीक हो गई तो उसने अपनी मन्नत पूरी की। किंतु अकबर और जहाँगीर की भाँति उसने रूपया नक़द ना भेजकर निर्देश दिया कि अहमदाबाद से उतनी धनराशि का माल खरीद–कर हेजाज़ भेजा जाए और उसकी बिक्री से जो राशि प्राप्त हो उसे लाभांश सहित गरीबों और जरूरतमंदों में बाँट दिया जाए। उसने एक तणमणि निर्मित दीपाधार शाही कारीगरों द्वारा तैयार करवा कर मक्का के पवित्र तीर्थ में भेजा। यह दीपाधार स्वर्णजाली के भीतर बना हुआ था और इसमें बहुमूल्य रत्न जड़ें हुये थे। उसकी लागत ढाई लाख रुपये थी।

दक्षिण में अपने उपराजत्व काल में औरगंज़ेब निरंतर इस प्रयास में रहता था कि मसुलीपट्टम के कुशल कपड़ा–छपाई करने वालों को दिल्ली या आगरा लाकर सरकारी कारखानों में कार्य करने के लिए राज़ी किया जा सके। इसके लिए उन्हें लगभग बाध्य किया जाता था।

प्रांतों में, लाहौर, आगरा, अहमदाबाद, बुरहानपुर और कश्मीर में सरकारी कारखाने थे। यहाँ के गवर्नर स्थानीय उत्पादनों को बढ़ावा देते थे क्योंकि उन्हें अपने–अपने प्रांतों की अनूठी चीज़ें सम्राट को भेजनी होती थीं। **मनूकी** (Manucci) के अनुसार 'पादशाह और शहज़ादे इनमें से प्रत्येक प्रांत में अपने कारिंदे रखते थे जिनका कार्य था इन स्थानों की सर्वोत्तम वस्तुएँ लाकर उन्हें देना। वे निरंतर निगरानी रखते थे कि इस दिशा में इन प्रांतों के शासक क्या प्रयास करते हैं'।

गोलकुंडा के सुल्तान की एक कार्यशाला थी। मुग़ल साम्राज्य के अनेक गवर्नरों के अपने निजी कारखाने थे जहाँ कुशल कारीगर विलास की वस्तुएँ बनाते थे। यह बात **मोरलैंड** (Moreland) की धारणा से मेल खाती है कि कुछ लोगों के निजी कारखाने होते थे कुछ स्थानीय शासकों जैसे कि बनारस के महाराजा की रामनगर में अपनी कार्यशाला थी।

सत्रहवीं शती के अंत में फ्रांसीसी डॉक्टर **बर्नियर** (Bernier) मुग़ल राजधानी आया था और उसने

इन कारखानों में काम होते देखा। वह लिखता है, "गढ़ी के भीतर अनेक स्थानें पर बड़े–बड़े कमरे देखे जा सकते हैं जिन्हें कारखाने या कारीगरों की कर्मशालाएँ कहा जाता है। किसी एक कमरे में एक उस्ताद की निगरानी में कारीगर कशीदाकारी करने में लगे रहते हैं, दूसरे कमरे में स्वर्णकर, तो तीसरे में चित्रकार, चौथे में लाख की पालिस करने वाले, पाँचवें में जड़िये, दर्जी, मोची, छठे में रेशम बनाने और कलावात् का काम करने वाले, अर्थात् ऐसी बारीक मलमल बनाने वाले जिससे जरीदार पगड़ियाँ और कमरबंद बनाए जाते हैं, स्त्रियों के ऐसे पायजा में बनाने वाले जिन पर खूबसूरत कढ़ाई की जाती है। कारीगर हर रोज़ सुबह अपनी–अपनी कर्मशालाओं में आते है और सारा दिन वहाँ काम करते हैं, शाम को अपने घर लौट जाते हैं। कशीदा करने वाला अपने बेटे को कशीदाकार, स्वर्णकार अपने बेटे, को स्वर्णकार और शहर का हकीम अपने बेटे को हकीम होने का प्रशिक्षण देता है। कोई भी अपने धंधे का व्यवसाय से बाहर विवाह–संबंध स्थापित नहीं करता। इस प्रथा का पालन करने में हिन्दू और मुसलमान दोनों की समान रूप से कट्टर हैं।"

सरकारी कारखानों में बनने वाली वस्तुओं में खिलत विशेष उल्लेखनीय है। खिलत सम्मान की पोशाक होती थी जिसे विशेष अवसरों पर पादशाह विशिष्ट व्यक्तियों को प्रदान करता था। ये अवसर होते थे राज्यारोहण की वर्षगाँठ, दोनों ईंदें, उत्सव का कोई भी अन्य अवसर आदि। कारखाने शाही वस्त्रागार के लिए पोशाकें भी तैयार करते थे। साथी ही आभूषण श्रेष्ठ नक्काशीदार वस्तुएँ जिनमें अत्यन्त कुशल कारीगरी होती थी, विभिन्न प्रकार के अस्त्र–शास्त्र हल्की व भारी बदूकें एवं तोपें भी बनाई जाती थी।

मध्यकालीन भारत में शाही इमारतों के निर्माण में लगे श्रमिकों की संख्या विशाल थी। स्रोतों से मालूम होता है कि अलाऊद्दीन खलजी अपनी इमारतों के निर्माण के लिए 70,000 श्रमिक रखता था। बाबर का कहना है कि आगर में उसकी इमारतों के निर्माण आदि में 680 कारीगर रोज़ काम करते थे, जबकि 1491 लोग आगरा, सीकरी, बयाना, धौलपुर आदि में अपनी इमारतों के लिए संग–तराशों का काम करते थे। अकबर के अधीन तीन से चार हज़ार कारीगर, श्रमिक तथा अन्य कर्मचारी आगरा के किले में निर्माण–कार्य में प्रति–दिन लगे रहते थे। इसके अतिरिक्त, 8,000 श्रमिक पत्थर और चूने की आपूर्ति में लगे रहते थे। अगर हम टैवर्नियर का विश्वास करें तो ताजमहल के निर्माण के लिए 'बीस हजार लोग लगातार कार्यरत रहते थे।' यदि इसमें हम सरदारों के लिए मकानात बनवाने के काम में लगे लोगों को भी जोड़ दें तो निर्माण उद्योग में लगे कारीगरों की संख्या ही काफी बड़ी हो जाती है।

इनके अलावा, शहरों और गांवों में विभिन्न प्रकार के वस्तु–निर्माण कार्यों में लगे कारीगर थे। इन कारीगरों की संख्या का अंदाजा लगाना कठिन है; हक सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि यद्यपि ये लोग आम तौर पर जाति के आधार पर संगठित होते थे तथापि इस व्यवस्था में इतना लचीलापन था कि मांग की वद्धि होने पर किसी खास कारीगरी में लग जाने वालों की संख्या में आसानी से बढ़ोतरी हो सकती थी। कपड़ा उद्योग निस्संदेह मुख्य उद्योग था। इसका प्रधान कच्चा माल कपास थी, लेकिन खास तौर से बंगाल में उत्पादित रेशम या तसर का भी उपयोग किया जाता था। बहुधा कपास और रेशम की मिलावट से भी कपड़ा बनाया जाता था और उसकी रंगाई भी की जाती थी। बढ़ईगीरी, जिसमें जहाज–निर्माण भी शामिल था, और चमड़े का माल बनाना अन्य प्रमुख उद्योग थे, जिनके अलावा धातु–कर्म, कागज–निर्माण और सीसा बनाने आदि के भी उद्योग फल–फूल रहे थे।

विद्वानों का कहना है कि भारतीय कारीगर बहुत ही सरल औज़ारी से उत्कृष्ट किस्म का माल तैयार करते थे। इसका एक कारण तो सीमित घेरलू बाजार की वजह से श्रम की बचत करने की युक्तियों के प्रति उपेक्षा का भाव था और फिर ऐसी युक्तियों के प्रयोग से बेरोजगारी पैदा होने का डार भी रहता था। उदाहरण के लिए, 1672 में कारोमंडल तट पर डचों ने एक ऐसी तकनीक दाखिल कर दी जिससे लोहे की कीलों और तोप के गोलों का उत्पादन चौगुना हो गया। स्थानीय अधिकारियों ने इस भय से इस तकनीक पर निषेध लगा दिया कि इससे लोहार लेाग अपनी जीविका से वंचित न हो जाएं। तपन राय चौधरी कहते हैं, 'प्राक्–आधुनिक यूरोप और मध्यकालीन चीन दोनों अठारहवीं सदी के मध्य में वायु और जल–शक्ति के उपयोग, धातु–विज्ञान, छपाई, समुद्री उपकरणों, बुनियादी औज़ारों और सही मापादि संबंधी उपादानों की प्रौद्योगिकी जैसे महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में भारत से बहुत आगे थे।'

इसका मतलब यह नहीं है कि मध्यकालीन भारत में कोई प्रौद्योगिकीय प्रगति नहीं हुई। भारत मुख्य रूप से सूरत में उतने ही अच्छे जहाज बनाने में सक्षम था जितने अच्छे यूरोप से एशिया में भेजे जाने वाले जहाज होते थे। साथ ही यह देश भारी तोपें बनाने के भी सिद्धहस्त था। कच्चा रेशम अटेरने की विधि, नील और सोड़ा बनाने की युक्ति तथा यूरोपीय कंपनियों की मांग पर कपड़ों की उत्कृष्ट रंगाई और छपाई की तकनीकों में भी सुधार हुआ। इससे मालूम होता है कि भारतीय कारीगर नई तकनीक के विरोधी नहीं थे, बशर्ते कि उससे उनकी जीविका पर आंच न आए और उनकी आमदनी बढ़े।

यूरोप के विपरीत, भारत में गांवों की बजाए शहरों में वस्तु–निर्माण उद्योगों का केंद्रीकरण नहीं हुआ। भारत के गांव ने केवल शकर, तेल, नील, कच्चे रेशम आदि के पारंपरिक उत्पादन में लगे रहे बल्कि उन्होंने यत्र–तत्र उत्पादन के स्थानीकृत केंद्र भी विकसित किए। उदाहरण के लिए, मद्रास से लेकर अर्मगांव तक का तटवर्ती क्षेत्र ऐसे गांवों से पटा हुआ था। जहां के कारीगरों ने निर्यात के लिए कपड़ा बनाने के काम में महारत हासित कर ली थी। ओर्म के अनुसार, बंगाल में अठारहवीं सदी के मध्य तक मुख्य सड़क और बड़े शहरों के आसपास ऐसा कोई गांव नहीं था जिसका हर एक बाशिंदा कपड़ा बनाने के काम में नहीं लगा हुआ था। अन्य क्षेत्रों के संबंध में भी–जैसे गुजरात, अवध आदि के बारे में–ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं।

कारीगर अब भी मुख्यतः अपने–अपने घरों में ही काम करते थे। उदाहरण के लिए, जुलाहों के परिवार में स्त्रियाँ और बच्चे कपास ओटते–धुनकते थे और सूत कातते थे, जबकि पुरुष करघा चलाते थे। आम तौर पर कारीगरों के पास काम के अपने औजार होते थे। केवल शाही कारखानों में कारीगर एक स्थान पर काम करते थे और उन्हें सरकार की ओर से औजार और कच्चा माल मुहैया किया जाता था। संभव है, कुछ अधिक धनी–मानी और शक्तिशाली सरदारों ने भी इसकी नकल की हो। केवल कुछ उद्यमों में–जैसे सरकारी इमारतों के बड़े–बड़े निर्माण–कार्यों, तालाब आदि बनाने के सार्वजनिक कामें, हीरे के खनन, जहाज–निर्माण आदि में–श्रमिकों को एकत्र किया जाता था, और वे ऊपरी देख–रेख की व्यवस्था के अधीन काम करते थे। स्रोतों से मालूम होता है कि 20 से 30 हजार श्रमिक हीरे के खनन के काम में लगे हुए थे, और एक ठेकेदार के पास 2-3 हजार महदूर थे। लेकिन अधिकांश मामलों में ये कच्चे संगठन हुआ करते थे, और हाथ में लिए काम के पूरा होते ही श्रमिकों की छुट्टी कर दी जाती थी। दूसरे शब्दों में, बड़ें पैमाने के उद्यामों के लिए कोई स्थायी संगठन नहीं था।

कारीगरों को मोटे तौर पर दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। एक ओर तो ग्रामीण कारीगर

थे, जो साल में थोड़े समय तक ही कारीगरी करते थे और जिनका आम किसानों से फर्क करना अक्सर कठिन होता था। इनमें तेली, नील और सोड़े का काम करने वाले और शक्कर आदि बनाने वाले लोग शामिल थे। उनका काम मौसमी था और उनमें से काफी लोग साल में केवल पांच–छह महीने काम करते थे। लेकिन उनकी कारीगरी की मांग बढ़ने पर वे अपनी जमीन बटाई पर खेती के लिए दूसरों को दे देते थे। रेशम की मांग बढ़ने पर रेशम के कीड़े पालने वालों ने ऐसा ही किया।

जुलाहे गांव वालों को पहनने के लिए कपड़े देते थे और बदले में उन्हें खेती की पैदावार में एक हिस्सा मिलता था। अक्सर उनके पास जमीन का कोई छोटा चकला होता था, जिससे वे अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की अनुपूर्ति करते थे और जिसके कारण गांव से बंधे रहते थे। वे अपना अधिशेष उत्पादन बाजार में बेच देते थे।

दूसरा वर्ग शहरों और गांवों के पेशेवर कारीगरों का था। जब व्यापार और वस्तु–निर्माण का अभिवद्धि हुई तो व्यापारियों ने दादनी प्रणाली के माध्यम से इन कारीगरों पर क्रमशः अपना नियत्रंण स्थापित कर लिया। नियंत्रण स्थापित करने के लिए वे कारीगरों को ने केवल ऋण दिया करते थे, बल्कि कच्चा माल भी सुलभ कराते थे और तैयार माल का आकार–प्रकार निर्धारित कर देते थे। उदाहरण के लिए, कारोमंडल में काशी वीरन्ना ने मद्रास से लेकर अर्मगांव तक की सभी बुनकर बस्तियों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था, जिससे इन बस्तियों को 'वीरन्ना गांव' कहा जाने लगा था। जहां ऐसा होता था वहां अपने करघे होते हुए भी कारीगर मजदूर बन जाते थे, क्योंकि उनके श्रम और कच्चे माल की कीमत व्यापारी तय करते थे। उदाहरणार्थ, 1676 में मद्रास के स्थानीय व्यापारियों ने इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रतिनिधियों को बताया कि 'बेहतर किस्म के कपड़े हासिल करने के लिए' उन्होंने 'बुनकरों की मजदूरी बढ़ा दी थी।' लेकिन यह सच्चे अर्थों में पूंजीवादी उत्पादन नहीं था। रूसी विद्वान चिचरोव इसे 'अकेंद्रित पूंजीवादी वस्तु–निर्माण' कहते हैं। वे कहते हैं, 'इससे पुरानी उत्पादन पद्धति स्थानच्युत नहीं होती, बल्कि उल्टे इससे उसे सुरक्षित और कायम रखने में मदद मिलती है। यह प्रणाली सर्वत्र वास्तविक पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के लिए एक बाधा का काम करती है।'

विकास का एक दूसरा मार्ग उस्तादों का उत्पादन के संगठनकर्ताओं तथा व्यापारियों और वित्त–व्यवस्थापकों के रूप में उभरना था। मध्य काल में उस्तादों के उदय का अध्ययन बहुत कम किया गया है। इस वर्ग ने आर्थिक और सामाजिक दोनों दष्टियों से तरक्की की थी, इसका सकेत इस बात से मिलता है कि अबुल फज़ल ने इन्हें व्यापारियों के सामान्तर सरदारों और योद्धाओं की नीचे मगर विद्वानों से ऊपर, समाज में दूसरे स्थान पर रखा है। वह इन्हें 'पेशेवर" (प्रशिल्पी) कहता है। उस्तादो के सामाजिक महत्त्व का पता अकबर के उन दो उपलब्ध फरमानों से चलता है जिनमें उसने दो उस्तादों को काफी जमीन अनुदान में दी है। बंगाल में काफी खुशहाल उस्ताद बुनकर थे, जो अपनी पूंजी लगाते थे और अपनी मर्जी से अपने खाते माल की बिक्री करते थे। अठारहवीं सदी के मध्य में अवध में कपड़ों पर छपाई करने वाले एक उस्ताद की जानकारी मिलती है, जिसके पास 500 शागिर्द थे। कश्मीर में शाल उद्योग में ऐसे–ऐसे उस्ताद थे जिनके पास तीन–तीन सौ तक करघे थे। सूरत, बंगाल और बिहार में उस्ताद बढ़ई थे, जो अस्थायी कार्यों के लिए मजदूरी पर बढ़ई रखते थे। इस प्रकार जैसा कि **तपनराय चौधरी** कहते हैं। 'वह भारत में पूंजीपति उद्यमियों के रूप में कारीगरों का उदय सर्वथा अनुपस्थित नहीं था।' ये सरकारी कारखाने यद्यपि बड़े पैमाने के उद्योगों की तरह ही चलाये जाते थे जिनमें कच्चामाल, औजार और कर्मशालाएँ सरकार ही उपलब्ध कराती थी, कारीगर का जो कि वास्तव में उत्पादन करता था, संबंध केवल परिश्रमिक

पाने तक ही सीमित था। इन वस्तुओं के उपभोग का वह अधिकारी नहीं था। फिर भी ये उद्योग वास्तविक वाणिज्यिक कारखाने का रूप नहीं ले सके। इन कारखानों में बादशाहों की रुचि के अनुसार ही वस्तुओं का उत्पादन होता था और उनमें कारीगरी का कमाल दिखाई देता था। ये कारखाने बादशाहों की रुचियों एवं पसन्द और सरकारी आवश्यकताओं पर ही निर्भर थे। इन सरकारी कारखानों को सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि व्यवस्था में कारीगर को अपनी कला को परिस्कृत करने के लिए अत्यधिक प्रोत्साहन मिलता था। वस्तुओं की गुणवत्ता बादशाहों की परिस्कृत रुचि पर आधारित होती थी और वही देश के कारीगरों के लिए प्रतिमान स्थापित करती थी। इससे कुशल कारीगरों का आदान–प्रदान हुआ। कारीगरी पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रही। इसी कारण जब मुगल साम्राज्य और उसके कारखाने न रहे तब भी देश में कारीगरी बची रही और चलती रही।

विदेशी यात्रियों के वर्णन यह ज्ञात होता है कि यह कारखाने किस प्रकार कार्य करते थे। अकबर के समय में **दीवान-ए-बयूतात** बहुत महत्त्वपूर्ण था। आगे चलकर सारे विभाग का दायित्व ही उसे सौंप दिया गया और अब उसे **मीर-ए-सामान** कहा जाने लगा। जहाँगीर के काल में उसके दायित्वों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार **मीर-ए-सामान** इसका मुख्य कार्यकारी अधिकारी होता था। विभाग को सुचारू रूप से चलाने का दायित्व इसी के ऊपर था। **दीवान-ए-बयूतात** मुख्यतः विभाग का वित्तीय दायित्व संभालता था। **मुशरिफ-ए-कुल-ओ-जुज** यह विभाग का मुख्य लेखापाल होता था। **दारोगा** कारखाने की प्रत्येक शाखा में एक दारोगा होता था। जिसकी अपनी शाखा के कारीगरों से सीधा संबंध होता था। वही कारीगरों को प्रतिदिन काम बाँटता था और उन्हें दिए जाने वाले कच्चे माल के लिए उत्तरदायी होता था। **तहसीलदार** प्रत्येक कारखाने में दारोगा की ही भाँति एक तहसीलदार होता था जो अपनी शाखा के लिए आवश्यक माल का प्रभारी होता था। **मुस्तौफी** – यह कारखानों के लेखा का परीक्षण करता था। यह अपना वक्तव्य तैयार करके उस पर अपने हस्ताक्षर करता था और उसे विभाग के दीवाना के समक्ष प्रस्तुत करता था और अंत में उस पर **मीर-ए-सामान** की मुहर लगवाता था।

शाखा की आवश्यकताओं के लिए आवश्यक धन तहसीलदार के पास रहता था। शाखा विशेष पर होने वाले कार्य के लिए आवश्यक कच्चे माल का भंडार भी वहीं रखता था। उसी से धन या माल लेकर **दरोगा** अपने अधीन काम करने वाले कारीगरों को बाँटता था। शाम के समय दारोगा कारीगरों से वस्तुओं को, वे निर्माण की जिस भी अवस्था में होती, वापस ले लेता था और प्रत्येक कारीगर के कार्य की मात्रा का हिसाब लिखकर वस्तुओं को **तहसीलदार** के पास जमा करवा देता था। अधबनी वस्तुओं को दारोगा अगले दिन फिर ज़ारी करवा कर कारीगरों को दे देता था। यह प्रक्रिया किसी वस्तु के पूरे होने तक अपनायी जाती थी। अंत में बनने वाली रिपोर्ट में उस वस्तु का लागत मूल्य, कारीगर का नाम और उस **दरोगा** का नाम भी अंकित होता था जिसकी निगरानी में कार्य हुआ था।

इस प्रकार **तहसीलदार** और **दारोगा** का कारीगरों से सीधा संपर्क रहता था। **तहसीलदार** आवश्यक धन और कच्चे माल का भंडार अपने पास रखता था। **दरोगा** उसे कारीगरों में बाँटता था और उनके कार्य की निगरानी करता था। **मुशरिफ** प्रतिदिन दिए जाने वाले धन कच्चे माल व किए गए कार्य का हिसाब मुस्तौफी को सौंप देता था। इस प्रकार कारखानों व कारीगरों के संबंध में तहसीलदार, **दरोगा** और **मुशरिफ** संयुक्त रूप से उत्तरदायी थे।

बादशाह की आज्ञा थी कि राजधानी में प्रांतीय कारखानों में निर्मित बहुमूल्य एवं कलात्मक वस्तुओं को दीवान–ए–आम में उसके सामने पेश किया जाए और प्रदर्शित वस्तु के साथ उसे बनाने वाले कारीगर को भी। युद्ध के शस्त्रास्त्र, विलास या उपभोग की वस्तुएँ ऐसी थीं जो अपने महत्व या कारीगरी के कारण पादशाह की रुचि का विषय हो सकती थीं और उसके सामने पेश की जाती थीं। इस व्यवस्था से बादशाह को अपने कारीगरों को व्यक्तिगत रूप से जानने का अवसर मिलता था। साथ–ही कारीगरों को भी अपनी कारीगरी निखारने के लिए प्रोत्साहन मिलता था, ताकि वे सरकारी कारखानों में नौकरी पा सकें और पादशाह के सामने पेश होने का फ़ख हासिल कर सकें जिसे वे सबसे बड़ा सम्मान समझते थे। इस प्रकार प्रत्येक उपलब्धि का श्रेय केवल विभाग और इसके उच्चाधिकारियों को ही नहीं अपितु कारीगरों को भी मिलता था। कभी–कभी तो इन्हें मौलिक नमूनों, श्रेष्ठ काम और अनूठी कारीगरी के लिए इनामोइकराम से मालामाल कर दिया जाता था।

केंद्रीय सरकार की कारखानों की इस व्यवस्था से न केवल उचित मूल्यों पर राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी अपितु इससे देश के विभिन्न भागों के उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता था। इन कारखानों की सुधरी हुई कार्य–पद्धति एवं यहाँ निर्मित वस्तुओं को स्थानीय कारीगर अपना आदर्श बनाते थे।

लोगों के आर्थिक जीवन पर इन कारखानों का जो प्रभाव पड़ा उसे नगण्य नहीं कहा जा सकता। शाही कर्मशालाओं में उत्पादन की श्रेष्ठता के मानक स्थापित होते थे जिनकी नकल की जाती थी। इस प्रकार अन्य कारीगरों की कारीगरी में भी सुधार होता था। शाही कर्मशालाओं में कार्य करने वाले कारीगर बड़ी लगन और मेहनत से कार्य करते थे ताकि वे पादशाह से प्रशंसा और इनाम प्राप्त कर सकें।

कारीगर सरकारी कारखानों में कार्य पाने को बड़े लालायित रहते थे। इसका सबसे बड़े कारण यह था कि अपने बलबूते पर काम करने वालों की स्थिति बड़ी दयनीय रहती थी। मज़दूर की स्थिति अच्छी नहीं थी और न ही देश के सच्चे आर्थिक विकास में सहायक। राजधानी में, जो कि देश का सबसे बड़ा एवं समद्ध नगर था, एक भी ऐसा निजी कारखाना या कर्मशाला नहीं थी जिनका प्रबंध कुशल शिल्पी स्वयं करते हों। बर्नियर की टिप्पणी उचित ही है : "यदि कारीगरों और उत्पादकों को प्रोत्साहन दिया जाए तो उपयोगी कलाएँ और ललित कलाएँ फले–फूलेंगी, किंतु ये अभागे तो तिरस्कृत हैं, इनकी साथ बड़ा रूखा व्यवहार किया जाता है और इन्हें इनके काम का उचित पारिश्रमिक भी नहीं दिया जाता"। अमीरों को तो प्रत्येक वस्तु सस्ती दर पर मिलती है। जब किसी "उमरा" या मनसबदार को किसी कारीगर की आवश्यकता होती है तो वह उसे बाज़ार से बलपूर्वक बुला भेजता है। उसे कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है और जब कार्य पूरा हो जाता है, तो हृदयहीन मालिक उसे श्रम के हिसाब से नहीं अपनी इच्छानुसार थोड़ा बहुत पारिश्रमिक दे देता है। कारीगर तो इसी में खैर मनाता है कि उसे मजदूरी के बदले कोड़े नहीं खाने पड़े ––––। फिर ऐसी आशा कैसी की जा सकती है कि कारीगर या उत्पादक प्रतिस्पर्धा की भावना से प्रेरित हो ––––––। केवल वे ही कारीगर अपनी कला के क्षेत्र में कुछ नाम कमा सकते हैं जो या तो बादशाह या किसी बड़े "उमरा" की सेवा में हों और केवल अपने आश्रयदाता के लिए कार्य करते हों। इस कारण कारीगर यही अच्छा समझते थे कि वे किसी सरकारी कारखाने में नौकरी पा जाएँ ताकि कार्य के अनुसार दैनिक या मासिक आय सुनिश्चित हो और उन्हें अपने श्रम का उचित पारिश्रमिक मिल सके। **जबाबित-ए-आलमगीरी** के अनुसार

सत्रहवीं शती के अंत तक शाही कारखानों की संख्या 69 थी किंतु अठारहवीं शती के मध्य में शकीर खान के संस्मरणों के अनुसार केवल 36 ही रह गई थी। इससे ज्ञात होता है कि मुगल साम्राज्य के उत्तरार्ध में कारखानों में गिरावट आ गई थी। ये 18 वीं शती के आठवें दशक तक चलते रहे।

कारखानों ने शहरी जीवन और गाँवों एवं कस्बों के संबंधों को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। ये श्रमिकों की गाँवों से शहर की ओर गतिशीलता में सहायक हुए। ग्रामीण क्षेत्रों के जाने माने कारीगरों को स्वेच्छा से या बलपूर्वक राज्य के कारखानों में लाया जाता था (जैसा कि दक्षिण में औरंगजेब के काल में मसुलीपतनम नगर के कपड़ा छपाई करने वालों के साथ हुआ था)। इस प्रकार अपने व्यवसाय में विशेष योग्ता के कारण कारीगरों को हैसियत मिलती थी। इसके अतिरिक्त कारखानों ने जातियों एवं शिल्प संघों के संघटन को सुदढ़ किया।

शिल्पकला की दष्टि से अट्टालिकाओं के निर्माण में स्वाभाविक रूप से संगतराशों, शिल्पियों और बढ़इयों को प्रोत्साहन दिया, साथ ही यह एक मध्यवर्ग का भी उद्यम होने लगा जिसमें दुकानदार, व्यापारी, दलाल, जहाज़ बनाने वाले जैसे वर्ग सम्मिलित थे। **पेलसर्ट** (Pelsaert) का कहना है कि "कर्मकार की तुलना में दुकानदार को अधिक आदर की दष्टि से देखा जाता है क्योकि उनमें से कुछ अच्छे खाते–पीते भी हैं किंतु वे इस तथ्य को प्रकट नहीं होते देते"। प्रांतीय गवर्नर और अमीर भी स्थानीय कारीगरों और कर्मकारों को बढ़ावा देते थे ——— या तो अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए या अपने से बड़े लोगों को उपहार देने के लिए।

कारीगरों की आर्थिक स्थिति

कारीगरों की आर्थिक स्थिति के संबंध में बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। इस संबंध में कुछ छुट–पुट जानकारी बाबर के संस्मरणों, **आइन-ए-अकबरी** और विदेशी यात्रियों की टिप्पणियों में मिलती है, किंतु तत्कालीन विवरणों में इसका कोई क्रमबद्ध वर्णन नहीं मिलता। अपने संस्मरणों में बाबर हर तरह के असंख्य कर्मकारों का उल्लेख करता है। उसके अनुसार विभिन्न शिल्पों और उद्योगों में असंख्य कारीगरों का होना हिन्दुस्तान में लाभप्रद था। **अबुल फज़ल** "उस्तादों और कारीगरों के देश में बसने" की बात कहता है। वह विभिन्न श्रेणी के कुशल और अकुशल श्रमिकों के पारिश्रमिक का भी उल्लेख करता है। दिल्ली में कुशल शिल्पियों की कोई अपनी स्वतंत्र कर्मशाला नहीं थी। अधिकांश कारीगर राजकीय कारखानों में नौकरी पा जाने पर अपने आपको भाग्यवान समझते थे। प्रतीत होता है कि राजकीय कारखानों की व्यवस्था के अंतर्गत कारीगर स्वतंत्रता के बदले सुरक्षा पाते थे। उन्हें दिन भर सामान्य श्रमिकों की भाँति कड़ी निगरानी में और अपने निरीक्षक के निर्देशों पर काम करना पड़ता था, जैसा कि **पेलसर्ट** और **डीलायट** (Delaet) के विवरण में इस बात का उल्लेख है कि एक यूरोपीय कर्मकार तीन या चार भारतीय कर्मकारों के बराबर कार्य करता है, दो संभावनों को दर्शाता है ——— या तो भारतीय कर्मकार बहुत सुस्त थे या यहाँ की विशेषता अत्यंत बढ़ी–चढ़ी थी। सत्रहवीं शती में कारीगरों के निजी कारखानों के अभाव का कारण प्रतिभा का अभाव नहीं था, जैसा कि बर्नियर का कथन है "इंडीज़ के हर भाग में कुशल लोग थे"। कारीगरों के सामने अनेक गंभीर समस्याएँ थीं ——— सबसे बड़ी तो यह कि उनका पारिश्रमिक बहुत कम था। पेलसार्ट जो कि आगरा में डच कारखाने का प्रमुख था, अपने सात वर्षों (1620-27) के अनुभव के आधार पर कहता कि तीन वर्गों के लोग ऐसे थे जो नाम के लिए तो स्वतंत्र थे किंतु जिनकी हैसियत वस्तुतः स्वैच्छिक दासता से अधिक भिन्न

नहीं थी – कर्मकार, सेवक और छोटे दुकानदार"। इनमें भी कर्मकार दोहरे अभिशप्त थे ––– स्वर्णकार, चित्रकार, कशीदाकार, कालीन बनाने वाले इत्यादि ––– एक तो इनका पारिश्रमिक बहुत कम था, सुबह से रात तक कार्य करने पर वे केवल 5 या 6 टके या 5 रुपया ही कमा सकते थे। इसकी पुष्टि डीलायट एवं अन्य विदेशी यात्रियों ने भी की है। सत्रहवीं शती में श्रमिकों की स्थिति का अनुमान आइन–ए–अकबरी में दी गई दैनिक पारिश्रमिक की दर से लगाया जा सकता है। मोरलैंड ने आधुनिक मुद्रा (1920) से इसका मिलान किया है : आम मजदूरों को 2 दाम / 5 आने, थोड़े ऊँचे कर्मकारों को 3-4 दाम / 8½ आने, बढ़इयों को 3-7 दाम / 8½ आने 1½ रुपये, दरबार के गुलामों (निम्नतम श्रेणी) को बारह आने प्रतिमाह मिलता था। किंतु महत्व पारिश्रमिक रूप में मिलने वाले पैसे का नहीं अपितु उसकी क्रयशक्ति का था ––––– जो अनिवार्यतः जीवन स्तर से जुड़ी थी। यूरोपीय कारखानों के अभिलेखों और विदेशी यात्रियों के विवरणों से ज्ञात होता है कि मुग़लकालीन भारत में कुशल और अकुशल श्रमिकों पर किस हद तक सरकारी और गैर–सरकारी दबाव थे। **पेलसर्ट** लिखता है "दूसरा (अभिशाप) था गवर्नर, अमीरों, कोतवाल, बक्शी और अन्य सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाने वाला अत्याचार। जब कभी इनमें से किसी को किसी कर्मकार की सेवाओं की आवश्यकता होती थी तो उससे यह नहीं पूछा जाता था कि वह काम करना चाहता है या नहीं, उसे घर या बाजार से पकड़ मँगाया जाता था और यदि वह विरोध करने का प्रयास करता तो उसकी पिटाई की जाती थी और काम करवाने के बाद शाम को आधी मजदूरी या कुछ भी देकर भगा दिया जाता था।" मसुलीपतनम के दक्ष कपड़ा छपाई करने वाले कारीगरों को दिल्ली या आगरा में आकर कार्य करने के लिए बाध्य करना लगभग ज़बरन काम करवाने का एक उदाहरण है। गुजरात प्रांत के गाँवों और शहरों के कारीगरों को सरकारी अधिकारियों द्वारा जबरन काम लेने से कितना कष्ट होता था, इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि इसे समाप्त करने के लिए 1665 में औरंगजेब को एक फरमान निकालना पड़ा।

कुछ यूरोपीय कंपनियाँ न केवल दास श्रमिक ही रखती थीं अपितु ज़बरन श्रम करवाने जैसे हथकंडों का प्रयोग भी करती थीं। एक और बात जो कर्मकारों के विरुद्ध जाती थी वह थी दलाली। **मैंडेल्सलो** (Mandelslo) (1638) के अनुसार कारीगरों को अपने लाभांश का पर्याप्त भाग दलालों को देना पड़ता था क्योंकि उपभोक्ता और कारीगर के बीच अपने स्तरों पर दलाल होते थे। इस बात की पुष्टि **बर्नियर** ने भी की है : "वह धनवान् तो कभी हो नहीं सकता, और पेट की भूख मिटाना और मोटे–मोटे कपड़ों से तन ढक सकने का प्रबंध कर लेना भी उसके लिए बड़ी बात थी। पैसा किसी को मिलता है तो व्यापारी को, कर्मकार को नही।"

ऐसी परिस्थिति में कारीगरों में गैर–आर्थिक रवैये का होना स्वाभाविक ही था। अधिकांश जनता गरीब थी अतः उसके बीच उत्तम कारीगरी की वस्तुओं की माँग का प्रश्न ही नहीं था। उसको जीवन–यापन के लिए सस्ती वस्तुओं की आवश्यकता थी। दमन के भय से लोग अपना धन थोड़ा बहुत छिपाते भी थे और निम्न कोटि का जीवन बिताने के आदी हो गए थे। आम जनता का निम्न स्तरीय जीवन, जिसकी पुष्टि विदेशी यात्रियों ने की है और कारीगरों का गैर आर्थिक दष्टिकोण कार्य–कारण रूप में परस्पर जुड़े हुए थे। अतः आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से अतिरिक्त काम करने के लिए कोई अभिप्रेरण नहीं था।

आकांक्षाओं के अभाव में आंशिक कारण हिन्दू और मुसलमानों दोनों में ही, श्रम का विभाजन और कड़े जात संबंधी निमय भी थे। **पेलसर्ट, डीलायट** और **बर्नियर** इसकी पुष्टि करते हैं। जाति

का शिकंजा इतना कठोर था कि व्यक्ति या समूहों को आर्थिक गतिशीलता की छूट नहीं थी। श्रमिकों की गतिशीलता भी अत्यन्त सीमित थी। मुगलकालीन भारत में कारीगरों की कुछ गतिशीलता भी नहीं थी क्योंकि इसके लिए व्यापारिक लाभ का कोई प्रोत्साहन नहीं था।

कच्चे माल की कीमत अधिक होती थी और कर्मकार के पास इतनी पूंजी नहीं होती थी कि वे स्वयं अपना काम आरम्भ कर सके। उसे दलालों या महाजनों पर आश्रित रहना पड़ता जिससे शोषण को बढ़ावा मिलता था। कभी–कभी अकबर, जहाँगीर और औरंगजेब द्वारा करों को माफ या कम करने के उल्लेख मिलते हैं। अकबर ने अनेक प्रकार के करों से छूट देकर कारीगरों को राहत पहुँचाने का प्रयास किया, उदाहरणयतः चमड़ा कमाने और चूना उत्पादान जैसे विशिष्ट उद्योगों पर। **मीरात-ए-अहमदी** से पता चलता है कि औरंगजेब ने कारीगरों पर लगने वाले विभिन्न प्रकार के लाइसेंस करों को समाप्त किया। इसके पूर्व कारीगरों को अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे जिससे उनकी आर्थिक स्थिति प्रभावित होती थी।

ऐसी विषम परिस्थितियों में भी अनेक शिल्पी ऊँचे मानदंड स्थापित करते थे। इस संबंध में **बर्नियर** लिखता है : "ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ कारीगरों ने सुंदर शिल्पों की रचना की है और ये कारीगर ऐसे हैं जिनके पास न तो अपने औजार होते हैं और न ही यह कहा जा सकता है कि उन्हें किसी उस्ताद ने प्रशिक्षण दिया है। कभी–कभी तो वे यूरोपीय वस्तुओं की इतनी सुंदर नकल कर लेते हैं कि असल व नकल में भेद करना कठिन हो जाता है। अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त भारतीय कारीगर बढ़िया बंदूकें, शिकारी बंदूकें और सुनदर स्वर्णाभूषण बनाते हैं कि यूरोपीय स्वर्णकारों के लिए इनकी कारीगरी को मात देना संभव प्रतीत नहीं होता।" **बर्नियर** लिखता है, 'कि मुझे तो इनकी चित्रकृतियाँ एवं सूक्ष्म कलाकृतियाँ अक्कार मुग्ध करती है, विशेष रूप से एक ढाल पर चित्रित अकबर के अभियानों को देखकर तो मैं चकित ही रह गया। कहा जाता है कि इसे बनाने में सात वर्ष लगे। यह एक अनूठ कलाकारी है।' वह आगे लिखता है कि भारत चित्रकारों की कृतियों का मुख्य दोष यह है कि उनमें समानुपात का अभाव होता है और चेहरा भावशून्य होता है, किन्तु इन दोषों को सरलतापूर्वक दूर किया जा सकता है, बशर्ते कि उन्हें अच्छे गुरु मिल जाएं जो उन्हें कला संबंधी नियमों का ज्ञान करा सकें।"

कारीगरों के लिए कुछ अनुकूल परिस्थितियाँ भी थी। सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि उन्हें पादशाह की ओर से प्रोत्साहन मिलता था। अकबर ने अपने कुछ श्रेणियों के अमीरों को निर्देश दे रहा था कि वे विशेष प्रकार के स्थानीय कपड़े ही पहने। उसने फारस के कालीन बुनकरों को भी आगरा, फतेहपुर सीकरी और लाहौर में आकर बसने के लिए राजी किया था। इस प्रकार के प्रश्रय से देश के रेशम, कालीन और शाल उद्योगों का बड़ा विकास हुआ और इन कार्यों में लगे कारीगरों की स्थिति में भी सुधार हुआ। अकबर ने कुशल कारीगरों को गोवा भेजा ताकि वे वहाँ के तत्कालीन विभिन्न कला–कौशलों की जानकारी प्राप्त करे और उनके संबंध में बादशाह को बता सकें।

दूसरी अनुकूल बात थी कुछ शक्तिशाली एवं प्रभावशाली, अमीर वर्ग द्वारा कारीगरों को प्रोत्साहन देना। किन्तु यह प्रतिकूल परिस्थितियों के दुस्प्रभावों को दूर करने के लिए पर्याप्त नहीं था। **बर्नियर** लिखना है कि कलात्मक हस्तशिल्पों का पतन दो कारणों से धीमा रहा — (1) एक तो शाही कर्मशालाओं के कारण और (2) दूसरे कुछ शक्तिशाली आश्रयदाताओं के प्रभाव के कारण जो कारीगरों को अपेक्षाकृत अधिक पारिश्रमिक दिलाने में सहायक हुआ। इसकी पुष्टि **थेवतन** (Theverot) ने भी की है।

शाही कर्मशालाएँ प्रतिभा का प्रसार करने एवं देश के सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने में सहायक सिद्ध हुई। सभी दक्ष एवं प्रशिक्षित कारीगरों या सभी चित्रकारों एवं संगीतज्ञों को इन कर्मशालाओं में स्थान नहीं मिलता था। बचे हुए लोगों को अमीर और राजा अपने पास रख लेते थे। इससे कला एंव शिल्प को बढ़ावा मिलता था।

कुल मिलाकर संक्षेप में कहा जा सकता है कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के स्रोतों में तत्कालीन कारीगरों, शिल्पियों की स्थिति को खराब ही चित्रित किया गया है। **मौरलैण्ड** के अनुसार सत्रहवीं शती के मध्यम में इन लोगों की स्थिति खराब थी। ये मुख्य रूप से व्यापारियों, खरीदारों और दलालों के फायदे के लिए काम करते थे और अपे रोजमर्रा के खर्चे के लिए उन पर आश्रित रहते थे। आड़े वक्त के लिए उनके पास कुछ भी नहीं रहता था। उनकी एकमात्र उम्मीद यह बनी रहती थी कि कोई शक्तिशाली एवं धनी आश्रयदाता उन्हे प्रश्रय दे दें। किन्तु ऐसे सुअवसर कुछ ही भाग्यशालियों को मिलते थे। अधिकांश कर्मकार तो बड़ी कठिनाई से जीवन यापन के साधन जुटा पाते थे।

अध्याय - 3

(ड़) मध्यकालीन भारत में किसान एवम् उनकी भौतिक तथा सामाजिक स्थिति

(e) Peasantry

इरफान हबीब ने किसान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "किसान उस व्यक्ति को कहा जाता है जो खेती को अपने व्यवसाय के रूप में अपनाता है। खेती के काम में आने वाले औज़ार उसके स्वयं के होते हैं तथा वह अपने पूरे परिवार सहित परिश्रम करता है।"

क्रोबर ने लिखा है कि किसान ग्रामीण होते हुए भी शहरी बाज़ार से पूर्ण रूप से सम्बंधित है। यह कबाइली जन समुदाय के समान समाज से पथक् नहीं है। तथा उसकी राजनैतिक स्वायत्तता भी है। वह पूर्णरूपेण स्वावलम्बी नहीं है किन्तु उसकी पूर्व पहचान तथा जमीन से लगाव बना रहता है।

हरबँस मुखिया का मानना है कि स्वतंत्र किसान उसे कहा जा सकता है जो अपना तथा अपने परिवार का गुजारा अपने परिश्रम तथा अपने सँसाधनों से करता है तथा उत्पादन एवम् पारिश्रमिक के लिए अपने परिश्रम को वह किसी और के लिए उत्पादन में नहीं लगाता।

सतीश चन्द्रा ने किसानों को **तीन श्रेणियों** में विभक्त किया है :

(i) **खुद काश्त** जिसे **मालिक-ए-ज़मीन** भी कहा गया है।

(ii) **पाही काश्त** अथवा **उपरी** यह ऐसे किसान थे जो दूसरे गांवों से आकर खेती के व्यवसाय से जुड़ गए।

(iii) **मुजारियान :** यह **खुद काश्त** किसानों अथवा ज़मींदारों से ज़मीन ठेके पर लेकर उस पर खेती करते थे।

इनके अतिरिक्त भूमि विहीन किसानों का भी एक वर्ग था।

मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित इतिहासकारों ने किसानों को तीन वर्गों में विभाजित किया है :

(i) **उच्च वर्ग :** इस श्रेणी में ऐसे किसान आते थे जिन्हें भूमि की अधिकता के कारण अपनी भूमि पर अतिरिक्त कृषक मजदूरों द्वारा खेती का काम करवाना पड़ता था।

(ii) **मध्यम वर्ग :** इन किसानों के पास इतनी ज़मीन होती थी जिसमें इनका व इनके परिवार का सम्मिलित श्रम पर्याप्त होता था।

(iii) **निम्न वर्ग :** इन किसानों के पास परिवार का सम्मिलित श्रम अधिक होता है किन्तु भूमि कम होती है। अतः इस वर्ग के अतिरिक्त श्रम का उपभोग उच्च वर्गीय किसान अपनी अतिरिक्त भूमि पर कार्य करवा कर करते हैं।

भूमिहीन श्रमिक यद्यपि किसानों के वर्ग में तो नहीं आते, किन्तु वे कृषि से जुड़ी हुई जनसंख्या का हिस्सा अवश्य होते हैं।

प्रश्न यह उठता है कि किसानों का उद्‌भव कब हुआ? मानव सभ्यता के प्रारम्भिक दौर में मनुष्य भोजन इक्ट्ठा करने लगा, तत्पश्चात् शिकार की ओर प्रवत हुआ, अन्ततः उसका जुड़ाव खेती से हुआ हौर शिकारी किसान के रूप में हमारे सामने आया।

भारत में सिन्धु घाटी सभ्यता के दौरान कृषि में क्रान्ति आई इस काल की खेती हल पर आधारित थी। कई प्रकार की फसले उगाई जाती थीं तथा वर्ष में दो बार खेती होती थी।

एरिक वोल्फ का मानना हे कि किसान मानवीय सभ्यता का वह बड़ा हिस्सा है जो पुरातन समाज एवम् नये औद्योगिकी सामाज के बीच में खड़ा है। यह न तो एकदम पुरातन है तथा न ही आधुनिक है लेकिन ऐतिहासिक तौर पर उसका अत्यन्त महत्व है क्योंकि औद्योगिकी समाज कृषि समाज के खण्डहरों पर ही निर्मित है।

डेनियल थॅर्नर का मत है कि तीन प्रमुख वर्ग भारतीय कृषि के ढाँचे में मुख्य भूमिका का निर्वाह करते हैं :

(i) मालिक,

(ii) किसान,

(iii) मजदूर।

भारतीय मुहावरे भी किसानों की जनमानस में छवि को हमारे सामने प्रस्तुत करने में सक्षम हैं, जैसेः **"पूरा किसान जब साथ कुदाली" तथा "बाँध कुदारी, खुरपी साथ, लाठी हसुआ रखे हाथ।"** इत्यादि।

सामाजिक परिवर्तनों के कारण जनजातीय व्यवस्था कमजोर पड़ी, फलस्वरूप किसानों की जातियाँ उभर कर सामने आई। इनमें सामाजिक दर्जे पर टिप्पणी करते हुए **कौटिल्य** ने इन्हें **"शूद्र कृषक"** कहा है तो **मनु** ने इन्हें **"वैश्य कृषक"** कह कर इनकी स्थिति हमारे सामने रख दी है।

यदि हम मध्यकालीन भारतीय किसानों एवम् कृषि के विकास को देखें तो प्रतीत होता है कि तकनीकी विकास के कारण खेती के तरीकों एवम् औजारों में काफी विकास हुआ, विशेष रूप से रहट ने पंजाब की कृषि को 16वीं शताब्दी में बहुत प्रभावित किया। चूने के प्रयोग से जहाँ नील की खेती को प्रोत्साहन मिला वहीं अर्क निकालने की विधि द्वारा गन्ने से बहुत मात्रा में शराब बनाई जाने लगी। इसी प्रकार बंगाल में सिल्क निर्माण द्रुत गति से आगे बढ़ा।

लेकिन इस विकास के बावजूद किसान एवम् अन्य ग्रामीण वर्गों सम्बंधों में कोई परिवर्तन नहीं आया। ऊँची जाति के किसान निन्न वर्ग के किसानों का शोषण करते ही रहे। लेकिन शासकीय वर्ग में तथा अधिशेष को विभाजित करने में अवश्य परिवर्तन आया जिसका सीधा असर किसान पर पड़ा। इन्हीं कारणों से हम कहते है कि हमने पुरातन काल से मध्य काल में कदम रख लिया।

मुहम्मद हबीब इन परिवर्तनों को देखते हुए कहते हैं कि भारत में इस समय **"ग्रामीण क्रान्ति"** तथा **"शहरी क्रान्ति"** हो गई।

काज़ी मुहम्मद आला ने **रिसाला-ए-अहकाम-ए-अराज़ी** में लिखा है कि "इस्लाम की विजय से पूर्व राजा, राजपूत इत्यादि किसानों से भूमि कर लिया करते थे। किसन उन्हीं को **"भूमि का स्वामी"** तथा स्वयं को सिर्फ **"काश्तकार"** समझते थे। दिल्ली सल्तनत की स्थापना के फलस्वरूप राजाओं की प्रभु सत्ता समाप्त हो गई, सुल्तानों ने उन्हें किसानों का प्रमुख बने रहने दिया तथा अब वे "जमीदार" कहलाने लगे।"

इरफान हबीब का मानना है कि मध्य कालीन भारतीय कृषक वर्ग का दोहरा शोषण हो रहा था। एक तरफ तो शासकीय वर्ग जैसे– **राजा**, **मुक्ति**, **जागीरदार** तथा **जमीनदार** उसका शोषण कर रहे थे तो दूसरी तरफ धन सम्बंधी तथा बाजार के अन्य तत्व उसके हितों के विरूद्ध गतिशील थे। अधिकतर किसानों के लिए जीवन अस्तित्व के लिए एक संघर्ष का नाम था। अपने ही द्वारा उत्पादित अनाज में से उसे सबसे निम्न श्रेणी का अनाज प्राप्त होता था।

जहाँगीर के शासन काल में आए हुए **डच यात्री पेल्सार्ट** ने वर्णन किया है कि साधारण व्यक्ति अपना जीवन अत्याधिक निर्धनता में व्यतीत करता था। उसका खान–पान तथा रहने का स्तर अत्यन्त निम्न कोटि का था।

भीमसेन ने तो दक्षिण के मन्दिरों का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह मंन्दिर इतने भव्य इसीलिए बने क्येंकि वहाँ के शासकों ने किसानों के पास सिर्फ उनके गुजारे के लिए ही छोड़ा तथा उपजाऊ भूमि का अत्यधिक भाग करों के रूप में लेकर मंदिरों के निर्माण में लगाया।

यद्यपि मध्यकालीन भारतीय किसान के खान–पान पर प्रकाश डालने के लिए स्त्रोतों में जानकारी पर्याप्त नहीं हैं किन्तु मुख्य फसलों के बारे में जानकारी के आधार पर कहा जा सकता है कि बंगाल, उड़ीसा, सिंध और कश्मीर में लोगो का मुख्य भोजन चावल था। जबकि गुजरात में चावल के अतिरिक्त जवार तथा बाजरा वहां के लोगों के भोजन का मुख्य हिस्सा थे। लेकिन साधारणतः हर प्रान्त के किसान को उसकी उपज के निम्नतम श्रेणी का अनाज ही अपने भोजन के लिए उपलब्ध था।

अबुल फज़ल द्वारा लिखित **आईने अकबरी** में बिहार का वर्णन करते हुए बताया गया है कि वहां के लोग तो मटर के समान अनाज जिसे **"किसारी"** कहा जाता था, खाने को मजबूर थे जिसे खाकर वे बीमार भी पड़ जाते थे। इसी प्रकार **युसूफ** मीरक ने 17वीं शताब्दी में लिखा है कि सिन्ध के किसानों को जंगली घास के बीज जो स्थानीय भाषा में **डेर** कहलाते थे, साल में कई महीनों तक खाने पड़ते थें इसी प्रकार की स्थिति लगभग अन्य प्रान्तो के किसानों की भी थी।

अनाज के अतिरिक्त किसान को कुछ सब्जियाँ भी खाने के लिए उपलब्ध थीं। बंगाल, उड़ीसा, सिंध, कश्मीर इत्यादि के किसानों के भोजन में मछली भी शामिल थी। मांस का सेवन किसानों में नहीं के बराबर था। घी का प्रयोग अधिकतर प्रान्तों के किसान करते थे किन्तु आसाम के लोग घी से परिचित नहीं थे तथा कश्मीर में भी धी का प्रयोग बहुत कम किया जाता था।

टेवर्नियर का कहना है कि छोटे से छोटे गांव में भी मिठाई मिलती थी। गुढ़ के सेवन का प्रायः चलन था। नमक बंगाल में बहुत महँगा था तथा बंगाल के कुछ हिस्सों तथा आसाम के लोग केले की छाल से नमक जैसा पदार्थ निकाल कर उसका प्रयोग नमक के रूप में प्रयोग करते थे। लाल मिर्च की लोगों को जानकारी नहीं थी। कुछ मसालों जैसे जीरा, धनिया, अदरक इत्यादि का प्रयोग साधारण किसान करते थे किन्तु लोंग, इलायची, काली मिर्च मँहगी होने के कारण उनकी पहुँच से बाहर थीं।

मौसमी फलों का सेवन भी किसान करते थे। किसान पान खाते थे या नहीं इस बारे में सूचना उपलब्ध नहीं है। मद्यपान की जानकारी हमें प्राप्त है। अफीम का प्रयोग अत्याधिक मात्रा में किया जाता था। सत्तरहवीं शताब्दी में अन्त तक तम्बाकू का सेवन भी अधिक मात्रा में होने लगा। **फ्रायर** ने अपने यात्रा वतान्त में भारत में लोगों द्वारा हुक्के के प्रयोग का वर्णन किया है।

किसानों की वेशभूषा के बारे में भी कम जानकारी उपलब्ध है। **बाबर** ने किसानों का वर्णन करते हुए लिखा है कि, **"रैयत ओ रेज़ा"** नँगें पाँव रहते हैं तथा एक लँगोटी बाँधते हैं। औरते भी एक साड़ी पहनती हैं। जिसका आधा हिस्सा उनकी कमर पर रहता है तथा बचे हुए बाकी आधे हिस्से से वे अपना सिर ढ़कते हैं।"

जहाँगीर कालीन **इंगलिश फक्ट्री रिकार्डस** से पता चलता है कि अधिकतर गरीब लोग एक लंगोटी बाँधने के अलावा पूरे शरीर को नंगा रखते हैं।

इसी प्रकार **फिच** का कहना है कि सर्दियों में ऊनी वस्त्रों के उपलब्ध न होने के कारण लोग सूती गाउन पहनते थे।

अबुल फज़ल ने बंगाल का वर्णन करते हुए लिखा है कि "आदमी व औरतें बहुत कम कपड़ा पहनते थे।" लगभग यही हाल उड़ीसा का भी था।

कश्मीर में आदमी व औरते सिर्फ एक गाउन जो कि गर्म होता था, पहनते थे, इसे वहाँ पट्टू कहा जाता था। जब तक यह चिथड़े–चिथड़े नहीं हो जाता था तब तक लोग उसे लगभग 3 या 4 वर्षों तक बिना धोए पहनते थे।

भारत के लगभग हर प्रान्त के किसानों की दशा एक समान ही थी। सबकें कम से कम कपड़ा उपलब्ध था।

जहाँ तक किसानों के आवास का प्रश्न है, यूरोपीय यात्रियों ने लिखा है कि उनकी झोंपड़ियाँ घास–फूस की बनी हुई होती थीं। ये झोंपड़िया बाँसों को गाड़कर बनाई जाती थीं। कई स्थानों पर मकानें की छतें मिट्टी की टाईल्स से बनी हुई थीं। कई स्थानों पर मकान लकड़ी व सरकंडों के बने हुए थे। ऐसे मकानों को बड़ी आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता है।

अजमेर प्रान्त की झोंपड़ियाँ टेन्ट के आकार की बाँस से निर्मित होती थीं। गुजरात में घरों की छतें खपरैल की होती थीं तथा घर ईंट व चून से बनाए जाते थे।

वस्तुतः किसानों के घर ऐसी सामग्री से बनाये जाते थे जो आसानी से उपलब्ध हो जाते थे। और उसमें अधिक कारीगरी की आवश्यकता भी नहीं होती थी। मौसम को ध्यान में रखते हुए हर प्रान्त में भिन्न प्रकार के घर बनाये जाते थे। किन्तु इस भिन्नता के बावजूद एक बात स्पष्ट

थी कि मध्यकालीन भारतीय किसान चाहे जिस भी प्रान्त का हो, उसकी रहने की स्थिति अच्छी नहीं थी। उसे हर दशा में कम से कम में जीवन यापन करना पड़ता था।

जहाँ तक फर्नीचर का प्रश्न है, किसान के पास बहुत कम सामान उपलब्ध था। सिर्फ खाना पकाने तथा पानी भर कर रखने के लिए मिट्टी के कुछ बर्तन उसके पास होते थे; इसके अतिरिक्त ज्यादा से ज्यादा दो चारपाईयाँ, चौकी इत्यादि उसकी झोंपड़ी में मिल जाते थे। हर प्रान्त के किसान के पास अधिकतर मिट्टी के ही बर्तन होते थे। गरीबी तथा गंदगी के कारण किसान का परिवार बीमारियों के घिरा रहता था।

विदेशी यात्रियों ने पाया कि भारत में अपनी बचत को आभूषणों के रूप में एकत्रित करने की प्रवति थी, एवम् महिलाएँ आभूषण पहनने की शौकीन थीं। अमीर वर्ग की महिलाएँ सोने, चाँदी के आभूषण धारण करती थीं तो गरीब वर्ग की महिलायें ताँबे, शीशे, शँख इत्यादि के आभूषण पहन कर संतुष्ट होती थीं। यहाँ तक कि लोंग को भी आभूषण के रूप में इस्तेमाल किया जाता था।

रीति–रिवाज़, त्यौहार, धार्मिक स्थलों की यात्रायें आम किसान के जीवन में बहुत महत्व रखते थे। उसकी कमाई तथा बचत का अधिकतम भाग बच्चों की शादियों में मतकों के अन्तिम संस्कार एवम् नदियों के किनारे आयोजित होने वाले धार्मिक त्यौहारों पर खर्च हो जाता था। इन सबसे उस पर कर्ज़ का बोझ और अधिक बढ़ जाता है तथा जिन्दगी भर वह उससे मुक्त नहीं हो पाता था। एक डच यात्री **वान ट्विस्ट** ने 17 वीं शताब्दी में गुजरात के लोगों के बारे में (भर्त्सना करते हुए) लिखा है कि यहाँ के लोगों ने अच्छी फसल होने पर बहुत अधिक खर्च किया तथा अपने अधिशेष को अपने त्यौहारों पर दिल खोल कर खर्च कर दिया। इस कारण से भगवान ने उन्हें सबक सिखाने के लिए गुजरात में लगातार दो साल, 1630-32 में भयंकर अकाल डाल दिया जिससे उनकी स्थिति अत्यन्त खराब हो गई।

भारत में किसान अपनी खेती के लिए मानसून पर निर्भर रहता था। बारिश न होने अथवा अत्याधिक बारिश होने की स्थिति में उसका सब कुछ नष्ट हो जाता था। मुगल काल में लगभग हर प्रान्त में किसी न किसी वर्ष में अकाल की जानकारी प्राप्त होती है। स्थिति इतनी भयावह हो जाती थी कि बड़ी तादाद में लोग मरते थे। बचे हुए लोग जंगली घास–फूस, बीजों इत्यादि पर गुज़रा करते थे। **बदायूँनी** ने तो अपनी पुस्तक **मुन्चख़ाब उत तवरिख** में यहाँ तक लिखा है कि सूखे की भयँकरता इस बात से स्पष्ट होती है कि लोगों के नर भक्षी हो जाने की जानकारी भी प्राप्त होती है। अधिकतर गाँवों से किसान भोजन और चारे की तलाश में पलायन कर जाते थे। गाँव एकदम सुनसान हो जाते थे व खेती का काम ठप्प हो जाता था जिससे राज्य को करों का नुकसान उठाना पड़ता था। किसानों की पलायन की प्रवति पर बहुत से इतिहासकारों ने प्रकाश डाला है, पलायन का मुख्य कारण सूखा एवम् अत्याधिक करों का बोझ ही था। किसानों को राहत पहुँचाने के लिए राज्य किसानों की मदद भी करता था क्योंकि उनके खेती से जुड़े रहने में ही राज्य का भी कल्याण था। किसानों को न केवल भूमि कर में छूट दी जाती थी बल्कि उनकी सहायता के लिए **तकावी ऋण** भी दिए जाते थे जो ब्याज रहित होते थे। साथ ही मुगल शासन की ओर से प्रान्तों के सूबेदारों को आदेश दिया जाता था कि प्रभावित किसानों की हर प्रकार से सहायता की जाये। मुफ्त भोजन की भी व्यवस्था की जाती थी जिसे **बुल्गार खाना** या **लँगर** कहा जाता था।

सत्तरहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब मुगल अर्थव्यवस्था कमजोर पड़ने लगी, राज्य की आय में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई तथा खर्चे बढ़ गये, इसके साथ ही दक्षिण भारत से मराठों तथा दक्कनी अमीरों की संख्या बढ़ने लगी, इन हालात में राज्य के लिए इन बढ़ते हुए खर्चों का बोझ उठाना असहनीय हो गया अतः इस अतिरिक्त भार को किसानों पर डाल दिया गया। मनसबदारों के वेतन का भुगतान **जागीर** के रूप में किया जाता था। साधारणतया एक **जागीरदार** एक स्थान पर दो या तीन साल तक रहता था उसके पश्चात् वहाँ से उसका स्थानान्तरण हो जाता था। लेकिन इस काल में यह स्थानान्तरण जल्दी–जल्दी होने लगे, इस कारण अनिश्चितता की स्थिति में जागीरदार इस कोशिश में रहता था कि वह जागीर से शीघ्रातिशीघ्र अधिकतम कर वसूल कर ले, इससे किसानों का शोषण चरम सीमा पर होने लगा, फलस्वरूप किसान विद्रोह पर उतारू हो गये। इस काल में कुछ प्रमुख किसान विद्रोह हुए, जैसे–सिक्ख विद्रोह, जाट व सतनामी विद्रोह। इन विद्रोहों में जमींदार किसानों का साथ देते थे क्योंकि उनका स्थायी हित किसानों से जुड़ा हुआ था।

अध्याय - 4
नारी और पुरुष : ऐतिहासिक परिपेक्ष में
Women and Gender Relations

इतिहास गवाह है कि सदियों से समाज में औरतों को दूसरा दर्जा ही दिया गया है। इस पुरुष प्रधान समाज में औरतों को हमेशा से पुरुषों के मुकाबले कमतर ही समझा गया है। ए. एस. अलतेकर, अपनी एक किताब – **द पेजिशन, ऑफ वूमेन इन हिन्दु सिवलाइजेशन** में लिखते है कि, "किसी भी सभ्यता और उसकी श्रेष्ठता को जानने का सबसे अच्छा तरीका उस युग में औरतों को दिये जाने वाले स्थान और दर्जे से पता चलता है..... समाज के वैवाहिक कानूनों और रिवाजों से हमें यह भी पता चलता कि क्या पुरुष औरतों को कोई बाज़ारी वस्तु या फिर युद्ध में जीता हुआ इनाम समझते हैं, या कि वह अपनी पत्नी को एक बहुमूल्य साथी के रूप में देखते हैं, जिसके सहयोग से वह एक खुशहाल और कामयाब पारिवारिक जीवन व्यतीत कर सकते हैं।" और आगे **अलतेकर** अपने खुद के कथन का खंडन करते हुए यह भी कहते हैं कि, "औरतों में संघर्ष–शक्ति कम होती है और वह लड़कों को जन्म देकर अप्रत्यक्ष रूप से अपनी कौम को संघर्ष–शक्ति और योग्यता प्रदान करती है।"

वास्तव में भारतीय ऐतिहासिक रचनाओं के क्षेत्र में औरतों का बहुत कम योगदान देखने को मिलता है। जो कुछ भी भारतीय महिलाओं के बारे में देखा या सुना गया है। वह सब पुरुषों के नज़रिये से ही लिखा गया है। सन् 1881 ई॰ में पहली बार **तारा बाई शिन्डे** ने अपनी आत्मकथा – **अ कमपैरिसन् बिटवीन वूमेन एण्ड मेन,** में पुरुषों में ऐसी धारणा कि पुरुष वर्ग स्त्री वर्ग से श्रेष्ठ है, को चुनौती देते हुए लिखा है कि कानून पुरुषों द्वारा ही बनाए गये और उन्हें अपने ही फायदों के लिए इस्तेमाल भी किया गया। इसी प्रकार महिलायें चाहे कितनी ही विवेकपूर्ण, साहसी और बुद्धिमान ही क्यों न हों, उन्हे हर तरह से पुरुषों द्वारा इस समाज में दबाया जाता रहा है। इसलिए देखा गया है कि भारतीय इतिहासिक रचनाओं में भी महिलाओं को कम महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। हालाँकि बहुत सी किताबों में महिलाओं के जीवन अथवा उनके संघर्ष के बारे बहुत सी बाते लिखी गई है।

असंख्य युगों से, भारत में महिलाओं का स्थान पुरुषों के मुकाबले कमत्तर माना जाता रहा है और उन्हे हर प्रकार से सताया जाता रहा है। वैसे तो भारत में कई धर्मों को माना जाता है, उनके आधार पर निजी परम्पराओं के अनुसार, महिलाओं को हमेशा की तरह पुरुषों के मुकाबले निम्न स्थान ही प्राप्त हुआ है। देखा जाए तो सामाजिक परम्परागत तौर पर महिलाओं को पत्नी और माँ के रूप में समाज में बहुत इज्जत प्राप्त है लेकिन इसके अलावा, एक अलग व्यक्तिगत रूप में एक अकेली औरत को हमेशा की तरह कम सम्मान वाले निचले स्थान पर ही रखा गया है। ऐसा माना जाता रहा है कि उनका (महिलाओं का) उनके पति से अलग हट कर कोई व्यक्तिव

नहीं है। यहाँ तक कि **मनु** भी यह लिखता है कि – "उसका पुरुषों को प्रलोभन देना और उन्हें सही रास्ते से भटका देना, उनके स्वाभाव में शामिल है। इसी प्रकार जब उसकी रचना हुई तो उसमें अशुद्ध इच्छायें, गहरा क्रोध, बेईमानी और बुरा व्यवहार के भी अंश शामिल थे। उसे उच्चस्तर की प्राप्ति तभी तक है जब तक वह अपने पति के साथ है। उसमें अच्छे गुण उसके पति से ही आते हैं। महिलाओं की इसी खराबी और अपूर्ण स्वाभाव के आधार पर ही यह सिद्ध किया गया है कि उसे पुरुषों से पूरी तरह कम स्थान दिया जाए और उन्हें पुरुषों के आधीन रखा जाए। दिन–रात औरतों को परिवार में भी परिवार के पुरुषों पर ही आश्रित रहना पड़ता था।"

इसामी ने चौहदवीं शताब्दी में अपनी किताब, **फुतुह-उस-सालातीन,** में लिखा है कि – "हमेशा से वही एक औरत सही मानी गई जो घर में रह कर चरखा कातती है, जिसके दुखों का साथी कपास रहा है, जिसका उसको नशा है और डक की आवाज उसके गीतों का संगीत है।"

अमीर खुसरों भी इस विचारधारा, जो कि महिलाओं को पुरुषों के आधीन रखती है, से अलग नहीं रहें। उन्होंने भी अपनी बेटी के जन्म पर दुख व्यक्त करते हुए यह लिखा है कि – "मेरी यह इच्छा थी कि तुम जन्म ही न लेती और अगर तुमने जन्म लिया है तो यह बहतर होता कि तुम एक लड़का होती।"

सौहलवीं शताब्दी में तुलसी दास भी यह लिखते है कि –

"ढ़ोल गँवार शुद्र पशु नारी
ये सब ताड़न के अधिकारी।"

अर्थात – ढ़ोल (वाद्य यंत्र), गवाँर यानी के देहाती, शुद्र जो कि नीची जात का व्यक्ति, जानवर और औरत, यह सब समाज में मज़ाक के योग्य है। कहने का भाव यह है कि इन सब का समाज में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। यह सब उपहास योग्य है।

यहाँ तक की सौहलवीं शताब्दी के प्रमुख इतिहासकार **अब्दुल कादिर बदांयूनी** का भी नारी जाती के प्रति यही विचारधारा है जो उपयुक्त अन्य लेखकों की है, और वह कहते है कि – "सबसे अच्छा दामाद ही कब्र है।"

पंद नामा-ए-जहाँगीरी, में भी यह लिख है कि – "बेटियों की मौत पर दुख व्यक्त नहीं करना चाहिए। महिलाओं की राय नहीं लेनी चाहिए। कभी भी उनके धोखेबाजी और बनावटीपन को अनेदखा नहीं करना चाहिए।"

समाज में महिलाओं का निम्न स्थान, जो उपयुक्त समकालीन लेखकों और इतिहासकारों के दष्टिकोण द्वारा हमें पता चलता है, इसके साथ–साथ हमें महिलाओं के अधिकारों का भी पता चलता है। इतिहास में ऐसी कई महिलाओं का जिक्र है जिन्होंने अपने बल पर अपने अधिकारों को हासिल किया है। रज़िया सुलतान का नाम उन में से एक है। उसने अपनी कुशलता और कूटनीतिक व्यवहार से आम–जनता का समर्थन हासिल किया। पूर्णरूप से सत्ता में आने से पहले, रज़िया सुलतान ने जनसमूह को अपनी ओर किया और उन्हें शाह तुरकान, जो कि सुलतान इलतुतमिश की बीवी थी, के खिलाफ भड़काने में कामयाब भी हो गई, जो चाहती थी कि सुलतान इलतुतमिश के मरने के बाद उनका बेटा रूकनुद्दीन फिरोज शाह राजगद्दी सम्भाले और उनका उत्तराधिकारी बने। एक समकालीन इतिहासकार **मिनहाज-उस-सिराज** की जानकारी के अनुसार हमें यह पता चलता है कि किस तरह रज़िया सुलतान ने अपनी बुद्धिमत्ता से शाह तुरकान के इरादों को प्रास्त किया और अपनी जीत हासिल की। रज़िया सुल्तान ने लाल वस्त्र पहन लिए, जो उस समय न्याय माँगने वाले

अपमानित व्यक्ति पहना करते थे और उसने दिल्लीवासियों से उसके पिता के नाम पर अनुरोध भी किया, जब वह लोग शुक्रवार की नमाज़ के लिए एकत्र होते थे। रज़िया को सेना का और दिल्लीवासियों का पूरा सहयोग मिला, जिसके कारण वह सुल्तान घोषित कर दी गई।

एक औरत होने के बावजूद भी, रजिया के नाम के पीछे "सुल्ताना" न लगकर के "सुलतान" लिखा जाता रहा है, जिससे कि उसकी मनोवत्ति का पता चलता है। उसने अन्य किसी सुलतान की तरह ही हर राजनीतिक समस्याओं और अमीरों के विरोध का बढ़ी ही कुशलता पूर्वक सामना किया। **मिनहाज-उस-सिराज** ने रज़िया सुल्तान की प्रंशसा के साथ–साथ उसके लिए सहानुभूमि के भाव व्यक्त करते हुए लिखा है – "रजिया में वह सभी प्रशसनीय गुण और योग्यताएँ थी जो कि एक सफल शासक में होनी चाहिए लेकिन उसकी सबसे बड़ी कमजोरी उसका एक औरत होना था।" इसके अतिरिक्त, यह कितनी दिलचस्प बात है कि उसके दुश्मनी और विरोधियों ने उसके चरित्र को ही उसके खिलाफ हथियार बनाया और उसे बदनाम करने के लिए उसका नाम जमालुद्दीन याकूत के साथ जोड़ा। लेकिन इन सब के बावजूद भी रज़िया सुल्तान ने बढ़ी ही कुशलता पूर्वक अपनी योग्यता और सक्षमता को सिद्ध किया और पूरे चार वर्षों तक शासन किया। सत्रहवीं शताब्दी के **शेख अबदुल हक मुहाद्दीस देहलवी,** जो इस्लामी नियमों का ज्ञानी था, उसने भी बढ़े ही आश्चर्यजनक रूप से अपने भाव यह लिखकर व्यक्त किए है कि कैसे उल्माओं ने रजिया सुलतान, जो कि एक औरत होते हुए भी, उसका साम्राज्य पर शासन करना स्वीकार कर लिया और उसका उत्तराधिकारी बनने पर विरोध भी नहीं किया। जबकि इस्लामिक कानून के तहत एक महिला को शासन करने का कोई अधिकार नहीं है।

यह ही नहीं मलिका–ए–जहाँ, जो कि जलालूद्दीन खिलजी की पत्नी थी, वह भी एक महत्त्वाकांक्षी औरत थी। सन् 1296 ई॰ में जलालूद्दीन खिजली की मौत के पश्चात् उनकी पत्नी ने हर मुमकिन कोशिश की कि उनका बेटी उत्तराधिकारी बने लेकिन अलाऊद्दीन खिलजी ने ऐसा न होने दिया और उसे बेदखल कर दिया। इसी तरह ही मोहम्मद बिन तुगलक की माँ ने भी काफी हद तक राजनीतिक कार्यों में दिलचस्पी दिखाई।

भारतीय इतिहास के मुगल शासन काल में भी, कई महिलाओं का बढ़ता महत्त्वाकांक्षी रूप हमें देखने को मिलता है। जैसे – कि बाबर की दादी अहसान दौलत बेगम का भी बाबर की सफलता के पीछे पूरा योगदान था। उन्ही की विवेकपूर्ण परामर्श से बाबर ने सन् 1494 ई॰ में कामयाबी हासिल की। देखा जाए तो बाबर की भी सोच किसी और पुरुषों से अलग नहीं थी। उसने अपनी किताब – **बाबरनामा,** में एक निजी दावत का ज़िक्र किया है और उसके बारे में वह लिखता है कि – उसने मुहम्मद–ए–कासिम बरलास और शाहज़ादा को दावत के लिए बुलाया। उस समय तरदी बेग ने कहा कि हुल–हुल अनीगा भी शराब हमारे साथ पीना चाहती है। बाबर आश्चर्यजनक तरीके से लिखता है कि उसने किसी औरत को शराब पीते हुए नहीं देखा है और मैंने उसे हमारे साथ शराब पीने के लिए अमंत्रित कर दिया। पार्टी (दावत) काफी आज़ादी से मनाई गई और मैं लेट गया। उसके बाद बाकी के लोग दूसरे घर चले गये और देर रात तक शराब पीते रहे। हुल–हुल अनीगा मेरे (बाबर) पास आई और मुझे परेशान किया। अंत में मैंने उससे छुटकारा पाया और ऐसा ढ़ोंग रचा कि जैसे में पीकर नशे में धुत हूँ।

यही नहीं बाबर की बेटी–गुलबदन बेगम भी बढ़े खुले विचारों वाली महिला थी। उन्हें पर्शियन और तुर्की भाषाओं में महारथ हासिल थी। उन्होंने अकबर के कहने पर **"हुमाँयुनामा"**, नामक एक किताब भी लिखी, जिससे हमें काफी महत्त्वपूर्ण इतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है। यह

किताब हमें उस समय की सामाजिक और राजनीतिक गतिविधियों से अवगत कराती है। **गुलबदन बेगम** को पढ़ने और लिखने का बहुत शौंक था और इसी के चलते उन्होंने काफी किताबों को अपनी निजी पुस्तकालय के लिये जमा भी किया।

मुगल वंश के राज्य काल में, जहाँगीर की पत्नी नूरजहाँ का नाम भी इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान पर आता है। नूरजहाँ एक बहुत ही योग्य और प्रतिभाशाली औरत थी। उसने बहुत ही सक्रिय ठंग से मुगल दरबार की राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेना शुरू कर दिया था। उसने अपने परिवार के सदस्यों और प्रियजनों को राज्य के खास पदों पर तुरानी, राजपूत और हिन्दुस्तानी मुसलमान अमीरों, के मुकाबलें प्राथमिकता दिलानी शुरू कर दी। उसके व्यक्तिव का प्रभाव मुगल साम्राज्य पर इतना बढ़ गया कि उसने 'जुनटा' को बनाया। जिसे कई लोगों ने ठीक नहीं समझा, और कुछ आदमियों ने नाराज़गी दिखाई, जो कि महाबत खां के विद्रोह के रूप में नज़र आती है। लेकिन फिर भी नूरजहाँ ने बहुत ही साहसपूर्ण तरीके से हर मुश्किल समस्या का सामना किया और इसी प्रकार हमें यह देखने को मिलता है कि औरतें पुरुषों के मुकाबले किसी भी लिहाज़ से कम नहीं है, चाहे वह रजिया सुल्तान, नूरजहाँ और या फिर रानी गौर ही क्यों न हो। रानी गौर, राजा मान सिंह, जो कि आमेर (जयपुर) के राजा थे उनकी पत्नी थी। राजा मान सिंह की गैरहाजिरी में उनकी पत्नी (रानी गौर) पूरी तरह से कच्छवाह राज्य की जिम्मेदारी सम्भालती थी और राज्य के कार्यों को बढ़ी ही कुशलतापूर्वक संचालित भी करती थी। एक बार आकाल के दौरान, जब राजा मान सिंह दक्षिण में थे, तब रानी गौर ने अपने राज्य से खाद्य पदार्थ वहाँ पर भिजवाए।

इसी तरह से महाराजा जसवन्त सिंह, जो कि जोधपुर के राजा थे, उनके मरने (सन् 1677 ई. में) के पश्चात्, उनकी पत्नी ने जोधपुर राज्य को मुगल साम्राज्य में सम्मिलित न होने के लिए औरंगज़ेब के खिलाफ बलपूर्वक विरोध किया।

यहीं नहीं, भारतीय इतिहास में रानी दुर्गावती का नाम भी बढ़े ही सुनहरे अक्षरों में दर्ज है। वह एक बहुत ही निडर और साहसी महिला थी। दरबारी इतिहासकार अबुल फज़ल उसकी सूझबूझ और बहादुरी की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि — "गढ़ा–कंढगा राज्य की बागडोर एक महिला के हाथ में थी, जिसका नाम दुर्गावती था, जो कि रानी के नाम से जानी जाती थी। वह अपनी वीरता और साहस के दम पर दूर–दूर तक प्रख्यात (प्रसिद्ध) थी। अपनी इन्हीं योग्यताओं से रानी दुर्गावती ने उस राज्य पर बलपूर्वक शासन भी किया। मैंने जानकार सूत्रों से सुना है कि 23,000 खेती करने योग्य गाँव उसके पास थे और उन में से 12,000 गाँव में हाकिम तैनात थे और बाकी के गाँव उसके माहतैत थे और उनके मुखिया उनके नियंत्रण में थे। "अबुल फज़ल आगे लिखता है कि — "उसे बन्दूक और तीर–कमान चलाना बहुत अच्छे से आता था और इसलिए वह निरंतर शिकार पर भी जाया करती थी और अपने बन्दूक के निशाने से जानवरों को मार गिराती थी। यह एक उसकी आदत जैसी हो गई थी कि जब कभी उसे शेर दिख जाता था, तो वह उसको मारने के पश्चात् ही पानी पीती थी।"

रानी दुर्गावती को कभी भी युद्ध से डर नहीं लगता था और वह बहुत ही बहादुरी से युद्ध किया करती थी। उन्होंने एक बार अकबर और उसकी सेना का बहुत ही वीरता से सामना किया। उन्होंने अपनी विवेकपूर्णता से तैयार की गई रणनीति को इस्तेमाल कर अकबर और उसकी सेना को हरा दिया था। इसके बारे में अबुल फज़ल लिखते हैं कि — "युद्ध के मैदान में रानी दुर्गावती बहुत ही बहादुरी से लड़ी। युद्ध के दौरान उनकी दाहिनी कनपटी पर एक तीर आ गया और उन्होंने उसे बढ़ी ही बहादुरी से बाहर निकाल दिया और वह वहाँ से आगे

बढ़ गई। तभी एक और तीर उनकी गर्दन पर आ लगा। उस तीर को भी उन्होंने बढ़ी ही बहादुरी के साथ खुद ही बाहर निकाल दिया, लेकिन इन जख्मों का दर्द वह बर्दास्त नहीं कर सकी और वह बेहोश हो गई।" होश में आने के बाद, उन्होंने अपने वफादार नौकर को बुलवाया और उसे आज्ञा दी की वह उन्हें खत्म कर दे। लेकिन उसने यह आज्ञा मानने से इनकार कर दिया, तो रानी दुर्गावती ने खुद को अपने ही खंजर से मार गिराया। रानी दुर्गावती बहुत ही साहसी और बहादुर महिला थी।

यहाँ तक कि मध्यकालीन युग के प्रारम्भ में भी हमें इसी तरह का एक उल्लेख मिलता है जिसमें राजा हर्ष की बहन राजश्री ने भी अपने पति के मरने के पश्चात् बढ़ी ही सतर्कता से राज्य के कार्यों में हिस्सा लिया।

यही नहीं, मुगल काल के दौरान और भी बहुत सी ऐसी महिलाओं के नाम आते है।, जिन्होंने भारतीय इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान कायम किया है, जैसे कि — मुमताज महल, जहाँआरा, जन्नेतुन निसा बेगम, साहिब जी, लाल कुँवर, इत्यादि।

इसी प्रकार, अठारवीं शताब्दी के प्रारम्भ में, एक और महिला का ज़िक्र सामने आता है। जिसे भारतीय इतिहास में बेगम समरू के नाम से जाना जाता है। बेगम समरू का असली नाम ज़ैव–उन–निसा था। वह एक मुसलमान नत्यांगना थी। और उन्होंने एक फिरंगी के साथ शादी की थी, जिसका नाम समरू था। उनके पति के मरने के बाद, उन्होंने बढ़ी ही कुशलता और सक्षम तरीके से पूरी सेना और राज्य के मामलों पर नियंत्रण या लिया। वह हर कार्य को करने के लिए पूरी तरह से योग्य थी। उन्होंने सरधाना (मेरठ से पास एक जगह) में एक बहुत ही शानदार और भव्य गिरजाघर भी बनवाया, जो आज भी बड़े पैमाने पर धार्मिक श्रद्धालुओं और पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र है।

लेकिन देखा जाए तो आज भी इस पुरुष प्रधान समाज में, इन साहसी महिलाओं के खिलाफ किया गया विरोध और कई ऐसी प्रतिक्रियायों का ज़िक्र समय–समय पर सामने आता रहा है। महिलाओं के प्रति आज के एक आम आदमी का नज़रिया, भारत के मध्यकालीन युग के अभिजात वर्ग के नज़रिये से अलग नहीं है। राजस्थानी लोकसाहित्य भी ऐसी कुछ महिलाओं पर रोशनी डालता है, जिन्होंने अपनी जिन्दगी में कुछ हटकर अपने आप को दूसरों से अलग सिद्ध किया है। जैसे कि एक लोककथा में वर्णित है कि — एक लड़की, जो कि बलुचिस्तान की रहने वाली थी, अपने आप को मर्दों जैसे दिखाने के लिए, उनके जैसे कपड़े पहनती थी। एक बार वह जैसलमेर के भट्टी जात के मुखिया की टोली में शामिल हो गई, जो सिंध के रास्ते से आने–जाने वाले व्यापारियों को लूटते थे। उन्होंने एक बार सत्रह घोड़ों को लूटा और जैसलमेर पहुचने के बाद उन घोड़ों को आपस में बाँटने की तैयारी की। जैसे कि घोड़े सत्रां थे, वह दो हिस्सों में बराबर नहीं बट सकते थे, जो उस लड़की (जो कि मर्दो जैसी वेशभुषा में थी) ने, अन्य किसी बहादुर आदमी की तरह, अपनी तलवार से एक घोड़े को आधा काट डाला और अपना हिस्सा लेने के बाद, वह अपने–अपने रास्ते चले गये। एक बार शहर के एक तालाब में वह लड़की नहा रही थी, तो भट्टी जात के एक सिपाही ने उसे वहाँ नहाते देखा, तो उसने उस लड़की को पहचान लिया कि वह वहीं लड़की है जो मर्दो जैसे कपड़े पहना करती थी और आदमी होने का ढ़ोंग किया करती थी। वह तुरन्त वहाँ से भागा और उसकी खबर अपने भट्टी जात के मुखिया को दी और उस लड़की की असली पहचान मुखिया को बताई। तब उस भट्टी मुखिया ने उस लड़की के सामने शादी का प्रस्ताव रखा और उन दोनों ने शादी कर ली। शादी के बाद, उस लड़की

ने दो लड़कों को जन्म दिया और बाद में उस लड़की की पूरी ज़िदगी अपने दोंनो बच्चों, पति और घर परिवार की देखभाल में ही व्यतीत हो गई।

इस कहानी से हमें पुरुषों की मनोवत्ति का पता चलता है कि किस तरह जब तक वह लड़की पुरुषों के वेशभूषा में थी और उसका असली रूप सामने नहीं आया था, तब तक वह एक बहादुर पुरुष के समान समझी जा रही थी और उसके साथ पुरुषों जैसा व्यवहार हो रहा था, और जब उस का असली रूप सामने आया तो उसके साथ वैसा ही व्यवहार किया गया जैसा कि किसी अन्य महिलाओं के साथ समाज में किया जाता है। उनका घर में ही रहना और अपने पति और बच्चों की ही देखभाल करना, उनका पहला धर्म माना जाता रहा है। यह कहानी इस बात का प्रमाण है कि किस तरह से एक औरत इस समाज में पुरुषों से दबती चली आ रही है।

इतना ही नहीं, भारतीय अभिजात वर्ग के नज़रिये का प्रभाव फिरंगी दष्टिकोण पर भी बहुत साफ–साफ दिखाई देता है। सौलहवीं शताब्दी के एक फिरंगी यात्री, जिसका नाम दी लिष्ट था, वह भी इस के बारे में लिखते हैं कि – "सिर्फ गरीब या असंकोची मुसलमान औरते ही सार्वजनिक जगहों पर दिखती है।" इस यात्री के अलावा, एक और अठारवी शताब्दी में भारत आए फिरंगी यात्री, जिसका नाम विलियम होजिस था, वह भी कहते है कि उस समय हिन्दु औरतें अपनी आँखों को झुकाकर बिना इधर–उधर देखे अपने रास्ते चला करती थी। इन फिरंगी यात्रियों के दष्टिकोण से हमें यह भी देखने को मिलता है कि किस तरह इस समाज में औरतों को उन्हीं के दायरे में ही रहने की इजाज़त थी। और अगर वह इसके बाहर जाती थी तो उन्हें ठीक नहीं समझा जाता था।

फिर भी हमें बहुत से ऐसे उदाहरण मिलते है, जिनके आधार पर हमें यह पता चलता है कि किस तरह से समाज के कारीगर वर्ग और अन्य निचले वर्गों की महिलायें, उस समय भी अपने घर–परिवार की जीविका चलाने के लिए तरह–तरह के काम किया करती थी। बहुत सी महिलायें तो खेती–बाड़ी के व्यवसाय में पुरुषों की मदद भी करती थी। मुगल काल में बने कई चित्रों में भी महिलायें खेंतों में बीज बोती हुई और आदमियों के पीछे हल चलाती हुई, देखने को मिलती है। ऐसी ही एक – **अनवार-ए-सुहेली** चित्रकला में भी कुछ औरते अपने–अपने पतियों (जो की खेतों में काम कर रहे होते थे) के लिए खाना ले जाती हुई दिखाती है। इतना ही नहीं बहुत सी महिलायें तो अनाज पीसना, कुएँ से पानी लाना, पशुओं की देखभाल करना, दूध–दुध्ना, दाई कार्य, छोटे–छोटे बच्चों की देखभाल करना, आदि जैसे काम भी किया करती थी।

लेकिन सामान्य रूप से देखा जाये तो उस समय भी महिलाओं की स्थिति बहुत ही करूणाजनक और दुखदायिक थी। सती प्रथा उस का सबसे खौफनाक उदाहरण है। सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक (1325 - 1350 ई॰) ने समाज की इस कुप्रथा को रोकने के लिये कई कदम उठाए। अकबर ने भी अपने शासन काल में, समाज की इस बुराई, जिसमे कि एक विधवा स्त्री को उसके पति की चित्ता पर ही जिन्दा जला दिया जाता था, को खत्म करने के लिए कई प्रयत्न किये। शहनशाह अकबर ने (सन् 1556 - 1605 ई॰ में) कुछ राजपूत सरदारों की मदद से मौके पर पहुँचकर बहुत सी ऐसी राजपूत औरतों को सती होने से बचाया और यह ही नहीं उसने सभी काज़ियों के लिए विशेष आदेश जारी किए कि वह कही से भी किसी महिला की सती होने की खबर सुने या फिर किसी महिला को सती होते देखे तो तुरन्त उस मौके पर पहुँचकर, उस कुप्रथा को रोके। सती प्रथा को खत्म करने के साथ–साथ, समाज की दूसरी बुराई, जैसे कि बाल–विवाह पर भी रोकथाम लगाई गई और दूसरी तरफ विधवा औरत की फिर से शादी करने के विषय को प्रोतसाहित भी किया गया। इतना ही नहीं, समाज की कई ऐसी बुराईयों

और कुरीतियों को सुधारने के लिए बहुत से कदम उठाये गये और खासतौर से उन्नीसवी शताब्दी में तो कई ऐसे जाने–माने समाज सुधारकों के नाम आते हैं, जैसे कि राजा राम मोहन रॉय, ईश्वर चन्द्र विध्यासागर, जोतिबा फूले, विष्णु शास्त्री पंडित, दादा भाई नारोजी, इत्यादि जिन्होंने महिलाओं की कमज़ोर स्थिति को सुधारने के लिए जी–जान से प्रयास किया। जिसमें उन्हें काफी हद तक सफलता भी मिली।

लेकिन फिर भी देखा जाए तो महिलाओं के प्रति पुरुषों की सहानुभूती तभी तक है जब तक कि कोई महिला उनके अहंभाव को ठेस नहीं पहुँचाती। यहाँ तक भी भारतीय इतिहास में पढ़ने को मिलता है कि किस तरह राजघराने की महिलाओं पर भी कढ़ी नज़र रखी जाती थी। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में भारत आये एक इटलियन यात्री, जिसका नाम–निकोलाओं मनुची था, वह भी अपनी किताब – **स्टोरीआ-दो-मोगोर,** में इस बात की पुष्टि करते हुए लिखता है कि मुगल काल में भी महलों में रहने वाली महिलाओं की हर हरकत पर कढ़ी नज़र रखी जाती थी। और इसके लिए मुगल राजाओं ने जासूस रखे थे जो उन्हें समय–समय उनकी पूरी जानकारी देते थे।

लेकिन आज भी जैसा कि देखा जाए तो भारत जो कि एक लोकतंत्र देश है, उसके बावजूद भी इस देश में आज भी महिलाओं को पुरुषों के मुकाबलें पूरी तरह से बराबर का स्थान प्राप्त नहीं है। सिर्फ दिखावे के तौर पर महिलाओं को इस पुरुष प्रधान समाज में उनके अधिकार हासिल है। वास्तव में ऐसा कोई महिला आरक्षण बिल, सांसद में पास नहीं हुआ है, जिसके कारण महिलाओं के लिए लोक सभा में कुछ सीटे आरक्षित हों। यह भी कोई कम आश्चर्यजनक बात नहीं है कि आज भी इतने प्रगतिशील देशों में, जैसे कि – इंगलैण्ड में भी महिलाओं को अपने मताधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ता है। इसी मुद्दें की ओर वहाँ के राजा का ध्यान आकर्षित करने के लिए, इंगलैण्ड की कई महिला कार्यकर्ताओं ने सन् 1912 में अपने आप की शाही घोड़े के आगे गिरा दिया, जब वह राजा डर्बी रेस के लिए जा रहा था। तो देखा जाए तो, भारतीय महिला को अपने अधिकारों को पाने के लिए अभी बहुत संघर्ष करना है।

UNIT-II

अध्याय - 5
भारतीय इस्लाम का विकास
Development of Indian Islam

मुहम्मद यासीन लिखते हैं कि यद्यपि यह माना जाता है कि विदेशी मुस्लिम विजेताओं के वंशज कई शताब्दियाँ भारत में रहने के पश्चात् भी भारतीय जनता से पथक एक राष्ट्र है तथापि मुस्लिम समुदाय के वस्तुपरक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दिन प्रतिदिन के जीवन की दष्टि से यह समुदाय विस्तत उप–महाद्वीप का एक अभिन्न अंग बन गया, भले ही अरबीवाद की और इसका कुछ भावात्मक झूकाव बना रहा।

हिन्दुस्तान के मुसलमान भारत के बाहर से आए आने सहधर्मियों से भिन्न थे। **मेन डेलस्लो** जिसने लगभग समस्त मुस्लिम जगत में यात्रा की थी, लिखता है, "हम भारत के मुसलमानों के जीवन के ढंग का उल्लेख करेंगें, जो तुर्कों तथा फारस के लोगों के ढंग से बहुत भिन्न है।" मुसलमान हिन्दुस्तान को अपनी मातभूमि (वतन) समझते थे और हिन्दुकुश पर्वतमाला अथवा हेलमंड नदी, जिसके पर तुरान तथा ईरान थे, को पार करने के इच्छुक नहीं थे, जबकि उनके लिए काबुल उतना ही अच्छा था जितना कि लाहौर। भारतीय मुसलमानों के हृदय में अपनी मातभूमि के प्रति प्रेम का प्रथम प्रस्फुटन अमीर खुसरों, जिसे तूती–इ–हिन्द (भारत का तोता) कहते थे, में दष्टिगोचर हुआ। उसे भारत व भारतीयता पर गर्व था। मुहम्मद तुगलक भारत के मुसलमानों की मातभूमि बनाने का स्वप्न देखता था। भारत में बसे हुए विदेशी मुसलमानों को उसने उदार संरक्षण दिया और उन्हें वापिस जाने से हतोत्सहित किया। उसने आदेश दिया कि किसी विदेशी को अजनबी न कहा जाए बल्कि अजीज (सम्बन्धी) कहा जाए। लम्बे समय से हिन्दुस्तान में बसे कुछ मुसलमान वापस जाना चाहते थे। यह समाचार मिलने पर सुल्तान ने उनकों फांसी का आदेश दिया। बाद में हिन्दुस्तानी मुसलमानों की तो बात ही क्या, भारत में बसे हुए अफगान भी हिन्दुओं की तरह ही सिन्धु नदी को पार करने के इच्छुक नहीं थे, यद्यपि उनके मन में किसी तरह का अन्ध विश्वास नहीं था। अबुल फजल बताते है कि अकबर के शासनकाल में काबुल पर चढ़ाई का विचार इसलिए त्याग दिया गया क्योंकि सैनिकों का भारत के प्रति प्रेम उनके सिन्ध पार क्षेत्रों में प्रविष्ट होने में बाधक सिद्ध हुआ। **तुजक** से ज्ञात होता है कि जब खुसरों को हुसेन बेज ने जहाँगीर के विरूद्ध हिन्दुस्तान का राज्य प्राप्त करने के वास्ते लड़ने के लिए काबुल जाने का परामर्श दिया तो उसके पुराने सेवकों। अफगानों तथा भारतीयों ने चेनाव नदी के किनारे पर उसका साथ छोड़ दिया और हिन्दुस्तान में वापिस भाग गए। फारस के लोग भारत में जन्म लेने वाले मुसलमानों द्वारा फारसी कविता लिखने के प्रयास की खिल्ली उड़ाते थे। कवि शैदा ने ईरान के लोगों की इस श्रेष्ठ भावना का विरोध किया और भारत के अत्यन्त भाग्यशाली देश होने, जहाँ बहिश्त से निकाल दिए जाने पर आदम ने पहली बार कदम रखा था, के दावे का समर्थन किया।

सामाजिक पथकता के साथ–साथ सभंजन और भिक्षण की शक्तियाँ भी कार्यशील थी। विचार तथा कर्म दोनों क्षेत्रों में हिन्दुओं और मुसलमानों में धीरे–धीरे विलय हो रहा था। एक पश्चिमी मुस्लिम यात्री चौदहवीं शताब्दी में भारतीय मुस्लिम जीवन की विशेषताओं का निन्दात्मक वर्णन करता है। थट्टा (सिंघ) तथा मुल्तान के प्रान्तों में और विशेषतया बनारस में ब्राह्मण लोग अपनी पाठशालाओं में अपने धर्म के सिद्धान्तों की व्याख्या करते थे और हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों धर्मों के प्रशंसक तथा विद्यार्थी दूर–दूर से वहाँ एकत्र होते थे। संक्षेप में कह सकते हैं कि जब एक ही देश में विभिन्न धर्मों व समुदायों के लोग रह रहे थे तो राजकीय प्रतिबन्ध विलयन की क्रिया को अधिक देर रोक न सका।

आधुनिक विद्वानों के मध्य यह वाद–विवाद का विष्य है कि इस्लाम तथा हिन्दू सभ्यता का एक दूसरे पर कितना प्रभाव पड़ा है। **ताराचन्द** के अनुसार इस्लाम के प्रभाव के कारण भारतीय सभ्यता पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गयी। इसकी विपरीत **सर जदुनाथ सरकार** का मत है कि भारतीय सभ्यता ने इस्लामी सभ्यता को पूर्ण रूप से प्रभावित किया था। **टाइटस** ने अपनी पुस्तक **इण्डियन इस्लाम** में इस मत का समर्थन किया है। अपनी ग्राह्व शक्ति के लिए प्रसिद्ध होने पर भी भारतीय सभ्यता के लिए यह सम्भव नहीं था कि इस्लामी सभ्यता सम्बन्धी सभी तत्वों को ग्रहण कर सके। फिर भी एक साथ रहने के परिणामस्वरूप इस्लाम तथा हिन्दू सभ्यता का एक दूसरे को प्रभावित करना स्वाभाविक था।

इस्लाम का भारतवर्ष से सम्बंध अरब व्यापारियों के माध्यम से हुआ पर तेरहवी शताब्दी के अन्त या चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में मुस्लिम शासन की स्थापना हो गई। अरब तथा तुर्क स्थायी रूप से भारतवर्ष में बस गए। **ताराचन्द** लिखते हैं कि "न केवल हिन्दू धर्म, कला, साहित्य तथा विज्ञान के इस्लामी तत्वों को ग्रहण किया बल्कि हिन्दू सम्यता की आत्मा तथा हिन्दू मुस्तिष्क पूर्नरूप से परिवर्तित हो गया। इस्लाम ने भारतीय सभ्यता की आत्मा तथा हिन्दू मस्तिष्क पूर्णरूप से परिवर्तित हो गया। इस्लाम ने भारतीय सभ्यता के क्षेत्र में एक क्रांति पैदा कर दी। परिणामस्वरूप हिन्दू सभ्यता के प्रमुख स्तम्भ ध्वस्त होने लगे पुनः दोनों के सम्मिश्रिण से एक नवीन सम्यता का जन्म हुआ, जिसे इण्डों–इस्लामी सभ्यता की संज्ञा दी जा सकती है"। सूफ़ीवाद का उद्भव तथा विकास इस्लाम की देन है। इसने इस्लाम की रूढ़िवादिता को कम करके सामाजिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाया तथा हिन्दू मुस्लिम समन्वयवाद का मार्ग प्रशस्त किया।

इसके विपरीत **टाइटस** के अनुसार भारतीय समाज पर इस्लाम के प्रभाव की अपेक्षा मुस्लिम समाज पर हिन्दू व्यवस्था का अधिक प्रभाव पड़ा। मुसलमानों ने सैनिक तथा राजस्व व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया, परन्तु बौद्धिक तथा सांस्कृतिक साम्राज्य अविजित तथा अजेय रहा है। **चैतन्य** कहते थे 'भारतीय संस्कृति एक विशाल छायादार वक्ष है जो अपनी शाखाओं को काटने वाले को शीतल छाया प्रदान करती है। निःसन्देह हिन्दू व्यवस्था ने मुस्लिम समाज एवं संस्कृति को प्रभावित किया।

इस्लामी सामाजिक व्यवस्था की विशेषता में समानता रही है। परन्तु भारतीय वातावरण में उनमें भी असमानता तथा ऊँच–नीच की भावनाओं का समावेश हुआ। कुछ समय के बाद मुस्लिम समाज में अरब, फारसी, तुर्क, अफगान, उजवेग तथा धर्म परिवर्तित मुसलमानों के अनेक वर्ग बन गए। इस प्रकार मुस्लिम सामाजिक संगठन पर हिन्दू प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है परन्तु हिन्दू समाज जैसी सढ़िवादिता तथा संकुचित दष्टिकोण का समावेश नहीं हो पाया। परन्तु उनमें भी जन्म, सम्प्रदाय,

नस्ल आदि के आधार पर व्यवहारिक जगत में अनेक भेद उत्पन्न हो गए थे। परन्तु यह सब भेद केवल परम्परागत थे न कि शरीयत के अनुसार। फलतः मुसलमानों का आपसी भेदभाव कभी उस कोटि का नहीं हुआ जिस कोटि की हिन्दू जाति प्रथा थी। प्रायः सभी मुसलमान एक दूसरे के साथ हुक्के–पानी का सम्बन्ध रख सकते थे व किसी के भी साथ विवाह कर सकते थे। मूल धर्म की शिक्षाओं के कारण इनमें प्रतिबन्ध नहीं था यद्यपि व्यवहार में ऊँच–नीच की भावना आ गई।

समकालीन शासकों के नीति–निर्धारण पर हिन्दू प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। अलाऊदीन खिलजी पर मलिक काफूर तथा कुतुबुदीन मुबारक शाह खिलजी पर नासिरूद्दीन खुसरों का प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार मुगल शासनकाल में राजा भारमल, राजा मानसिंह, राजा भगवानदास, बीरबल व तानसेन ने अकबर की नीतियों को विशेष प्रभावित किया। इन लोगों के प्रभाव के कारण मुसलमान शासकों के हृदय में हिन्दू प्रजा के प्रति उदारवादी दष्टिकोण का विकास हुआ।

मुस्लिम शासकों ने अनेक हिन्दू राजकुमारियों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। अलाऊद्दीन खिलजी ने कर्ण बछेला की पत्नी कमलादेवी से स्वयं तथा उसकी पुत्री देवलरानी की शादी खिज्र खाँ से कर दी। इसी प्रकार अकबर ने भारमाल की पुत्री जोधाबाई से विवाह किया उसने बीकानेर तथा जैसलमेर के शासक राव कल्याणमल की पुत्री से भी वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। इन राजपूत राजकुमारियों ने अपने आचार–व्यवहार रीति–रिवाज तथा धार्मिक विचार से इस्लाम प्रभावित राजमहल के वातावरण को परिवर्तित किया। अकबर ने तो राजपूत रानियों के लिए आगरा के किले के जहाँगीरो महल में पूजा–पाठ, हवन, यादि की पूर्ण व्यवस्था की मध्ययुगीन समाज पर हिन्दू शासक वर्ग तथा हिन्दू रानियों का प्रभाव निःसंदेह पड़ा है।

इस प्रकार दशान्तरवासियों की देश की भूमि में जड़ जम गयी जो कस्बों में बस गये थे, जिन्हें प्रायः स्वयं उन्होंने आबाद किया था। अब वे अजनबी न रहे थे। उधर मूल निवासी हिन्दुओं का पहले जैसा आक्रोश अब शेष नही रह गया था। उन हिन्दुओं से, जो पड़ोस के ग्रामों कसबों में रहते थे, वे सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। जैसे–जैसे समय बीतता गया देशान्तरवासियों के वंशज हिन्दुस्तान को अपनी जन्म–भूमि (या घर) समझने लगे। अब हिन्दू–मुस्लिम समाज की एकता की आधारशिला प्रारम्भ हुई।

अमीर खुसरो (1253-1325) हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति के एक प्रधान प्रतिनिधि थे, जो एक महान् कवि, साहित्यिक और सूफी सन्त थे। अमीर खुसरों ने हिन्दुस्तान के वर्णन से भारतीय इस्लाम के विकास का सही रूप में समझा जा सकता है। तुर्की खानदान के एक परिवार से उनका रक्त सम्बन्ध था, जो आधुनिक उत्तर प्रदेश के ऐटा जिले में स्थित पटियाली में बस गया था। सजीवता, चंचलता आदि गुणों से सम्पन्न व्यक्ति होने के कारण उन्होंने एक दरबारी का जीवन अंगीकृत किया था तथा आधी शताब्दी के लगभग उन्होंने राजवंशों के उत्थान और पतनों को परिणामस्वरूप स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले परिवर्तनों एवं चिन्हों को देखा था। वे शेख निजामुद्दीन औलिया के शिष्य बन गये जो उनसे बहुत प्रेम करते थे तथा जिन्होंने उन्हें 'तुर्काल्ला की उपाधि दी। कहा जाता है कि शेख ने कहा : "मैं यह आशा करता हूँ कि कयामत के दिन इस तुर्क के हृदय में प्रज्वलित अग्नि के द्वारा मेरे समस्त अपराध लुप्त हो जायेंगे''।

खुसरों एक व्यापक सहानुभूतियों के व्यक्ति थे। फारसी तथा भाषा दोनों को खूब जानते थे। अपनी 'नूह सिपहर (नौ आकश) नामक एक फारसी मसनवी में उन्होंने उस जीवन का चित्रणा किया है जिससे वे भली प्रकार परिचित थे, जैसे–भारत की जलवायु, पुष्प, पक्षी और पशु–विज्ञान, धार्मिक–विश्वास और उसकी भाषाएँ आदि। दूसरे देशों पर भारत की श्रेष्ठता को सिद्ध करने

का उन्होंने प्रयत्न किया है। वे कहते हैं, ''कोई भी मुझसे यह पूछ सकता है कि भारत के लिए यह जोश और प्रशंसा क्यों है? यह इसलिये है कि हिन्दुस्तान मेरी जन्म–भूमि है, मेरा अपना देश है। ईश्वरदूत हजरत मुहम्मद साहब ने कहा : अपने देश से प्रेम करना धर्म–विश्वास का एक अंग है। चूँकि यह मेरा देश है, अतः अपने द्वारा निर्धारित प्रतिबन्धों के अन्तर्गत मैं उसके बारे में कहने जा रहा हूँ।"

खुसरों अदन उपवन के तुल्य हिन्दुस्तान को समझते हुए उसका वर्णन आरंभ करते हैं जहाँ अपने पतन से पहले आदम वास करते थे। तदुपरांत वे उसकी भूमि की परिपूर्णता और उपजाऊन, उसकी जलवायु की समशीतोष्णता और यहाँ के स्वर्गीय पक्षी मयूरों की उपस्थिति का वर्णान करते हैं। मनुष्य के हृदय को आनंदित करने के लिए यहाँ सालभर रहने वाले पुष्प पाये जाते हैं, जबकि फारस और तुर्किस्तान में उनका जीवन केवल 2 या 3 महीने में ही समाप्त हो जाता है। भारत के फूलों में मधुर गंध होती है जबकि शीत जलवायु होने के कारण फारस और तुर्किस्तान के पुष्पों में सुगन्धित नहीं होती। इस भूमि में अनुमान से परे बड़ी मात्रा में बुद्धिमता और विचार निहित हैं। यूनान अपने दर्शन–शास्त्र के लिए प्रसिद्ध था; किन्तु हिन्दुस्तान को भी उसी के समान प्रसिद्धि प्राप्त है। तर्क–शास्त्र, नक्षत्र–विद्या, भौतिक–विद्या गणित–विद्या, और ज्योतिष–विद्या सबका यहाँ अध्ययन होता है। हिन्दू लोग ईश्वर के एकत्व और उसकी अनन्तता, शून्यता से उसके अस्तित्व पर विश्वास रखते हैं और इसलिए वे द्वैतवादियों एवं संबियन अथवा मुशाबीह लोगों से उत्तम है (जो ईश्वर को आविर्भूत पदार्थों के समान समझते हैं)। निःसंदेह वे पत्थरों, पौधों और सूर्य की पूजा करते हैं, परन्तु वे इस बात को मानते हैं कि ये वस्तुएँ ईश्वर द्वारा पैदा की हुई हैं और उनकी वे केवल इसलिए पूजा करते हैं कि उनके पूर्वज ऐसा करते थे।

भारत की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए अमीर खुसरों निम्नांकित तर्क प्रस्तुत करते हैं :

1. ज्ञान और विज्ञान लोगों में सार्वजनिक रूप से दूर–दूर तक फैला हुआ है।
2. वे शुद्ध रूप से संसार की समस्त भाषाएँ बोल सकते हैं।
3. भारत में शिक्षा–ग्रहण करने के लिए समय–समय पर विश्व के अन्यान्य देशों से छात्र आते रहे हैं, किन्तु किसी भी भारतीय छात्र को ज्ञान की खोज के लिए विदेश जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। उदाहरणार्थ 9वीं शताब्दी का एक प्रसिद्ध अरब–ज्योतिविंदू अबू मआशर भारत आया और हिन्दू विद्वानों से बनारस में ज्योतिष–विद्या का ज्ञान प्राप्त किया, जहाँ वह 10 वर्ष तक रहा।
4. संख्यात्मक पद्धति, विशेषतया बिन्दु–चिन्ह का भारत में जन्म हुआ। वास्तव में 'हिन्दू' (भारत) और 'असां जो एक विख्यात भारतीय गणित–शास्त्री थे, दोनों के मिलन से 'हिंदसा' शब्द बन गया।
5. बुद्धिमत्ता के अद्‌भुत ग्रन्थ, 'कलीला–व–दमना' का हिन्दुस्तान में संकलन हुआ और फारसी, तुर्की, ताजी (अरबी) और दारी में अनूदित किये जाने के कारण सारे संसार में उसे प्रसिद्धि प्राप्त हुई।
6. इसी प्रकार शतरंज का खेल भी भारत में ही आविष्कृत हुआ। इस खेल की सूक्ष्म और जटिल पद्धति पर मुश्किल से कोई निपुण हो पाया है। मनोविनोद से सम्बन्धित खेलों में इस खेल को विशेष स्थान प्राप्त है।
7. भारतीय संगीत, जो अग्नि के समान है और जो आत्मा और हृदय को उद्वेलित कर देता है, दूसरे हर देश के संगीत से उच्चतम कोटि पर है। कोई भी विदेशी, चाहे वह वर्षों

तक भारत में रहा हो, उसके सिद्धान्तों को भली प्रकार से ग्रहण करने तथा उसके एक स्वर को शुद्ध रूप से बजाने में अयोग्य रहा है।

8. इस संगीत में न केवल मानव–जाति के लिए एक विशेष माधुर्य है, अपितु पशुओं के लिए भी ! केवल संगीत के द्वारा ही मग को वशीभूत करके पकड़ा जाता है।

9. महान बादशाह का एक तुच्छ और दीन स्तुति–गायक होते हुए भी खुसरो की भांति कोई जादूगर किसी अन्य भूमि में उत्पन्न नहीं हुआ है।

तत्पश्चात् **खुसरों** तोतों, नीलकंठों और अन्य बोलनेवाले पक्षियों का, जिन्हें आश्चर्यचकित करने वाले कौतुकों को प्रदर्शित करने का अभ्यास भी कराया गया है, संगीत पर दुलकी चलनेवाले घोड़ों का, संतुलित–कार्य करने वाले बकरों का और आदमी जैसे बन्दरों का जो एक सिक्के से दूसरे का अन्तर जान सकते हैं, वर्णान करते हैं। (नूर सिपहर)

खुसरों दैनिक जीवन के सुपरिचित दश्यों की दिल खोकलकर प्रशंसा करते मालूम पड़ते हैं। जिससे स्पष्ट रूप से यह विदित होता है कि उसकी पहुँच एक शुद्ध देश–भक्ति की तरह थी। जो अपनी मातभूमि एवं उसके जीवन और वातावरण से प्रेम करता है।

अपनी 'मसनवी **'देवल रानी खिज्र खाँ'** में कहते हैं कि यदि उन्होंने भारत की सराहना की तो उन्हें एक पक्षपाती नहीं समझना चाहिए। वे बसरा की उस लोक प्रसिद्ध अंधी औरत की भाँति नहीं थे जिसने केवल प्रादेशिकता से प्रेरित होकर बसरा को सीरिया से श्रेष्ठता दी थी। उनके विचारानुसार पथ्वी पर हिन्दुस्तान एक स्वर्ग है, इसी कारण स्वर्ग से ही आदम और मयूर यहाँ उतरे। तदुपरांत वे हिन्दुस्तानी पुष्पों का गुण–गान करते हैं, यह बखान सारे का सारा सच्चा है। प्रत्येक पुष्प के गुणों का विवरण देते हुए वे बेला, जूही, केवड़ा, चम्पा, मौलसिरी, दूना, कनेर और सेवती के नाम प्रस्तुत करते हैं। इसके बाद वे कहते हैं "जिस प्रकार हिन्दुस्तान के पुष्प दूसरे देशों के फूलों से उत्तम हैं, उसी रूप से इस देश का सौंदर्य भी अनुपम है।" भारत के सौंदर्य के लिए कोई भी यह कह सकता है कि चीन जैसे सैकड़ों देश इसके केशों में से एक बाल के मूल्य के बराबर भी नहीं हैं। 'यूगमा' और खुल्लुख के सौंदर्य की उनसे तुलना नहीं की जा सकती; क्योंकि वे तीक्ष्ण दष्टि और कटु–सुंदरतावाले है। खुरासान की सुन्दरताएँ श्वेत और लाल हो सकती है; परन्तु अपने देश के पुष्पों की भांति वे सुगन्धपूर्ण नहीं है। जहाँ तक रूस और तुर्की के सौंदर्य का सम्बन्ध है, उनमें कोमलता और दीनता का अभाव है। वे बर्फ के ढेरों के समान श्वेत और ठंडे है। जिससे नरक तक भयातुर हो जाएगा। तातार के सौंदर्य के होठों में मुस्कान नहीं होती और खोतन की सुन्दरता में नमक की कमी है। जहाँ तक समरकन्द और कन्धार के सौन्दर्य का प्रश्न है उनमें मिठास नहीं है। हिन्दुस्तान की सुन्दरता की तुलना में तुर्की और मिस्त्र की चमेली जैसे शरीरवाली सुन्दरताओं में शिष्टता और चपलता का नित्तांत अभाव है। (देवल रानी खिज्र खाँ)।

उसी मसनवी में वे तांबूल के प्रयोग की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि फारस–वासी इतने मूर्ख है कि **तांबूल**–पत्र और घास के बीच भेद करने में असमर्थ हैं। उसको जानने के लिए स्वाद की आवश्यकता है। अपनी दूसरी मसनवी **'किरानुससादैन'** में **खुसरों** कहते हैं कि तांबूल भारत के आनन्दों में से एक है, क्योंकि यह एक मुँह की दुर्गंध को दूर करता है और कमजोर दाँतों को मजबूत करता है। वे उनमें भूख पैदा करते हैं, जिनको भूख नहीं लगती और यदि किसी को भुख लग रही होती है तो ये उसे कम कर देते हैं। **'देवल रानी खिज्र खाँ'** में **खुसरों** हिन्दुस्तान के कपड़ों की प्रशंसा करते हैं, जिनके अनुरूप किसी दूसरे स्थान पर नहीं मिलते थे। इस प्रसंग

में वे 'देवगिरि' का उल्लेख करते हैं। बड़ी हद तक जो अच्छे प्रकार का एक कपड़ा होता था और दक्षिण में स्थित देवगिरि में बनाया जाता था। वे काव्य–शैली में इसका वर्णन करते हैं, 'अप्सरा की भांति सुन्दरताएँ यह जानती' हैं कि हरी मलमल (कटन) से कहीं अधिक 'देवगिरि' उनके स्वाद के अनुकूल है। उसकी कोमलता और सुन्दरता की तुलना सूर्य के प्रकाश अथवा परछाई अथवा परछाई अथवा चन्द्रमा से की जा सकती है।'

खुसरो एक धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे, परन्तु कट्टर–पंथी नहीं। दूसरे धर्मावलंबियों के प्रति सहिष्णुता उनके चरित्र का एक प्रमुख गुण था। अपने धर्म के प्रति हिन्दुओं की भक्ति और उनके अनुराग की वे भूरि–भूरि प्रशंसा करते है। तथा उसी प्रकार अपने धर्म के प्रति भक्ति रखने के लिए मुसलमानों से वे अनुरोध करते हैं। जब उन्होंने हिन्दुओं को एक नारी को स्वेच्छा से अपने पति के लिए और एक व्यक्ति को अपनी देव मूर्ति के लिए भक्ति के कारण– प्राण बलिदान करते देखा तो वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने इसे इस्लाम–धर्म के सिद्धान्तों के प्रतिकूल समझा; परन्तु उन्होंने कहा, 'देखो, यह कितना उत्तम है।" (नूह सिपहर)

'हश्त–बहिश्त में एक हिन्दू और एक मुस्लिम तीर्थ–यात्री की कहानी का वे इन शब्दों में वर्णन करते हैं :' 'मक्का जाते हुए एक मुस्लिम हाजी की भेंट सोमनाथ जाने वाले एक तीर्थ–यात्री से हुई। अपनी भक्ति की अधिकता के कारण वह ब्राह्मण अपनी छाती के बल चलकर फासला तय कर रहा था और मार्ग के पत्थरों ने उसकी छाती की खाल को छिन्न–भिन्न कर दिया था। 'कहाँ जा रहे हो मित्र? – हाजी ने पूछा! मैं कई वर्षों से इसी तरह यात्रा कर रहा हूँ – ब्राह्मण ने प्रत्युत्तर में कहा। 'किन्तु ईश्वर ने चलने के लिए तुम्हें दो पैर दिये हैं, उनसे चलने के बजाय तुम अपनी छाती के बल क्यों घिसट रहे हो?' ब्राह्मण ने उत्तर में कहा – 'जिस दिन से अपना जीवन मैंने अपनी देवमूर्ति को समर्पित कर दिया है, उसी दिन से मैंने उसकी ओर छाती के बल चलना आरम्भ कर दिया है। और तुमको जो हिन्दुओं पर उनके मूर्तिपूजक होने का ताना मारते हो' उनके विश्वास की दढ़ता का पाठ लेने के लिए झुकना चाहिए। यह मान लिया कि मूर्तिभंजकों का तीर गलत निशाने से छोड़ा गया; परन्तु उस निशाने की ओर यह सीधा बढ़ रहा है। उस एक व्यक्ति की कितनी अधिक करूणाजनक स्थिति है, जो एक जीवन के उद्देश्य को जानते हुए, फिर भी एक गलत दिशा में तीर छोड़ता है। सीधे जाते हुए एक तीर की भाँति तुम अपने मार्ग पर जाओ।' हे मेरे स्वामी ताकि लोग उचित रूप से तुम्हें ईश्वर का यौद्धा कह सकें।"

खुसरों में सश्लिष्टता के लिए एक महान् विलक्षण बुद्धि थी। वे पहले हिन्दुस्तानी मुसलमान थे जिन्होंने फारस और हिन्दुस्तानी संगीतस्वरों को आपस में मिलाने का विचार किया और इस प्रकार हिन्दुस्तानी संगती को श्रीसम्पन्न बना दिया। **ध्रुपद** के अतिरिक्त ख्याल **संगीत** को रूप देने का उन्हें श्रेय प्राप्त है। कहा जाता है कि खुसरों ने निम्न रागों का आविष्कार किया जो नवीन हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति को प्रस्तुत करते हैं : मूजिर, सज्गारी, एमान, उरशाक, मुवाफिक, गजन, जिलफ, फर्गाना), सर्पदा, बखार्च, कौल, तराना, ख्याल, निगार, बसित, शाहना और सुहेला। खुसरों ने, प्राचीन भारतीय वीणा और इरानी 'तम्बूरे' के मेल में **'सितार'** का आविष्कार भी किया। कहा जाता है कि उन्होंने पुराने **मदंग का रूप-परिवर्तित किया और उसे 'तबले'** का रूप दिया। उनके द्वारा हिन्दुस्तानी कण्ठ और वाद्य–यंत्र संगीत में किये गये रूपाँतरों का ठीक–ठीक निश्चित करना संभव नहीं है परन्तु इतना तो निश्चित है कि उन्होंने कुछ परिवर्तन अवश्य किये, जो संश्लिष्ट संस्कृति की नवीन आत्मा के अनुकूल थे। यह हिन्दू–धर्म पर इस्लाम का प्रभाव था।

संगीत में, आत्मा की भाषा होने के कारण, खुसरों द्वारा किये गये रूपाँतरों का बहुत गहरा सामाजिक परिणाम निकला, जिसने दो विभिन्न धर्मों के लोगों को एक कर दिया। उत्सवों, नाचों ओर खेलों के साथ–साथ संगीत का हर युग में सामाजिक एकता स्थापित करने में एक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। तुर्की–अफगान युग में और बाद को मुगल–काल के इतिहास में मुस्लिम संगीतकार इस सुन्दर कला में सदैव अग्रणी रहे हैं।

लगभग समस्त मुगल–नरेश संगीत–प्रेमी थे। अकबर एक दक्ष संगीतकार था और नक्कारा बजाने की ओर उसकी बहुत अभिरूचि थी। **अबुलफजल** लिखता है : "सम्राट् संगीत की ओर बहुत ध्यान देते हैं और उन सभी लोगों को आश्रय देते हैं, जो इस आनन्ददायक कला में चतुर हैं।" तानसेन उस युग का सर्वोच्च संगीतकार था। और **अबुलफजल** के मतानुसार, "वह एक ऐसा संगीतज्ञ था, जिसके समान हिन्दुस्तान में पिछले एक हजार वर्ष से कोई दूसरा संगीतज्ञ नहीं हुआ था।" वह मुसलमान हो गया था और सम्राट् के बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया। अमीर खुसरों द्वारा हिन्दुस्तनी संगीत–कला–क्षेत्र में प्रारम्भ किये गये कार्य को तानसेन ने पूरा किया। वह हिन्दू और ईरानी परिपाटियों के समन्वय में सफल हुआ। क्लासिकल रागों के बजाय उसने हल्के संगीत का प्रचार किया, जिस प्रकार अमीर खुसरों ने 'कव्वाली' को प्रचलित किया था। उसकी लोक–प्रियता का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि उसके द्वारा आविष्कृत गीत भारत के लोग हर स्थान पर गाते थे। (आईन–ए–अकबरी)

एक माध्यम के रूप में संगीत छोटे–बड़े सभी को मान्य है। विशेषतया भारतीय सामंत संगीत के उतने ही प्रेमी थे जितने के निम्न श्रेणी के लोग। **अमीर खुसरों** और **तानसेन** द्वारा आविष्कृत राग विशेष रूप से उत्तरी भारत में लोगों के संगीत के आधार बन गये।

संगीत–सभाएँ हिन्दू–मुस्लिम दोनों को एक दूसरे के निकट लेगयीं और इससे उन दोनों के बीच स्थित सामाजिक खाई पर पुल बनाने में बड़ी सुविधा हुई। संगीत–सभाओं के अतिरिक्त साधारण खेलों, मनोविनोदों और उत्सवों ने दो भिन्न धर्मों के उपासकों के बीच पथकता के खिंचाव को दूर कर दिया।

नये वातावरण में मुसलमानों की प्रथाओं में भी परिवर्तन किये गये। कुछ नये उत्सव, जैसे – शबरात, सारे देश में मनायी जाने लगी। बहुत संभव है कि यह उत्सव हिन्दुओं के शिवरात्रि के उत्साव की नकल थी। और आतिशबाजी दोनों में समान रूप से है। इसी प्रकार मुहर्रम के महीने में ताजियेदारी ने (करबला के शहीदों की समाधियों के छोटे आकार) एक औपचारिक रूप धारण कर लिया। उनमें और हिन्दुओं के जगन्नाथ की गाड़ी और श्रीकृष्णलीला के उत्सव में एक आश्चर्यजनक साम्य पाया जाता है। अन्य किसी मुस्लिम देश में ताजिये नहीं पाये जाते। मुगल और तुर्क–अफगान शासकों के युग में सरकारी उत्सव कम व ज्यादा समान ही रूप में मनाये जाते थे तथा समकालीन हिन्दू राजाओं के यहाँ भी मंडप खड़े किये जाते थे और कसीदाकारी एवं कढ़े हुए कपड़ों से उन्हें सुसज्जित किया जाता था। बहुमूल्य कालीनें बिछायी जाती थीं और रोशनी एवं सजावट के लिए मेहराबों पर बड़े–बेड़ झाड़–फानूस लटकाये जाते थे। नर्तकियाँ और गायक श्रोताओं का आनन्दित करने तथा आगंतुकों को मीठे शर्बत और पान पेश किये जाते थे। कभी–कभी बाजीगर, पहलवान और दूसरे तमाशे दिखाने वाले अपनी कला–कौशल एवं पराक्रम का प्रदर्शन करते थे।

यद्यपि हिन्दू–मुस्लिम के बीच संपर्क स्थापित करने के अनेक उच्च एवं निम्न स्तरों के अवसर थे तथापि उनकी जीवन–धाराएँ अलग–अलग प्रवाहित थीं।

मुसलमानों द्वारा अपनाए गए भारतीय रीति-रिवाज एवं शिष्टाचार

मुस्लिम समुदाय जो अन्यथा सादा था, समय की गति के साथ भारतीय विशेषताएँ ग्रहण करने पर सजीव तथा सरस बन गया। **फरिश्ता** लिखता है कि अपने परिवार के सम्मान को बचाने के अन्तिम रूप के तौर पर मुसलमान प्रायः हिन्दुओं की जौहर रीति का अनुसरण करते थे। एक अवसर पर **बहारिस्तान-इ-गैबी** के लेखक **मिरजा नाथन** ने सआदात खान को निम्नलिखित निर्देश दिया :

"तुम महल (हरम) के द्वार पर ठहरोगे। ज्योंही तुम युद्ध में मेरे बलिदान का समाचार सुनोगें, महल के छोटे बड़े सभी निवासियों के साथ तुम जौहर की रीति निभाओंगे, और अत्यन्त गर्व के साथ स्वर्गयागा को पाधारोगे।" लेखक लिखता है कि "राजपूतों की तरह ही वे युद्ध में विजय की असंदिग्धता पर कूच करने के पूर्व अपनी स्त्रियों व बच्चों को मार डालते थे। किसी व्यक्ति के मरने से पूर्व बिस्तरे से निकाल लेने की प्रथा भी मुसलमानों में प्रचलित थी। **मिरात-ए-सिकन्दरी** के अनुसार अपनी हिन्दू बहनों की तरह ही मुस्लिम स्त्रियाँ भी अपने पति की मत्यु हो जाने पर कुछ महीने तक रंगदार कपड़े नहीं पहनती थी। **अकबरनामा** से पता चलता है कि किसी निकट संबंधी की मत्यु पर सिर दाढ़ी और मूँछ मुडवाने की प्रथा अकबर ने शुरू की थी और मुसलमानों में कुछ सीमा तक यह प्रचलित भी हो गई। **बर्नियर** बताता है कि जाति प्रथा और वर्ग चेतना की मुस्लिम समुदाय में जेड़ पकड गई।

औरंगजेब के यत्नों के होते हुए भी मुसलमानों ने हिन्दू समाज की मुख्य विशेषताओं को ग्रहण कर लिया। उसने अपने बेटे अजीम–उस–शान, जिसने होली के अवसर पर भारतीय रीति के अनुसार वस्त्र पहने थे, को व्यग्यपूर्ण लिखा : ''तुम्हारे सिर पर जोगिया रंग की टोपी है, कंधे पर एक लाल रंग का कपड़ा है, तुम्हारी आयु 46 वर्ष की होने जा रही है, तुम्हारी दाढ़ी और मूँछ के क्या कहने।''

सुल्तान अलाऊद्दीन खिलजी के समय से ही हिन्दी ने मुस्लिम जीवन में अपना स्थान प्राप्त कर लिया था। ईश भजन भारतीय रीति के अनुसार ही रचे जाते थे। सूफी लोग हिन्दी में ही भक्तिगीत गाते थे और भाव विभोर हो जाते थे। शेख **तकीउद्दीन वाइज** एक मसनवी के कुछ पद्यों को हिन्दी में गाकर सुनाते थे और लोग उन्हें सुनकर अत्यन्त प्रभावित होते थे। जब उनसे हिन्दी भसनवी चयन करने का कारण पूछा गया तो उन्होंने उत्तर दियाः 'यह सब चिरतंन सत्य है और इसका विषय सुखद है तथा निष्ठावान प्रेमियों को भाव विभोर कर देता है और कुरान की कुछ आयतों की व्याख्या के अनुकूल है। इसके अलावा जनसाधारण इसे सुनकर प्रेम से विभोर हो जाते हैं।' इस संस्कृतिक संपर्क का एक महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि जनता की एक सामान्य भाषा जिसे खड़ी बोली (हिन्दुस्तानी) कहते थे, विकसित हो गई। समकालीन स्त्रोतों से पता चलता है कि मुस्लिम लोग भारतीय संगीत की ओर आकर्षित हुए और इसे खूब विकसित किया। **मआसिर–इ–आलमगीरी** से पता चलता है कि औरंगजेब के मन में भी संगीत के प्रति आकर्षण था किन्तु इस्लाम धर्म की अपेक्षा के अनुसार उसने इसे सुनना छोड़ दिया।

संगीत मनोरंजन का लोकप्रिय साधन था, जिसमें हिन्दू–मुसलमान सभी भाग लेते थे। यद्यपि इस्लाम में संगीत के निषेध के कारण रूढ़िवादी मुसलमान इसका विरोध करते थे, तथपि मुस्लिम समाज का अधिकांश भाग संगीत से मनोरंजन करता था। संभवतः यह ईरानी हिन्दुस्तानी प्रभाव का परिणाम था। **अमीर खुसरों** का कहना है कि ''हिन्दुस्तानी संगीत एक ऐसी आग है जो मन तथा आत्मा के बोझ को हल्का करता है और उसका उत्तर किसी भी देश के संगीत से उच्चतर है। कोई भी विदेशी, जो चाहे कितने अरसे से भारत में रहा हो, इसके सिद्धान्तों को पूरी तरह हृदयगम

नहीं कर सकता यहाँ तक कि किसी एक राग को भी अच्छी तरह गा नहीं सकता।" इसी काल में हिन्दू–मुस्लिम सम्पर्क से हिन्दुस्तानी संगीत को नई दिशा मिली। **अमीर खुसरों** ने इस देश में **कव्वाली** की पहली बार शुरूआत की। इसके अतिरिक्त कई नए राग व नए वाद्ययंत्रों का आरम्भ भी कराया जैसे — चंग, डफ, तंबूरा, शहनाई, बतीरा आदि। इस काल के सूफी सन्तों की संगीत में रूचि बढ़ी व उनकी संगीत गोष्ठियाँ (सभा) कहलाई। शर्की सुल्तान ने जिस संगीत शैली की शुरूआत की, उसे **ख्याल** कहा जाता था। मुगल बादशाहों में अकबर ने संगीत को विशेष प्रश्रय दिया उसके दरबार में अनेक संगीतकार थे।

मुस्लिम समाज के निचले वर्ग के लोग इस्लाम से बाहर भी कई हिन्दू संतों द्वारा स्थापित संप्रदायों में सम्मिलित हो गए। इन सम्प्रदायों में से एक महत्त्वपूर्ण समूह था जिसके सदस्यों को वैरागी कहते थे। वे संसार को त्याग कर विष्णु और राम तथा कृष्ण जैसे अन्य देवताओं की पूजा करते थे। वे अपने गले में तुलसी की माला पहनते थे। इस समूह में हिन्दू और मुस्लिम दोनों सम्मिलित हो सकते थे। उनका विचार था कि बिस्मिल्लाह का अर्थ विष्णु है इसलिए मुसलमान भी अप्रत्यक्ष रूप से उसकी पूजा करते हैं। अद्वैतवादी कबीर भी एक वैरागी था। वैरागी सन्यासियों की तरह संसार से भागने में विश्वास नहीं रखते थे। उनके मतानुसार विष्णु का जाप करने से ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती थी। वे वेदों और कुरान के मार्ग से अपने मार्ग को पथक समझते थे और हिन्दु तथा इस्लाम धर्म से अपना कोई संबंध नहीं समझते थे। मुसलमानों की बहुसंख्या इसमें सम्मिलित हो गई और **दबिस्तान** के लेखक के अनुसार मिरज़ा हैदर व मिरज़ा सालेह जैसे सरीखे विशिष्ट व्याक्त भी वैरागी बन गए।

वैष्णव सम्प्रदाय भी मुसलमानों में बहुत लोकप्रिय था। वे किसी जीव को दुख नहीं देते थे और किसी भी दूसरे धर्म हिन्दू अथवा इस्लाम से सम्पर्क नहीं रखते थे। वे दिन में पाँच बार पूर्व की और मुँह करके प्रार्थना करते थे और ईश्वर का, सभी देवताओं तथा पैगम्बरों का नाम जपते थे। वे म्रतकों को दफनाते थे और यथासम्भव दूसरों का भला करते थे। **तुजुक** से ज्ञात होता है कि सिक्ख धर्म के संस्थापक गुरूनानक के भी कई मुसलमान अनुयायी बन गए थे।

ताराचन्द ने सूफीमत के उद्भव में हिन्दुत्व की भूमिका का उल्लेख किया है। वेदान्त के मोक्ष के आधार पर सूफियों ने **फान** की कल्पना निकाली। इसी प्रकार सूफीमत ने भारतीय योग के **ध्यान** के **मराकबा** कहकर अपनाया तथा भारतीय योगियों के **चमत्कार** ही सूफियों के यहाँ **करामात** या **मोज़जा** कहलाने लगे। सूफीमत में स्वच्छता, पवित्रता, सत्य और अपरिग्रह पर जो इतना जोर है और उनमें माला फेरने की जो प्रथा है, उन सब के पीछे शुद्ध भारतीय संस्कार का ही प्रभाव माना जा सकता है। सूफीमत प्रारम्भ में मद्धिम था, परन्तु कालान्तर में वह हिन्दू धर्म के प्रभाव के कारण निर्भीक हो गया। मंसूर हल्लाज (922 ई॰) **अनहलक** (मैं ही सत्य हूँ) पुकारने के अपराध में फाँसी पर चढ़ गए और यह प्रमाणित है कि वे योग सीखने भारत आए थे।

सूफियों की विचारधारा में कितने ही ऐसे सिद्धान्त है, जिनका साभ्य अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि के साथ है, तथापि पूरी छानीबन करने पर, यह सहज़ ही देखा जा सकता है कि ये मत वेदान्त के विभिन्न मतवादों से प्रभावित तो है लेकिन वे उनकी नकलमात्र नहीं है। बहदत–उल–वजूद के सिद्धान्त को मानने वाले यह कहते हैं कि सम्पूर्ण सष्टि का उद्गभ एक ही है और वह उसी में लय हो जाती है। सूफियों का यह कहना कि वास्तव में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही आत्मा है, जो विभिन्न पदार्थों और जीवों के रूप में अभिव्यक्त होता है। यह उपनिषद् के मंत्र से तुलनीय है।

सूफीगत में परम कल्याण (खैर–महज) का विचार रामानुजाचार्य के मत से साभ्य रखता है। भारतीय गुरूवाद से सूफीमत अत्यन्त प्रभावित है। साधना के क्षेत्र में गुरू का जो स्थान सूफियों में परिलक्षित होता है, वह इस्लाम धर्म में नहीं है। **हिट्टी** के अनुसार इस्लाम पूर्व अरब में भी इस प्रकार की कोई वस्तु नहीं है।

सूफी विशेषकर चिश्ती संत मुक्त रूप से हिन्दू योगियों से मिलते–जुलते थे एवं विभिन्न विषयों पर, विशेषकर, योगाभ्यासों पर, उनसे बातचीत करते थे। वे हिन्दू धर्म की शक्ति से पूर्णतः अवगत थे। निजामुद्दीन औलिया ने अपने मित्र अमीर खुसरो के साथ एक बार हिन्दुओं के एक समूह को पूजा करते हुए देखा। उनके भक्तिभास से अत्यन्त प्रभावित होकर औलिया ने खुसरों को कहा – 'हरेक सुमदाय का अपना मार्ग और धर्म होता है, एवं अपनी अलग पूजा पद्धति होती है।' सूफी संतों का कहना था कि जो लोग हिन्दुओं की मूर्ति पूजा का उपहास करते हैं वे उससे यह भी सींखें कि पूजा कैसे होती हैं। चिशितियों ने कुछ हिन्दू प्रथाओं, जैसे शेख के सामने नतमस्तक होना, आंगुतकों को पानी पेश करना, सूफी सिलसिले के नए सदस्य का मुंडन करना आदि को अपना लिया था। इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि सूफियों ने भारतवर्ष में ही प्राणायाम आदि क्रियाओं को सीखा। **के. ए. निजामी** के अनुसार भारत में चिश्तिया सम्प्रदाय ने अपने प्रारम्भिक स्तर के विकास में हिन्दुओं के कई प्रथाओं एवं उत्सवों को अपनाया। मुस्लिम विद्वानों ने हिन्दू योग, वेदांत तथा ज्योतिष का भी अध्ययन किया।

राजनीति, कला तथा संस्कृति के क्षेत्र में हिन्दू रानियों तथा राजकुमारियों ने महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया है। देवलरानी, पद्मावती आदि स्त्रियों ने संस्कृत के क्षेत्र में अमूतपूर्व ख्याति प्राप्त की। गोंडवाना की रानी दुर्गावती तथा मेवाड़ की महारानी कर्णवती की राजनीतिक भूमिका सराहनीय है। **अशरफ** का विचार है किं हिन्दू समाज में हिन्दू स्त्रियों की स्वतन्त्रता ने सुल्तान रजिया को पर्दा–त्याग कर राजनीति में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया। नूरजहाँ व चाँद बीबी ने राजनीति में खुलकर भाग लिया। **गुलबदन बेगम** के अनुसार हुमायूं के राजमहल की स्त्रियाँ पुरूषों से निःसकोच मिलती थी। सम्भवतः यह हिन्दू समाज के प्रभाव की देन है। **अशरफ** का मानना है कि मुगल काल की स्त्रियाँ अपने हित के प्रति सदैव सचेत रही हैं। सम्भवतः इसी कारण हमीदा बानू बेगम ने सम्राट् हुमायूँ के प्रस्ताव का विरोध किया था।

बहुमूल्य राजसी वस्त्र, रत्नजड़ित चमकती हुई तलवारें, बहुरंगी छग, दूरवास, बहुमूल्य आवरण से सुसज्जित हाथियों को रखने की परम्परा मुस्लिम शासकों ने राजपूत शासकों से सीखी थी। भारतीय सभ्यता के प्रतीक पान, सुपारी का प्रयोग मुसलमान शासक खुलकर करते थे। उनके खाद्य पदार्थ पुलाव तथा कुर्मा का स्वरूप भारतीय बन चुका था।

इसी प्रकार चीर तथा पाग का प्रयोग मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं से सीखा था। अँगूठी, कान की बाली, गले की जंजीर तथा अन्य आभूषणों को मुसलमानों ने हिन्दू समाज से अपनाया था। मुस्लिम समाज में हिन्दुओं के प्रभाव के कारण रेशमी तथा ज़री वाले वर्गों का प्रयोग मुसलमानों ने प्रारम्भ किया।

ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार मुसलमानों में **अकीक** तथा बिस्मिल्लाह की समता हिन्दू समाज के मुण्डन तथा विद्यारम्भ की प्रथा से की। शादी के शुभ अवसर पर हिन्दुओं के सोलह श्रंगार की परम्परा को मुसलमानों ने अपनाया। **इब्नेबतूता** ने सैयद शैफुद्दीन तथा मुहम्मद तुगलक की बहन के बीच शादी के अवसर पर हिन्दू संस्कारों के प्रभाव का विस्तत उल्लेख किया।

हिन्दू त्यौहार होली, दशहरा, तथा दीवाली सभी वर्गों के लिए खुशी के अवसर होते थी। मुस्लिम शासकों ने आरती तथा न्यौछावर की परम्परा को राजपूतों से अपनाया था अकबर के ऊपर तो राजपूतों का इतना प्रभाव पड़ा कि वह दाढ़ी नहीं रखता था और अपने मस्तक पर तिलक लगाता था। वह सूर्य तथा अग्नि की उपासना भी करता था।

इसी प्रकार हिन्दू समाज का प्रभाव संगीत, साहित्य, वास्तुकला सभी पर दिखाई देता है। शिल्पकला मुख्य क्षेत्र था, जिसमें मुसलमानों ने अपने प्रेम और सौंदर्यानुभूति की अभिव्यक्ति अंकित की और जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों ने मन को एक दूसरे से प्रभावित करने का बड़ा अवसर दिया। इस काल में सुन्दर भवनों के निर्माण में वे अपनी इच्छाओं को संतुष्ट कर सके किन्तु सामान्य तौर से इस कार्य के लिए हिन्दू शिल्पकारों तथा कारीगरों को नियुक्त करना पड़ता था। मुसलमान राजा के मस्तिष्क में उत्पन्न भवन की धारणा, भारतीय वातावरण से अप्रभावित नहीं रह पाती थी। इसके अलावा जब वह हिन्दू वास्तुकार के द्वारा डिज़ाइन की जाकर क्रियान्वित होती तो मस्तिष्क के साँचे में पुनः उसकी ढलाई होती। इस तरह सम्मिश्रिण की प्रक्रिया, जो कुछ बड़े रहस्यों के चेतनामय प्रयत्नों के बावजूद भी धार्मिक क्षेत्र में कार्यान्वित नहीं हो सकती, उसने लगभग अचेतन में वास्तुकला में अपना प्रभाव अंकित किया। दिल्ली सल्तनत की प्रथम शताब्दी में ही, हिन्दू, मुसलमान शैली की वास्तुकला अस्तित्व में आई, जिसे 14वीं शताब्दी में विभिन्न स्तर के सुधारों के साथ बंगाल, गुजरात और दाक्षण के स्वतन्त्र मुसलमान शासकों तथा बुन्देलखण्ड के शासकों द्वारा अपनाया गया। **फरग्यूशन** लिखता है कि ''अजमेर की जामा मस्जिद का डिजाइन मांउट आबू पर स्थित जैन मंदिर से लिया गया था। जहाँ तक कुवत्तल इस्लाम मस्जिद का संबंध है वह वास्तव में मंदिर के क्षेत्र पर उसके मलबे से बनाई गई थी।'' भव्य कुतुब मीनार जो इस मस्जिद का एक हिस्सा थी, सामान्य धारण के अनुसार इस्लामी है, किन्तु इसके निर्माण में कोई भी साफ देख सकता है कि स्तम्भों में गुप्त युग से तथा शिखरों की मध्यकाल में समानता है। इसके अतिरिक्त सजावट का काम सीधे उत्तर भारतीय हिन्दू और जैन शैली प्रदर्शित करता है।

मुसलमान राज्यों ने, जिनका दिल्ली से सम्बन्ध विच्छेद हो गया था, इस शैली को स्थानीय सुधारों के साथ हिन्दू शैली से समता रखते हुए, अपना लिया। विशेषकर गुजरात के भवनों में गुम्बजों को छोड़कर सभी तत्व और नुकील अर्द्धचंद्र हिन्दुओं के समान है। मुहाफिज खान की मस्जिद जिसे 15वीं शताब्दी और 16वीं शताब्दी में बनाया गया, आबू तुरब का मसोलियम, इस शैली के सुन्दर उदाहरण हैं।

दिल्ली सल्तनत की अपेक्षा छोटे मुसलमान राज्यों में हिन्दू और मुसलमानों के बीच विचारों और भावनाओं में बहुत अधिक समीपता और सामंजस्य था, जिसने उन्हें इस काल के अन्त तक स्वतंत्र बना दिया था। ये राज्य, विशेषकर बंगाल और दक्षिण के मुसलमान शक्ति केंन्द्र से बहुत दूर विशुद्ध रूप से हिन्दू वातावरण में थे और दिल्ली के विरूद्ध दढ़ता से अपनी स्वतंत्रता प्रभावी बनाने के लिए, उन्हें हिन्दू प्रजा की सद्भावनाओं तथा समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता था। उनके अपने छोटे कार्य क्षेत्र में उनके शासक जनता के निकट थे और उनकी भावनाओं तथा इच्छाओं को समझते तथा उनका आदर करते थे। वे सामन्य रूप से स्थानीय प्रमुख व्यक्तियों को अलग करने से बचते थे और साधारण तौर से उनकी प्रशंसा करते थे। उन्होंने हिन्दुओं को, मुक्त रूप से छोटे बड़े पदों पर नियुक्त कर राज्य के प्रशासन से सम्बद्ध किया, इसलिए वे अपनी हिन्दू प्राज से सम्पर्क स्थापित करने तथा उनका प्रेम जीतने में अधिक सफल रहे।

बंगाल के राजाओं में से, अलाउद्दीन हुसैन शाह (1493-1518) और उनके पुत्र नसीरुद्दीन नुसरात

शाह (1518-33) ने अन्य बातों के बीच, बंगाली भाषा को संरक्षण देकर और संस्कृत से अनुवाद द्वारा उसकी अभिवद्धि कर, बहुत लोकप्रियता अर्णित की। हुसैन शाह की प्रेरणा से **मालधर बसु** ने **भगवद्गीता** का बंगाली में अनुवाद किया। नुसरत शाह के संरक्षण में महाभारत का अनुवाद किया गया। एक दूसरे मुसलमान राजा के क्रिध्वीदास से रामायण का अनुवाद कराया।

दक्खिनी राज्यों में मुसलमान शासकों और उनकी हिन्दू प्रजा के बीच सम्बंध और अधिक घनिष्ट तथा सद्भावनामय थे। बहमनी राज्य की नींव रखने वाले ने अपनी राजगद्दी अपने ब्राह्मण मित्र गंगू के प्रयत्न से प्राप्त की। प्रेम और कृतज्ञता में राजा ने उसे केवल वजीर ही नहीं बनाया बल्कि राजवंश के उपनाम के रूप में उसे अपना लिया। बहमनी के काल में ब्राह्मण तथा अन्य हिन्दुओं का साधारण तौर से राज्य के प्रशासन में बड़ा हिस्सा था। पांच मुसलमान राज्यों ने जो बहमनी सल्तनत के विनाश पर बने थे यह उदार नीति जारी रखी। उसके राजा स्थानीय भाषाओं के संरक्षक थे और उनमें से कुछ मराठी भाषा और उर्दू के अच्छे कवि थे। उर्दू पश्चिम की हिन्दी की बोलचाल की भाषा थी और दक्खिन में राज्य भाषा से रूप में आई, जिसमें मुसलमान शासक और उनके उत्तर के हिन्दू और मुसलमान साथी एक दूसरे से आपस में बात करते थे। दक्खिन में स्थानीय लोगों तथा उत्तर से प्रवासियों के बीच एक बौद्धिक अन्तर पूरा करने वाली भाषा बन गई।

कश्मीर के राजा जैनुल अबीदीन ने 15वीं सदी में गद्दी पर बैठने के बाद जातिगत एवं आस्थाओं के सभी भेदों को समाप्त किया। उन्होंने अनेक संस्कृत पुस्तकों का परसियन में अनुवाद कराया। मुस्लिम हिन्दू–धर्म का प्राचीन भारतीय संस्कृति से परिचित हो सके। वे कला, हस्तशिल्प व विशेषकर संगीत के बड़े समर्थक थे। सम्भवतः अकबर द्वारा सम्पादित राष्ट्र के निर्माण के कार्म का पहला हिस्सा, छोटे पैमाने पर अकबर के सौ वर्ष पूर्व कश्मीर में जैनुल अबीदीन द्वारा किए गए कार्य में निहित था।

लोकप्रिय अंधविश्वास

हमारे अध्ययन काल के दौरान मुस्लिम समुदाय में अंधविश्वासों ने भी घर कर लिया था। खलीफा मंसूर के समय से ही ज्योतिष ने मुसलमानों के मन को इतना प्रभावित किया था कि प्रत्येक अच्छे परिवार का अपना एक ज्योतिषी था **बर्नियर** लिखता है कि "एशिया के अधिकांश लोग दैवी संकेतों से इतने प्रभावित होतें है कि वे कहते हैं कि वहीं होतो है जो भाग्य में लिखा हुआ है। प्रत्येक काम में वे अपने ज्योतिषी से परामर्श लेते हैं। दो सेनाएं जब युद्ध के लिए पूरी तैयारी कर लेती है तो सेनापति उसे तब तक शुरू नहीं करते जबतक कि सही तिथि नहीं निकाली जाती। इसी प्रकार कोई सेनापति नियुक्त नहीं किया जाता, कोई विवाद नहीं किया जाता, कोई यात्रा शुरू नहीं की जाती जब तक कि ज्योतिषी से परामर्श नहीं ले लिया जाता। **मानसेरट** लिखता है कि अत्यन्त तुच्छ बातों पर भी उनका परामर्श लेना अनिवार्य समझा जाता है जैसे कि दास खरीदना तथा नए कपड़े पहनना आदि–आदि।

मुसलमान जादू–टोने में सिद्धहस्त थे और लोगों में इस पर बहुत विश्वास पैदा हो गया था। **मनूची** लिखता है कि मैं इस बात का वर्णन नहीं कर सकता कि भारत में हिन्दू व मुसलमान किस सीमा तक जादू–टोना करते हैं। मुझे ज्ञात हैं कि यदि मैं यह बताऊ कि मुर्गा चोरी करने और उसे खा जाने वाले व्यक्ति के पेट में उसे बाँग दिलवा सकते हैं तो कोई मुझ पर विश्वास नहीं करेगा। तथापि सत्य यह है कि इस तरह की बाँग मैंने कई बार सुनी है और इस तरह के उदाहरण भी मुझे बताए गए हैं। **बहारिस्तान-इ-गैबी** के लेखक **मिरजा नाथन** ने एक घटना

का उल्लेख किया है कि जब मीर शमस, जो प्रेत–विद्या में पारंगत था, ने अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए शेख कमाल पर जादू किया तो परिणामस्वरूप शेख के मुँह से खून बहना शुरू हो गया था। एक सप्ताह के भीतर ही उसकी मत्यु हो गई। पत्पश्चात् मीर शमस ने मिरजा नाथन पर जादू किया और उसका गंभीर प्रभाव पड़ा। इसलिए उसने ढ़ाका के एक दरवेश को लिखा, जिसने ढाका में ही लेखक के लिए प्रार्थना की वह अपने जादू के प्रयोग से मीर शमस के जादू के असर को समाप्त कर दिया। **मनूची** लिखता है कि मुस्लिम लोग भी बेटों की प्राप्ति के लिए अथवा पति–पत्नी की प्रीति के लिए धर्मात्माओं के पास जाते थे। कई लोग उनके प्रभाव से दरबार में उच्च स्थान व नियुक्ति चाहते थे और कोई शत्रु पर विजय प्राप्त करना चाहता था तो कोई व्यापार में सफलता प्राप्त करना चाहता था। इस प्रकार लोग जादू–टोनों के प्रभाव से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की कोशिश करते थे।

संक्षेप में **ताराचन्द** के विचार को स्वीकार करना कि इस्लाम ने भारतीय सभ्यता के प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित करके एक क्रांति पैदा कर दी, तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। **जे. एन. सरकार आर. सी. मजुमदार, टाइटस** तथा हैवेल के मत के भी पूर्णतया स्वीकार करने में कठिनाई का आभास होता है कि भारतीय समाज पर इस्लाम के प्रभाव की अपेक्षा इस्लामी समाज पर हिन्दुओं का अधिक प्रभाव पड़ा हैं। **ताराचन्द** को विचार है कि भारतवर्ष में एक साथ रहकर, एक दूसरे के साथ सहयोग कर एक नवीन संस्कृति को जन्म दिया जिसे हम न तो हिन्दू और न मुस्लिम कह सकते हैं। हिन्दू मुस्लिम सम्प्रदायों ने पारस्परिक मतभेदों को भुलाकर सहयोग का परिचय दिया मुगलकालीन संस्कृति का विकास उनके सहयोग की चरम सीमा है।

आर. सी. मजुमदार के अनुसार हिन्दू तथा मुसलमानों का सम्पर्क दोनों समाज तथा संस्कृत के बाह्यांचल को ही स्पर्श कर सका। कई शताब्दियों तक एक साथ रहने के बावजूद इस्लाम की सामाजिक समानता का प्रभाव हिन्दू समाज पर न पड़ सका और न तो हिन्दू समाज ने इस्लाम से कुछ सीख कर सामाजिक परिवर्तन करने का प्रयास किया। भारतीय समाज तथा संस्कृति की विशेषता, धार्मिक उदारता के मुस्लिम समाज ने भी नहीं अपनाया। इस प्रकार दोनों समाज एक दूसरे से अप्रभावित रहे।

आर. सी. मजुमदार का मत अकाट्य है। फिर भी यह नितांत सत्य है कि दोनों भारतीय वातावरण में बहुत दिनों तक एक साथ रहे। मध्ययुगीन समाज में उनके लिए बहुत दिनों तक अलग रहना सम्भव नहीं था। हिन्दू–मुसलमानों ने एक–दूसरे से मिलने तथा समझने का प्रयास किया। परिणामस्वरूप समाज व संस्कृति के क्षेत्र में पारस्परिक प्रभाव अवश्यभावी था। सूफी–सन्तों, हिन्दू समाज सुधारकों तथा कुछ मुस्लिम शासकों के प्रयास के परिणामस्वरूप सहयोग का वातावरण अनुकूल हुआ। पन्द्रहवीं सदीं के दौरान एवं सोलहवी सदी के आरम्भिक भाग में भक्ति एवं सूफी संतों ने जैसा कि सतीश चन्द्र कहते हैं एक साझा मंच तैयार कर लिया था जिस पर विभिन्न सम्प्रदायों और धर्मों के लोग मिल सकते थे एवं एक दूसरे को समझने की कोशिश कर सकते थे। अकबर का शासनकाल हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का चरमोत्कर्ष माना जाता है।

भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना जो अकबर के अधीन भारतीय राष्ट्र के रूप में विकसित हुआ और जिसने कि नई राष्ट्रीय संस्कृत की पष्ठभूमि का काम किया, जिसे उपयुक्त रूप से हिन्दुस्तानी संस्कृति का नाम दिया जा सकता है। नए भारत राष्ट्र की सबसे महत्त्वपूर्ण विशिष्टता, जो अकबर के द्वारा उत्पन्न की गई, यह थी वह समुदाय की धार्मिकता पर नहीं, बल्कि उसी राज्य की नागरिकता पर आधारित थी। धर्मनिरपेक्ष और असाम्प्रदायिक राज्य की अवधारणा अकबर

के मस्तिष्क में बिल्कुल स्पष्ट थी, जो पर्शिया के शाह अब्बास सफवी को लिखे गए उनके पत्र के उद्धरण में प्रतिबिम्बित होती है।

विभिन्न धार्मिक समुदाय हमें ईश्वर द्वारा सौपे गए दैवी खजाने हैं और हमे उसी तरह से उनसे प्रेम करना चाहिए। यह हमारा दढ़ विश्वास होना चाहिए कि प्रत्येक धर्म उनके आर्शीवाद से है और हमारा सच्चा प्रयत्न यह होना चाहिए कि सार्वलौकिक सहनशीलता के सदा हरे रहने वाले उद्यान से स्वर्गीय सुख का आनन्द प्राप्त करें। सर्वशक्ति मान परमेश्वर सभी मनुष्यों पर बिना किसी भेदभाव के अपनी कृपा बरसाता है। राजाओं द्वारा जो ईश्वर की छाया हैं, यह सिद्धान्त कभी भी छोड़ा नहीं जाना चाहिए।

अकबर ने निरंतर निष्णपूर्वक इस सिद्धान्त पर कार्य किया। जैसे ही उसने अपने हाथ में शासन की बागडोर ली, 1563 ई॰ में तीर्थ यात्रा कर, 1564 ई॰ में जजिया कर समाप्त कर दिया और इस प्रकार हिन्दू व मुसलमान प्रजा के बीच द्वेषपूर्ण भेदभाव का अंत कर दिया। किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण अकबर द्वारा प्रसारित राजाज्ञा थी कि भारत का कोई भी निवासी जो किसी भी जाति या वंश का हो, गुलाम नहीं बनाया जा सकेगा। देखा जाए तो मध्यकालीन एशिया की पष्ठभूमि के विरुद्ध बुनियादी सिद्धान्तों की यह विधिवत् घोषणा थी कि बिना किसी वर्ग या धर्म के भेदभाव के कानून के सामने राज्य ने उसके सभी नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा समानता की पवित्रता को मान्यता दी है। इसके आगे उन्होंने नागरिक तथा सैनिक सभी राजकीय सेवाएं हिन्दुओं के लिए खोल दी थी। राजशाही परिवारों और कुछ राजपूत नरेशों के बीच वैवाहिक संबंध भाई चोर की नई भावना की एक प्रतीकात्मक प्रभावशाली अभिव्यक्ति थी जो अकबर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच उत्पन्न करना चाहता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय परिस्थितियों से प्रभावित होकर राज्य की एकता के लिए उसके द्वारा जो नींव डाली गई, वह इस बात पर निर्भर करती है कि आम जनता का राजा के व्यक्तित्व के प्राप्त कितना लगाव है। इसलिए अकबर ने जनता से सीधे संपर्क कर अपेक्षाकृत अधिक जोर दिया जैसा कि किसी मुस्लिम राजा ने कभी सोचा भी नहीं था। उनके द्वारा महल की बालकनी पर बैठकर दर्शन देने के तरीके ने प्राचीन भारतीय राजाओं की स्मति को ताजा कर दिया। यह एक प्राचीन हिन्दू मान्यता का सर्वाधिक बुद्धिमतापूर्ण उपयोग था कि शासक का दावा केवल शुरू होने तक में नहीं था वरन् संभवतः आध्यात्मिक विश्व में उससे भी कुछ अधिक होने का था। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि अकबर का ध्यान केवल पवित्रता के दावे से प्राप्त बहुसंख्यक की आस्था की ओर नहीं था। उसका यक तात्पर्य नहीं था कि उसके धार्मिक विचार उसके व्यवहार में अभिव्यक्त ही हों। जबकि सर्वेश्वरवाद का वास्तविक सिद्धान्त अनुयायियों के चुने हुए समूह को सावधानी से संप्रेषित किया जाना था तथा उससे निकला सुलेह–कुल का सिद्धान्त सब क्षेत्रों में शाही नीति के लिए सामान्य महत्त्व का था।

अकबर के शासनकाल में 'वहदत–उल–वजूद' का सिद्धान्त भारतीय मुसलमानों के सूफी ब्रह्मवाद का एक अंग बन गया था। जहाँगीर वेदान्त को सूफीमत का उच्चतम रूप मानता था। **श्री राम शर्मा** के अनुसार, 'उसका व्यक्तिगत धर्म भक्तिमार्ग का था, जिसको उसने मुस्लिम सूफियों या हिन्दू संतों के संसर्ग में रहकर ही सीखा होगा।

शाहजहाँ का पुत्र दारा शिकोह कादरी सम्प्रदाय का बड़ा भक्त था। **कादरी** सम्प्रदाय की रहस्यमयी बातों का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त दारा ने **सफीनत-उल-औलिया** तथा **सकीनत-उल-औलिया**

नामक ग्रन्थों की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों में सूफी सन्तों की जीवनियां है। दारा शिकोह का ब्रह्मवाद हिन्दुस्तानी मुस्लिम सूफियों के बीच प्रचलित वहदत–उल–वजूद के विचारों का एक अंश है। उसके कहने पर मर्मज्ञ विद्वानों ने **भगवद्गीता** और योग वशिष्ठ का फारसी में अनुवाद किया। उसने स्वयं **उपनिषद** का **सिर्रे अकबर** (महान् रहस्य) के नाम से फारसी में अनुवाद किया। इस प्रकार हिन्दू धर्म से प्रभावित था और उदारवादी विचारों में विश्वास रखते हुए अपने साहित्यिक कार्यों से इस्लाम और हिन्दू धर्म के बीच शांति तथा मेलजोल स्थापित करना था और इस प्रकार धर्मों की असमानता के स्थापित प्रतिबन्धों को दूर करना था।

इस प्रकार मुगल काल में भारतीय इस्लाम उदास्वादी विचारों की ओर अग्रसर हुआ जो हिन्दू–मुस्लिम जातियों के समन्वय पर आधारित था। यद्यपि शाहजहाँ व सिंहासन पर बैठने से भारतीय इस्लाम में रूढ़िवादी सुधार आंदोलन का भविष्य उज्जवल हो गया। शाहजहाँ के अपने युग का मुजद्दिद माना जाता था और निःसन्देह उसका समस्त जीवन इस तथ्य का एक उदाहरण था शाहजहां ने इस्लाम को पवित्र करने व इसे शरीयत के अनुकूल बनाने का भरसक प्रयत्न किया तथापि वह बुद्धिमान था और एक मुसलमान की अंतकरण के कारण सिंहासन को जोखिम में नहीं डालना चाहता था। प्रशासन का रंग–रूप बदल गया और भारतीय इस्लाम में अकबर की उपारवादी भावना निश्चित रूप से उतार पर थी। शाहजहाँ जहांगीर व औरंगजेब के मध्य खड़ा था और रूढ़िवादी तब तक चैन नहीं लेने वाले थे जब तक कि सिंहासन पर उनका धार्मिक प्रतिरूपी विराजमान नहीं हो जाता।

भारतीय इस्लाम में रूढ़िवादी सुधार आंदोलन के क्षेत्र में ही औरंगजेब को एक सुधारक के रूप में मूल्यांकित किया जा सकता है। औरंगजेब ने इस संतोष से सांस छोड़ी कि उसने सारा जीवन सच्चे इस्लाम को अर्पण कर दिया किन्तु इस्लाम इस बात का साक्षी है कि वह इस्लामी आदर्शों को कार्यान्वित करने में असफल रहा। इस्लाम के सार को ग्रहण करने के यान में औरंगजेब ने अपनी मत्यु से पूर्व मुस्लिम साम्राज्य को एक परछाई मात्र बना दिया और अपने वंशजों के लिए साम्प्रदायिक वैभनस्य की विरासत छोड़ गया।

अध्याय - 6

(क) भक्ति आंदोलन : उदय एवं विकास

(a) Bhakti Movement : Rise and Growth

देश में ईसा पूर्व छठी और ईसा के बाद दूसरी सदियों के मध्य बौद्ध धर्म के उदय और विकास के बाद, मध्यकालीन भक्ति आंदोलन भारत का सर्वाधिक व्यापक बड़ा और बहु–आयामी आंदोलन था। भक्ति आंदोलन ने समय–समय पर लगभग पूरे देश को प्रभावित किया और उसका धार्मिक सिद्धांतों, धार्मिक अनुष्ठानों, नैतिक मूल्यों और लोकप्रिय विश्वासों पर ही नहीं, बल्कि कलाओं और संस्कृति पर भी निर्णायक प्रभाव पड़ा। बदले में इन्होंने मध्यकालीन राज्य और शासक वर्गों के नैतिक ढांचे पर अपना प्रभाव डाला। कुछ क्षेत्रों में इसके विकास की एक खास अवस्था में, मुगल राज्य के केंद्रण का विरोध करने वाले तत्वों ने भक्ति आंदोलन को एक प्लेटफार्म के रूप में इस्तेमाल करने की कोशिश की। सांस्कृतिक क्षेत्र में, क्षेत्रीय भाषाओं, संगीत, नत्य, चित्रकला, शिल्पकला इत्यादि के विकास का भक्ति आंदोलन से निकट संबंध रहा।

सही अर्थ में भक्ति आंदोलन को मुश्किल से ही जन–आंदोलन कहा जा सकता है क्योंकि इसका उद्देश्य जनसाधारण के जीवन की परिस्थितियों में परिवर्तन लाने (सिवा अप्रत्यक्ष रूप से) ही अधिक 'वैयक्तिक मुक्ति और भगवान से रहस्यात्मक मिलन' था। इसी प्रकार इसे मुश्किल से ही पथक आंदोलन कहा जा सकता है क्योंकि (एक आंदोलन के विस्तत, सिद्धांत संबंधी अर्थ के सिवा) मार्गदर्शक अथवा गुरु की सहायता से मुक्ति अथवा भगवान का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए दैवी कृपा पर इसने बल दिया। इस परिधि के अंदर भी भगवान के साथ भक्त के संबंध के स्वरूप धार्मिक ग्रंथों और पारंपरिक विश्वास और समाज तथा शासक के प्रति रवैए के संबंध में भी अकसर व्यापक मतभेद थे। रामानंद की शिक्षाओं पर टिप्पणी करते हुए ताराचंद ने कहा, 'उन्होंने दो धार्मिक विचारधाराओं को जन्म दिया, एक रूढ़िवादी और दूसरी परिवर्तनवादी।' ये परिवर्तन किसी भी रूप में केवल उत्तर तक ही सीमित नहीं थे। जबकि दक्षिण का भक्ति आंदोलन, मूल रूप से समतावादी था, फिर भी उसने जाति व्यवस्था, अथवा उसी रूप में ब्राह्मणों के विशेषाधिकारों की भर्त्सना नहीं की। लेकिन वीरशैव आंदोलन ने एक सख्त परिवर्तनवादी और असनातनी रवैया अपनाया। जिसने भक्ति के मार्ग का अनुसरण किया और जो बारहवीं तथा तेरहवीं सदियों के दौरान अगली पंक्ति में आया, यह आंदोलन एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलता भी रहा। इस प्रकार पंजाब में अनिवार्य रूप से यह शांति आंदोलन था, लेकिन यही व्यापक क्षेत्र में विभिन्न विषयों को अपनी परिधि में समेटते हुए लोकप्रिय भावनाओं की अभिव्यक्ति का वाहन बना, और उसने विविध वर्गों और पष्ठभूमि के स्त्री–पुरुषों को एकत्रित होने और उसके विरुद्ध संघर्ष करने का आधार प्रदान किया जिसे वे लोग तानाशाही मानते थे। इसलिए 'भक्ति' की ऐतिहासिक पष्ठभूमि और उदय, इसके विकास और प्रसार में अपना योगदान देने वाले तत्वों, विभिन्न क्षेत्रों में इसमें आई तबदीलियों और समाज, राजनीति तथा

संस्कृति पर उसके प्रभाव का विस्तत अध्ययन होना शेष है। बहरहाल यहां हम भक्ति आंदोलन की कुछ सामान्य विशेषताओं अथवा उत्तर भारत में इसकी प्रवत्तियों को पढ़ेंगे।

यह सर्वविदित है कि ईसाई काल से पूर्व की सदियों में 'भक्ति' का दर्शन और उसका ढांचा विकसित हो चुका था और उसके बाद आने वाली सदियों में 'महायान' बौद्ध धर्म के उदय से उसे और प्रोत्सान मिला। बाद में नारायण और विष्णु की पूजा ने उसे और आगे बढ़ाया। हालांकि गुप्त शासन (ईसा के बाद चौथी–छठी सदियों में) के अंतर्गत विष्णु की पूजा का प्रसार होने लगा था परंतु यह संदेहास्पद है कि उस समय तक 'भक्ति' को कोई वास्तविक लोकप्रिय आधार मिला था। तब तक निरपवाद रूप से 'भक्ति' से संबंधित रचनांए, संस्कृत में मिलती थीं। एक वास्तविक लोकप्रिय आंदोलन मुश्किल से ही स्वयं की ऐसी भाषा में अभिव्यक्ति कर सकता था जो विशिष्ट वर्ग, विशेष रूप से ब्राह्मणों की धरोहर थी; जिनकी धार्मिक विधि और कुछ धर्म सिद्धांतों के साथ पहचान बनी हुई थी। वे उनका समर्थन करते थे। ये सिद्धांत बड़े पैमाने पर जनसाधारण को बहिष्कृत करते थे अथवा उन्हें दूरी पर रखते थे, और ब्राह्मणों को सभी प्रकार के विशेषाधिकार प्रदान करते थे। लेकिन अपने लोकप्रिय रूप में 'भक्ति' का सर्वप्रथम छठी सदी से और उससे आगे दक्षिण भारत में उदय हुआ और दक्षिण में ही वह फली फूली।

इन सदियों के मध्य अपने लोकप्रिय रूप में 'भक्ति' का उदय और विकास उत्तर भारत (जहां इसका प्रारंभिक विकास हुआ) से ज्यादा दक्षिण भारत में क्यों हुआ। जिस प्रक्रिया द्वारा 'भक्ति' ने दक्षिण से उत्तर भारत का सफर तय किया। इसमें रामानंद की प्रमुख भूमिका मानी गई है। वे काशी में रहते थे और उनके कार्यकाल में चौदहवीं सदी के अंतिम ढाई दशकों और पंद्रहवीं सदी के पूर्वार्ध को शामिल किया जाता है। इस बात पर जोर दिया गया है कि बाद में महाराष्ट्र के 'वर्क्करी' संतों का उदय और उड़ीसा तथा पूर्वी भारत में 'सहजयांन' का विकास उत्तर के आंदोलन की कड़ी थे।

यहां दो प्रश्न उठते हैं। प्रथम, हर्ष की मत्यु (ईसा के बाद सातवीं सदी) के बाद उत्तर भारत में राजनीतिक विघटन की प्रक्रिया शुरू होने के बावजूद, उत्तर और दक्षिण के मध्य कभी संबंध नहीं टूटे। हर्ष की मत्यु के बाद उत्तर भारत में शक्तिशाली विस्तत साम्राज्यों, जैसे गुर्जर–प्रतिहारों, राष्ट्रकूटों और पालों का उदय हुआ, जो कन्नौज पर शासन करने अथवा हकीकत में गंगा की घाटी के ऊपरी भाग और उससे लगे मालवा जैसे क्षेत्रों पर कब्जा करने के लिए एक दूसरे से लड़ते थे। सेनाओं की गतिविधि का निहितार्थ था संचार व्यवस्था का बना रहना। चंदन की लकड़ी, लौंग जैसे दक्षिण उत्पादों की उत्तर में कभी कमी थी। सांस्कृतिक क्षेत्र में दक्षिण और उत्तर के मध्य निकट संबंध इस परंपरा से रेखांकित होता था कि भारत में एक विचारधारा को स्थापति करने के लिए 'दिग्विजय' अर्थात देश के विभिन्न भागों की यात्रा और बहस अथवा शास्त्रार्थ जरूरी था। इसी परंपरा का अनुपालन करने की वजह से शंकर (आठवीं सदी) को, 32 वर्ष के जीवन की छोटी अवधि में एक उल्लसित 'दिग्विजय' और देश के विभिन्न भागों में बद्रीनाथ, द्वारका इत्यादि मठों की स्थापना का श्रेय दिया जाता है। शंकर के उदाहरण का बहुत से दूसरे व्यक्तियों ने अनुसरण किया जैसे रामानुज और निबार्क। उत्तर भारत से भी बहुत से नाथपंथी साधुओं को दक्षिण और पश्चिम भारत की यात्रा करने और वहां अपने केंद्र स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है। वहीं संस्कृत रचनाओं का सजीव आदान–प्रदान भी हुआ।

जैसा कि सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है इन परिस्थितियों में, यदि लोकप्रिय 'भक्ति' दक्षिण के लोकप्रिय भक्ति आंदोलन की एक शाखा है तो यह स्पष्ट करना कठिन है कि दोनों के बीच में लगभग पांच सौ वर्षों का अंतराल क्यों था। जैसा कि सभी जानते हैं, दक्षिण में भक्ति आंदोलन दसवीं सदी में अपनी पराकाष्ठा को पहुंच गया था। उसके बाद, धीरे–धीरे वह पारंपरिक हिंदू धर्म के खांचों में प्रवेश कर गया, अर्थात उसने वर्ण–व्यवस्था, ब्राह्मणों की श्रेष्ठता और उनकी धर्म विधियों को स्वीकार कर लिया। उत्तर भारत में 'वर्करी' आंदोलन चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में नामदेव के साथ आरंभ हुआ, कबीर का लोकप्रिय एकेश्वरवाद पंद्रहवीं सदी में और लोकप्रिय 'वैष्णव धर्म' सोलहवीं सदी के पूर्वार्ध में आरंभ हुआ जिसने कृष्ण और राम की पूजा का समर्थन किया।

प्रश्न यह है कि क्या यह अंतराल आकस्मिक था? इस संबंध में दोनों आंदोलनों के दर्शन, नैतिकता, धार्मिक कर्मकांड और सामाजिक दष्टिकोण में समानता स्थापित करने के जो अब तक प्रयास किए गए हैं, उनसे अधिक प्रयास करने होंगे। वर्तमान सोच के अनुसार, रामानंद को दक्षिणी और उत्तरी आंदोलनों के मध्य एक महत्वपूर्ण कड़ी माना जाता है। उनके गुरु राघवानंद को रामानुज के श्री संप्रदाय का माना जाता है, जबकि कबीर और वैष्णव आंदोलन से जुड़े कुछ अष्टछाप कवियों के बारे में यह विश्वास किया जाता है कि वे उनके शिष्य थे। दुर्भाग्यवश रामानंद एक अस्पष्ट व्यक्तित्व हैं और उनके जीवन तथा रचनाओं के संबंध में अधिक जानकारी नहीं है। यह विश्वास किया जाता है कि जाति पर ध्यान दिए बिना सभी के लिए भक्ति का मार्ग खोलना उनका सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान था। इस प्रकार उन्होंने रामानुज का अनुसरण नहीं किया जिन्होंने परिपाटी को प्रोत्साहन देकर धर्मशास्त्रों और भक्ति के मध्य एक सुविचारित संतुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया था। इससे पूर्व नाथ मुनि ने भी 'परिपाटी' का समर्थन किया था जो सभी के लिए खुली थी जबकि जन्म, कर्म और भक्ति को उच्च जातियों के विशेषाधिकारों के रूप में सीमित कर दिया गया था। वे कौन से कारण थे जिन्होंने रामानंद को यह दूरगामी परिवर्तन लाने को प्रोत्साहित किया? क्या यह नाथपंथियों के प्रभाव का विरोध करने की इच्छा का परिणाम था जिन्होंने जाति पर ध्यान दिए बिना पहले से ही सभी के लिए अपने द्वार खोल दिए थे? कारण कुछ भी रहे हों, परिवर्तन का श्रेय मुश्किल से ही रामानुज अथवा दक्षिणी 'भक्ति' को दिया जा सकता है।

अवधारणा के स्तर पर अब यह माना जाता है कि रहस्यवादी आंदोलन अथवा कृपा (प्रसाद) के दर्शन पर आधारित आंदोलन, किसी भी देश अथवा क्षेत्र के लिए अनोखा नहीं होता बल्कि विभिन्न देशों और क्षेत्रों में प्रचलित ठोस परिस्थितियों के आधार पर वह स्वतंत्र रूप से विकसित हो सकता है। इसलिए छठी और दसवीं सदियों के मध्य उत्तर भारत में 'भक्ति' के लोकप्रिय आंदोलन के विकास की असफलता (और उसके बाद तेजी से हुए उसके विकास) को क्षेत्र में प्रचलित ठोस सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों को खोजने का प्रयास किया जाना चाहिए न कि किसी अन्य स्थान पर उसके उत्पन्न होने के कारणों की खोज करनी है। दक्षिण में 'भक्ति' के लोकप्रिय आंदोलन के विकास पर भी यही बात लागू होती है। इसलिए यह स्वीकार करने में ज्यादा कठिनाई नहीं होनी है कि दक्षिण और उत्तर में लोकप्रिय 'भक्ति' आंदोलन अपनी–अपनी विशेष परिस्थितियों में उत्पन्न और विकसित हुए। फिर भी दोनों भारतीय संस्कृति के विस्तत ढांचे के अंदर रहे और उन्होंने बहुत सी दार्शनिक अवधारणाओं, नैतिक और सौंदर्यशास्त्रीय विचारों इत्यादि में भागीदारी की।

उत्तर भारत में, राज्य की बढ़ती हुई कमजोरी; स्थानीय जमींदार विशिष्ट वर्गों की ताकत में

वद्धि, और ज्यादा प्रशासनिक, आर्थिक और राजनीतिक भूमिका हासिल करके उनको विकेंद्रित करने की ताकत; नगरों के पतन; व्यापार विशेषकर लंबी दूरी के व्यापार में गतिरोध, और पहले से ज्यादा अनुपात में ब्राह्मणों को भूमि के हस्तांतरण को सातवीं और बारहवीं सदियों के बीच के युग की प्रमुख विशेषताओं के रूप में पहचाना गया है। इस युग को राजपूतों के उदय का समय भी जाना जाता है। राजपूतों की उत्पति के बारे में इतिहासकारों में काफी मतभेद रहा है। फिर भी यह स्पष्ट है कि वे कई जातियों से मिलकर बने जिनमें ब्राह्मण, आदिवासी और वे विदेशी भी सम्मिलित थे जो इस देश में आबाद हो गए थे। किस ढंग से उनका 'हिंदूकरण' किया गया अथवा उन्हें कैसे राजपूतों का दर्जा दिया गया, यह अभी तक विस्तार से स्पष्ट नहीं हो सका है, मगर बाद में मध्यकाल के दौरान हुए सदश विकासों से अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार वे वर्ग धीरे–धीरे वर्ण–श्रेणी से ऊपर उठने में अकसर सफल हुए जिन्होंने भूमि पर नियंत्रण कर लिया था अथवा स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर राजनीतिक सत्ता प्राप्त कर ली थी। इसके विपरीत जिन्होंने भूमि अथवा स्थानीय सत्ता पर नियंत्रण खो दिया वे वर्ण–श्रेणी से बिलकुल नीचे आ गए।

बहरहाल भूमि और राजनीतिक सत्ता पर नियंत्रण के बाद भी ब्राह्मणों के समर्थन और उच्च वंशावली क बिना उच्चतर वर्ण–स्तर प्राप्त नहीं किया जा सकता था। उत्तर भारत में राजपूतों का उदय उन व्यक्तियों के मध्य एक मौन गठजोड़ का प्रतिनिधित्व करता था जिनका भूमि पर नियंत्रण था और जिनके पास राजनीतिक ताकत थी और ब्राह्मण एक प्रकार से ताकतवर वर्गों की हर बात को न्याय संगत ठहराते थे। विभिन्न शासक वर्गों को राजपूतों अथवा क्षत्रियों के रूप में मान्यता प्रदान करने के बदले में ब्राह्मणों को अपने भरण–पोषण और मंदिरों के निर्माण और रखरखाव के लिए भूमि और धन का उदार अनुदान प्राप्त होता था। इस युग में वैभवशाली मंदिरों का विकास न केवल पुनः उठ खड़ी होने वाली हिंदुत्व की लहर का बल्कि उससे भी ब्राह्मणों द्वारा नई–नई हासिल की गई ताकत और संपत्ति का सूचकांक था। ब्राह्मणों को और भी बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त थे : वे राजपुरोहित नियुक्त किए जाते थे और धर्म तथा राज्यतंत्र के मामलों में उनसे अकसर सलाह ली जाती थी। अनगिनत अवसरों पर उन्हें कूटनीतिक मिशनों पर भेजा गया। उनसे रियायती दर पर भूमि का लगान लिया जाता था। गौर तलब है कि यह परंपरा मुगलों के समय तक और उसके बाद भी जारी रही। ब्राह्मण जिस प्रतिष्ठा का आनंद लेते थे, उसे एक उत्कृष्ट उदाहरण द्वारा प्रदर्शित किया गया : मेवाड़ को पारंपरिक रूप से राजपूत समाज में प्रमुख घराना माना जाता था। उसके शासकों ने अपने आपको शासक के रूप में नहीं बल्कि एकलिंग जी के पुजारियों के रूप में नामजद किया जो वास्तविक शासक थे। इस प्रकार ब्राह्मण, गाय इत्यादि और समाज के चतुवर्ण के रक्षकों के रूप में राजपूत शासक सामाने आए। इसको धर्म का एक अभिन्न अंग समझा जाता था।

यह दलील दी जा सकती थी कि यह कोई नई स्थिति नहीं थी बल्कि इससे पिछले युग के दौरान हिंदू समाज में सामान्य रूप में ऐसी ही स्थिति विद्यमान थी। हमें इस बात को अवश्य याद रखना चाहिए। धर्मशास्त्र (जो ब्राह्मणों अथवा उच्च जाति के विचारों का प्रतिनिधित्व करते थे) एक दिशा की ओर संकेत करते थे और राजनीतिक वास्तविकताएं दूसरी दिशा की ओर। धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रत्येक हिंदू शासक स्वतः ही धर्म की रक्षा करने के लिए बाध्य था जिसमें ब्राह्मणों की सुरक्षा, धर्मशास्त्रों का पालन, और वर्ण–व्यवस्था का समर्थन जैसी बातें भी शामिल थीं। इन सब के बावजूद अशोक के समय से उत्तर भारत में शासक (शुंगों

को छोड़कर) या तो बौद्ध धर्म के समर्थक थे अथवा यदि वे हिंदू सर्वदेव मंदिर में देवताओं की पूजा भी करते थे, तब भी वे बौद्ध धर्म और जैन धर्म सहित सभी धर्मों को समान रूप से सम्मान देते थे। दूसरे शब्दों में, वे ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धार्मिक विचारों और विश्वासों के खुल्लमखुल्ला रक्षक और प्रोत्साहक बनने को तैयार नहीं थे। महान हर्ष शिवभक्त माना जाता है, वह भी प्रत्येक वर्ष बौद्ध परिषद की सभा आयोजित करता था और प्रयाग में पंचवार्षिक सभाओं के समय बुद्ध, सूर्य और शिव की पूजा करता था। वह बौद्धों और ब्राह्मणों को उपहार देने भी उदार था।

राजपूत–ब्राह्मण गठजोड़ इस स्थिति से हटने को सूचित करता था। इसने करीब–करीब पुनरुत्थानवादी और आक्रामक रूप से विस्तत होते हुए हिंदुत्व की विजय को अंकित किया। पहली बात का प्रतिबिंबन कुमारिल की रचनाओं में मिलता है जिसने वेदों की पूजा को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया और सख्ती से वर्णाश्रम–धर्म का समर्थन किया। दूसरी बात का स्पष्ट प्रतिबिंबन बौद्धों और जैनों दोनों के दमन में प्रकट होता है जब ब्राह्मणों के कहने पर और शासकों के समर्थन की वजह से बहुत से बौद्ध और जैन मंदिरों को हिन्दू मंदिरों में परिवर्तित कर लिया गया। यह तमाम जनजातियों के हिंदूकरण और उसके बाद बहुत सी नई जातियों अथवा उप–जातियों के विकास से भी प्रदर्शित हुआ। इन नई जातियों अथवा उप–जातियों को 'वर्णसंकर' अर्थात मिश्रित जातियों के विकास के सिद्धांत को प्रतिपादित करके मौजूदा ढांचे में जगह देना था। मूर्ति पूजा (जिसमें घोर अंधविश्वास शामिल थे) का उदय और धर्म के रूप में कर्म सिद्धांत का विस्तार इस युग के धार्मिक विचारों की दूसरी विशेषताएं थीं।

इस सामाजिक धार्मिक व्यवस्था को राजपूत–ब्राह्मण गठबंधन द्वारा समर्थन और सहारा दिया जाता था। इस प्रकार स्थापित सामाजिक व्यवस्था, अर्थात वर्ण–व्यवस्था और कर्मकांड में विघ्न उत्पन्न करने के किसी भी प्रयास को न केवल संस्थापित ब्राह्मण वर्ग के विरोध और शत्रुता का सामना करना पड़ता था बल्कि राजनीतिक ताकत के हाथों दमन भी झेलना पड़ता था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उत्तर भारत में 'भक्ति' की प्रारंभिक हलचलों के परिणामस्वरूप यह आंदोलन व्यापक रूप क्यों नहीं ग्रहण कर सका, हालांकि विशुद्ध रूप से भौतिक स्तर पर 'भक्ति' के दर्शन और सिद्धांत से संबंधित संस्कृत की रचनाओं का लिखना जारी रहा। इनमें सबसे महत्वपूर्ण रचना 'भागवत पुराण' थी जो संभवतः उत्तर भारत में लिखी गई परंतु इसकी एक दक्षिणी उत्पत्ति से भी इनकार नहीं किया जा सकता। जब तक कि वह सामाजिक कार्य में बाधा नहीं डालती थी बौद्धिक स्वतंत्रता की परंपरा का परित्याग नहीं किया जाता था। जनसाधारण के स्तर पर इस युग के दौरान कुछ विरोधी अथवा असनातनी आंदोलनों के उदय को देख लेना भी संभव है। इस संदर्भ में 'तंत्रवाद' और 'शक्ति' की पूजा और 'नाथपंथी' आंदोलन तथा 'सहजयान' का जिक्र किया जा सकता है। तंत्रवाद की उत्पत्ति की जड़ें बहुत गहरी हैं, परंतु हमें इसकी उत्पत्ति अथवा प्रारंभिक विकास में दिलचस्पी नहीं है। इस युग के दौरान तांत्रिक विचारों के प्रसार अथवा उनकी दढ़ता, बड़ी संख्या में वर्तमान रचनाओं द्वारा प्रमाणित होती है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि तंत्रवाद और देवी (शक्ति) की पूजा भारत के पूर्वी भाग में अधिक लोकप्रिय थी। यह ऐसा क्षेत्र है जहां लंबे समय तक बौद्ध धर्म का प्रभुत्व रहा। इसका यह अर्थ भी था कि इस क्षेत्र में ब्राह्मणवाद और जाति–व्यवस्था की पकड़ मजबूत नहीं थी। नाथपंथी आंदोलन की उत्पत्ति पूर्वी उत्तर प्रदेश में नेपाल और बिहार से लगी सीमाओं में हुई जिसे कभी–कभी तंत्रवाद की एक शाखा माना जाता है, धीरे–धीरे वह भारत के उत्तरी और पश्चिमी भागों में फैल गया। यहां महत्वपूर्ण बात यह है कि तांत्रिक

और नाथपंथी विचारों का प्रसार अकसर उन उपदेशकों द्वारा किया जाता था जिन्हें साधु कहा जाता था और जो सामान्यतया ब्राह्मण नहीं थे बल्कि समाज की निम्न व्यवस्थाओं से उनका संबंध था। ऐसा भी था कि किसी व्यक्ति को उसकी जाति, विश्वास तथा लिंग पर ध्यान दिए बिना तांत्रिक अथवा नाथपंथी व्यवस्थाओं में प्रवेश दिया जा सकता था। हालांकि सिद्धों ने मुक्ति अथवा रिहाई की एक उद्देश्य के रूप में घोषणा की परंतु उनका तात्कालिक उद्देश्य शारीरिक इंद्रियों के अनुशासन, और जादू के सूत्रों और गोपनीय क्रियाओं के प्रयोग द्वारा प्रकृति पर नियंत्रण करना था। इस प्रकार यह विश्वास किया जाता था कि सिद्ध और योगी हवा में उड़ सकते थे, लंबी दूरियों तक देख सकते थे, और एक स्थान से अधिक स्थानों पर मौजूद हो सकते थे इत्यादि। इन दावों की कुछ भी वैधता हो, जनसाधारण को उन्होंने निश्चित रूप से प्रभावित किया। बाद में हम देखते हैं कि सूफी संतों की ओर से भी इस प्रकार के दावे किए गए। कभी–कभी इन दावों के प्रति लोकप्रिय विश्वास ने ब्राह्मणों की तुलना में नाथपंथियों और योगियों को लाभप्रद स्थिति में रखा। न ही, किसी व्यक्ति को जाति के आधार पर इन व्यवस्थाओं में दीक्षा लेने से रोका गया। वास्तव में 'अछूतों' की श्रेणी से हमें ऐसी स्त्रियों के प्रसंग मिलते हैं जिन्हें 'गुरु' स्वीकार किया गया। यह कहना कठिन है कि इन आंदोलनों अथवा पंथों का प्रभाव कितना व्यापक था। प्रकट रूप से उसकी अत्यंत गोपनीय प्रकृति के कारण तंत्रवाद का प्रभाव सीमित रहा जो किसी हद तक सामाजिक तथा राजनीतितक दमन से बचने का एक उपाय था। इसने और तांत्रिकों द्वारा निषेध भोजन और पेय के प्रयोग ने, और कुछ संप्रदायों द्वारा उच्चतर ज्ञान की अवस्था के रूप में एक प्रकार के मुक्त प्रेम की वकालत इत्यादि ने ब्राह्मणों इस योग्य बना दिया कि उन्होंने तंत्रवाद की संपूर्ण व्यवस्था को 'अनैतिक' करार दे दिया। राज्य भी तांत्रिकों को शक और शत्रुता की निगाहों से देखता था। नाथपंथियों ने गोरखनाथ के नेतत्व में एक उच्च नैतिक स्वर अपनाया, कुछ सफलता के साथ ब्राह्मणों के आक्रमण का मुकाबला किया और उत्तर और पश्चिम भारत के विभिन्न भागों और दक्षिण के कुछ भागों में भी अपने केंद्र स्थापित किए। उन्होंने लोकप्रिय एकेश्वरवाद और बाद में उत्तर भारत में 'भक्ति' आंदोलन के विकास के लिए आधार प्रदान किया। परंतु उनका प्रभाव भी सीमित रहा। इस युग में उत्तर और दक्षिण के मध्य विवाद के बहुत से बिंदु थे। दक्षिण में एक पुश्तैनी जमींदार वर्ग द्वारा भूमि और सत्ता पर अतिक्रमण करने की सामंतवादी प्रक्रिया उतनी विकसित नहीं हुई थी जितनी वह उत्तर में विकसित हो चुकी थी, न ही जमींदार वर्गों और ब्राह्मणों के मध्य कोई निकट सामंजस्य स्थापित हो पाया था। सामाजिक संरचनाओं में भी साफ भिन्नताएं थीं। दक्षिण भारत में किसी क्षत्रिय जाति का मुश्किल से ही कोई अस्तित्व था, ब्राह्मण और शुद्र ही दो प्रमुख जातियां थीं। उत्तर की तुलना में ब्राह्मणों की संख्या भी सापेक्षिक रूप से थोड़ी थी। इसके परिणामस्वरूप, दक्षिण में ब्राह्मण उतने शक्तिशाली और प्रभावशाली नहीं थे जितने वे उत्तर में थे। तुलनात्मक रूप से अधिक सरल और कम श्रेणीबद्ध समाज में 'भक्ति' का लोकप्रिय आंदोलन दक्षिण में अधिक सरलता से विकसित हो सकता था। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दक्षिण में भक्ति आंदोलन के प्रारंभिक लक्ष्य उतने अधिक ब्राह्मण और उनके कठोर धार्मिक रीति रिवाज नहीं थे जितना कि बौद्ध और जैन थे; वे उस समय बहुत से दक्षिणी दरबारों में शक्तिशाली स्थिति में थे। पांड्य, चोल, होयसल और कलचुरि दरबारों से नयनार और आलवार संतों के अनुरोध पर जैनों का निष्कासन और लोकप्रिय स्तर पर इन लोकप्रिय संतों द्वारा बौद्ध और जैन विचारों का मुकाबला करने के प्रयत्न, ब्राह्मणों के अनुकूल थे। इससे दक्षिण में भक्ति आंदोलन के विकास में मंदिरों की भूमिका भी स्पष्ट हो जाती है। प्रकट रूप में इन्हीं कारणों से कुछ आधुनिक लेखकों का झुकाव भक्ति के दक्षिणी

आंदोलन को 'हिंदूकरण' के आंदोलन के रूप में देखने की ओर है, जिसने अंत में जाति व्यवस्था को कमजोर नहीं बल्कि मजबूत किया। फिर भी तात्कालिक संदर्भ में दक्षिण में ब्राह्मणों को शूद्रों के उपदेश देने के अधिकार और वेदों तक उनकी पहुंच को स्वीकार करना पड़ा।

उत्तर भारत में इस्लाम के आगमन और बारहवीं सदी के अंत में तुर्कों द्वारा राजपूत राज्यों की पराजय नें शक्तिशाली तत्वों को खुला छोड़ दिया। आने वाली सदियों में इसने भक्ति के लोकप्रिय आंदोलन के विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया। पिछली पांच सदियों के दौरान उत्तर भारत में राजपूत–ब्राह्मण गठजोड़ छाया हुआ था और वह वर्णाश्रम धर्म पर आधारित तत्कालीन सामाजिक–सांस्कृतिक व्यवस्था के रखरखाव के लिए जिम्मेदार था जिसे कर्मकांड के द्वारा समर्थन मिलता था। राजपूत–ब्राह्मण गठजोड़ के हिंसक अंत ने लोकप्रिय असनातनी आंदोलन अर्थात वर्ण व्यवस्था और कर्मकांड विरोधी आंदोलनों के विकास में एक बड़ी अड़चन को हटा दिया। इस्लाम के आगमन से ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा और प्रभाव को भी एक करारा आघात पहुंचा। भोले–भाले लोगों द्वारा पूजी जाने वाली मूर्तियों को अकसर ब्राह्मण भगवान के प्रतीकों के रूप में प्रस्तुत न करके यह प्रदर्शित करते थे मानो वे (मूर्तियां) स्वयं भगवान थीं जो ब्राह्मणों का आदेश मानती थीं, निष्ठावानों को फल देती थीं और जो उनकी शक्ति और सामर्थ्य पर संदेह करते थे उन्हें दंड देती थीं। इन मूर्तियों को गैर–हिंदू तुर्कों द्वारा तोड़ा और पैरों से कुचला गया, और ब्राह्मणों और मंदिरों के दूसरे सेवकों को मार दिया गया या उन्हें छिन्न–भिन्न कर दिया गया। फिर भी तुर्कों का कोई नुकसान नहीं हुआ। भौतिक रूप से भी ब्राह्मणों का नुकसान हुआ। वे बहुत से मंदिरों की जायदादों और धन से भी हाथ ध ाो बैठे।

हालांकि तेरहवीं सदी के आरंभिक ढाई दशकों के दौरान उत्तर भारत में तुर्की शासन ठीक प्रकार से स्थापित हो गया था, इस क्षेत्र में लोकप्रिय रूप में भक्ति का उदय मुश्किल से ही कबीर को पहले का बताता है; उन्हें पंद्रहवीं सदी का ठहराया जाता है। तुर्की विजय के चकित कर देने वाले प्रभाव, निरंतर हिंसा तथा युद्ध और उनके फलस्वरूप प्रारंभिक चरण में आई सामाजिक अस्थिरता को सामान्यतः इस विलंब के लिए जिम्मेदार माना जाता है। तुर्की विजय के बाद मंगोलों का आक्रमण हुआ। इनके कारण इनके नियंत्रण वाले क्षेत्र में बड़े पैमाने पर मत्यु और विनाश का खेल चला; इन क्षेत्रों में कश्मीर, मुलतान और व्यास नदी तक पंजाब सम्मिलित थे। विस्थापित राजपूत राजाओं द्वारा प्रतिरोध और तुर्कों द्वारा पश्चिम और दक्षिण भारत पर आक्रमण तेजी से जारी रहे। बहरहाल हिंसा और रक्तपात के साथ–साथ पुनर्जीवन की एक मंद, अगोचर प्रक्रिया भी चलती रही जो चौदहवीं सदी में सामने आई। पुनर्जीवन के काल का आरंभ खिलजी और तुगलकों के उदय और उनके सत्ता में आने के समय से माना जाता सकता है। उनके शासन में, तुर्की प्रभुत्व का स्थान ऐसे शासक वर्ग ने ले लिया जिसका मुसलमानों में विस्तत सामाजिक आधार था। एक ओर दिल्ली सल्तनत का गुजरात के समुद्री बंदरगाहों के साथ जुड़ाव और दूसरी ओर दक्षिण की ओर उसके विस्तार, मंगोलों के खतरे की समाप्ति के कारण पंजाब और कश्मीर की उनके डरावने शासन से मुक्ति और बाकी देश के साथ उनके एकीकरण ने मध्य और पश्चिम एशिया के साथ व्यापार के विस्तार का मार्ग प्रशस्त कर दिया। तुगलकों के शासनकाल में आंतरिक प्रशासन में स्थिरता आई और कुछ सफलता के साथ खेती को बढ़ाने ओर उसमें सुधार लाने के प्रयास किए गए। मुहम्मद बिन तुगलक द्वारा केंद्रीय शासनतंत्र में हिंदुओं की भरती पहला प्रयोगात्मक प्रयास था (हालांकि यह प्रयास ज्यादातर असफल रहा) परंतु वह एक नई स्थिति का सूचक था। यह अमीर खुसरो

का युग भी था। एक भारतीय होने में अमीर खुसरों के गर्व, उनके द्वारा भारत में सभी अच्छी बातों की प्रशंसा, और देवगीर की देवल देवी को अलाउद्दीन खिजली के पुत्र, खिज्र खान के साथ विवाह के रूमानीकरण से यह प्रदर्शित होता है कि तुर्की शासक वर्ग ने भारत में अपनी जड़ें जमाना आरंभ कर दिया था। इस युग ने महान सूफी संत, निजामुद्दीन औलिया की प्रसिद्धि और उदय भी देखा जिन्हें हिंदू और मुस्लिम दोनों बराबर का सम्मान देते थे। संभवतः बढ़ते हुए पारस्परिक सामंजस्य की इसी प्रवत्ति को इतिहासकार, जियाउद्दीन बरनी ने 'जहानदारी' का नाम दिया; यह एक ऐसी स्थिति थी जिसमें राज्य केवल औपचारिक रूप से ही इस्लामी था। ऐसी बहुत सी धार्मिक क्रियाओं की अनुमति दी गई जो 'शरियत' के विरुद्ध थीं और न केवल पूजा की स्वतंत्रता प्रदान की गई, बल्कि गैर–मुसलिमों को सम्मान भी दिया गया। बरनी ने खेद प्रकट किया कि राजधानी, दिल्ली में भी हिंदू चिमटे और मंजीरे बजाते हुए जुलूस में जाते थे और महल की दीवारों के नीचे से गुजरकर नदी में मूर्तियों को विसर्जन करते थे और सुल्तान स्वयं यह स्वीकार करता था कि उसमें उनके साथ हस्तक्षेप करने की ताकत नहीं थी। जबकि पूजा की स्वतंत्रता और त्यौहारों को सार्वजनिक रूप से मनाने और धार्मिक आनुष्ठानिक प्रक्रियाओं की सीमा में विभिन्न शासकों के शासनकाल में परिवर्तन होता रहा, इसमें क्या संदेह है कि गैर–मुस्लिमों को काफी हद तक धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त थी।

इस युग के दो प्रमुख समुदायों, हिंदुओं और मुसलमानों के मध्य संवाद का कोई विस्तत अध ययन हमारे पास नहीं है। उपलब्ध साक्ष्य से यह पता चलता है कि ब्राह्मणों के प्रभाव में कमी आने से नाथपंथी योगियों को सबसे पहले लाभ हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि तेरहवीं और चौदहवीं सदियों के दौरान यह संप्रदाय अपनी प्रतिष्ठा और प्रभाव की पराकाष्ठा पर पहुंचा। यहां तक सोलहवीं सदी में भी तुलसीदास की आलोचना का मुकाबला करने में वह सक्षम था। हसल शिज्जी द्वारा लिखी गई दिल्ली के निजामुद्दीन औलिया की जीवनी और बहुत से सूफी संतों के 'मलफजात' से स्पष्ट होता है कि सूफी संतों और योगियों (प्रकट रूप से नाथपंथी योगियों) और जैन साधुओं (यतियों) में निरंतर संपर्क बना रहा। चिश्ती संतों के 'सभा' अथवा संगीत सभाओं में हिंदी भक्ति कविता का प्रयोग सर्वविदित है। यह पंद्रहवीं सदी में इस सीमा तक पहुंच गया था कि एक लेखक अब्दुल वहीद बिलग्रामी को 'ऊधो', 'मुरली', 'गोपियां', 'रासलीला' इत्यादि शब्दों को सूफी लाक्षणिक अर्थ देकर उनके प्रयोग को न्यायसंगत ठहराना पड़ा। दुर्भाग्यवश हमारे पास इन 'हिंदवी' भक्ति गीतों के लेखकों और उनकी विषयवस्तु के बारे में बहुत कम जानकारी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि दसवीं और तेरहवीं सदियों के बीच उच्च दार्शनिक स्तर पर अलबरूनी की रचना का बहुत कम अनुसरण हुआ परंतु चौदहवीं सदी के आरंभ से परिवर्तन को देखा जा सकता है। इस प्रकार कुछ संस्कृत की रचनाओं के फारसी में अनुवाद का श्रेय जिया नक्शबंदी (मत्यु 1350) को दिया जाता है। प्रकट रूप से फारसी में अनुवाद का कार्य फिरोज तुगलक और सिकंदर लोधी के शासनकाल में भी जारी रहा, हालांकि दोनों कट्टर और संकीर्ण शासकों के रूप में प्रसिद्ध थे। हालांकि अनूदित संस्कृत रचनाओं में अधिकांश कार्य कहानियों और संगीत, श्रंगार इत्यादि पर होते थे, धर्म पर लिखी गई रचनाओं की भी पूरी तरह से अवहेलना नहीं की गई। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि इस समय तक जानकार व्यक्तियों का एक समूह अस्तित्व में आ चुका था जो संस्कृत और फारसी दोनों भाषाओं और हिंदुओं तथा मुसलमानों के मूल धार्मिक विचारों से परिचित था। चौदहवीं और पंद्रहवीं तथा उनके बाद की सदियों में यही पष्ठभूमि एक बड़ी संख्या में हिंदी की रचनाओं के निर्माण के लिए जिम्मेदार

थी। इन रचनाओं में लोकप्रिय कहानियों, दंतकथाओं अथवा नीति कथाओं का प्रयोग किया गया, एक ओर उन्हें सूफी रहस्यवाद से जोड़ा गया और दूसरी ओर उन्हें हिंदू मिथकशास्त्र और दर्शन से जोड़ा गया। इन रचनाओं में से सबसे प्रारंभिक रचना, जो हमें उपलब्ध है, वह मुल्ला दाऊद की 'चंदायन' है जिसका समय सार्थक रूप से 1379 में माना जाता है, जब संस्कृत से फारसी में अनुवाद का कार्य हो चुका था। जबकि इन सूफी संतों की काव्यात्मक रचनाएं हिंदू दर्शन की गहरी समझ का प्रदर्शन नहीं करती, फिर भी वे लोकप्रिय मनोवत्तियों के साथ–साथ यह भी प्रदर्शित करती हैं कि रहस्यवाद, शारीरिक प्रेम की प्रतिमा को अपना आधार बनाते हुए, किस सीमा तक देश में दो प्रमुख धर्मों, हिंदुत्व और इस्लाम के अनुयायियों को एक सामान्य मंच प्रदान कर रहा था।

हम किस सीमा तक उत्तरी भारत में भक्ति को उसके लोकप्रिय रूप में जमींदार वर्गों द्वारा सत्ता खो देने का परिणाम मान सकते हैं, जैसा कि मैक्स वेबर ने सुझाव दिया है। हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि यह विस्थापित सामंतवादी तत्वों के समर्थन से ज्यादा ब्राह्मणों के हाथ से सत्ता और प्रभाव का छिन जाना था, जिसके परिणामस्वरूप असनातनी, जाति–विरोधी आंदोलनों का विकास हुआ और इस प्रकार लोकप्रिय एकेश्वरवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। कम से कम प्रारंभिक चरण में लोकप्रिय भक्ति आंदोलन देहात से जयादा शहरों के वातावरण में विकसित हुए प्रतीत होते हैं। विस्थापित राजा और ठाकुर विकासशील नए शहरों में नहीं रहते थे बल्कि देहात में अपने किलों और गढ़ियों में चले गए थे। इसलिए वे प्रारंभिक चरण में भक्ति के विकास में अपना बहुत कम योगदान दे सकते थे। संभवतः अपने उद्देश्यों के लिए हम वेबर द्वारा प्रतिपादित 'नाराजगी' के सिद्धांत को अधिक प्रासंगिक मान सकते हैं। वेबर ने इस 'नाराजगी' को उन लोगों से जोड़ा है जिन्हें या तो तत्कालीन सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था या धार्मिक नेताओं द्वारा समर्थित और स्वीकृत नैतिक व्यवस्था के कारण समाज में निम्न स्थिति में रखा गया था। भक्ति जैसे एक भविष्यसूचक आंदोलन ने इन तत्वों को न केवल रिहाई (मोक्ष) की संभावना दिखाकर अपनी ओर आकृष्ट किया बल्कि चुनिंदा व्यक्तियों (भक्तों) को इस अद्‌भुत संसार में उच्च स्तर प्रदान करने का वादा भी किया। प्रकट रूप में पुरानी नैतिक व्यवस्था अर्थात ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित विचारों, धर्म सिद्धांतों और धार्मिक कृत्यों के रहते ऐसी भावनाएं विकसित नहीं हो सकती थीं। इसलिए इस कार्य में एक बार फिर दिल्ली सल्तनत के कार्य और जनसाधारण के मन और कल्पना से ब्राह्मणों के नियंत्रण को हटाने में सिद्धों और नाथपंथी संतों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

यह दलील दी गई है कि इस्लाम से विनाश के तत्काल खतरे से हिंदू समाज को बचाने और समतावाद, भाईचारा और सादगी के इस्लामी धर्म सिद्धांतों द्वारा खड़ी की गई चुनौती का मुकाबला करने के लिए उत्तर में भक्ति एक प्रकार के सुरक्षा उपाय के रूप में आंदोलन का विकास हुआ। यह प्रदर्शित करने के लिए थोड़ा–सा ही साक्ष्य है कि तेरहवीं और चौदहवीं सदियों के दौरान इस्लाम के प्रभाव के कारण हिंदू समाज को विनाश का कोई तत्काल खतरा था। साम्राज्यी राजधानी दिल्ली के निकट पड़ोस में भी आबादी की ज्यादा संख्या हिंदू ही थी। संभवतः भारत में मुस्लिम समाज में प्रचलित स्पष्ट सामाजिक और जातीय विषमताओं के कारण जाहिरा तौर पर, 'भाईचारे' को मुसलित धर्म–सिद्धांत इतना प्रभावित नहीं कर सका जितनी आशा की जाती थी। वास्तव में तुर्कों में जातीय श्रेष्ठता की मजबूत भावना और 'रक्त की शुद्धता' तथा 'उच्च पदों के लिए केवल कुलीनों की योग्यता' पर जोर दिए जाने के कारण हिंदुओं में से जिन निम्न जातियों ने धर्म परिवर्तन किया था, वे यह महसूस करते रहे कि

उनके साथ भेदभाव किया जाता है। भौतिक लाभ की दष्टि से भी धर्मांतरित व्यक्ति केवल निम्न स्तर का सरकारी रोजगार हासिल करके आंशिक रूप से ही लाभान्वित होने की आशा कर सकते थे। सामान्य रूप में आर्थिक जीवन हिंदुओं के हाथों में ही रहा। वास्तव में सरकार के स्थानीय स्तरों पर भी हिंदू छाए हुए थे। निजामुद्दीन औलिया की उंगलियां लोगों की नब्ज को पहचानती थी। उन्होंने दुःख के साथ कहा : 'बहुत से (हिंदू) इस्लाम को एक सच्चे धर्म के रूप में जानते हैं, मगर वे इसे स्वीकार नहीं करते' और 'उन्होंने (हिंदुओं ने) इस्लाम को अपने दिलों से उसी प्रकार निकाल दिया है जैसे आटे से (उसे गूंथते समय) एक बाल को निकाल दिया जाता है।'

इसका अर्थ दूसरे क्षेत्रों में इस्लाम के प्रभाव से इनकार करना नहीं है। एकेश्वरवाद, 'पीर' की भूमिका और 'प्रेयसी' के साथ रहस्यात्मक मिलन पर मुसलिमों को जोर देना हिंदू चिंतन के बहुत से पहलूओं से मेल खाते थे। उन्होंने सहजीवन की प्रक्रिया द्वारा इस दिशा में असनातनी आंदोलन को गति प्रदान की। सूफियों और लोकप्रिय एकेश्वरवादी संतों के चिंतन में अद्‌भुत समानता थी। इसमें दोनों धर्मों से संबंधित रूढ़िवादी तत्वों का विरोध भी सम्मिलित था। इसने कारण और प्रभाव दोनों का काम किया। लेकिन यह प्रक्रिया अपनी प्रकृति से कपटपूर्ण और धीमी थी, इसलिए तिथिक्रम से इस प्रभाव का सूक्ष्म निरूपण करना कठिन है।

इसके लोकप्रिय रूप में भक्ति के विकास के लिए जिम्मेदार राजनीतिक तत्वों का विश्लेषण करते हुए ब्राह्मणों को अविछिन्न प्रतिष्ठा और प्रभाव को कम करके नहीं आंका जाना चाहिए, जो अभी तक जीवन के सामान्य कार्यों यानी जनम, मत्यु, विवाह इत्यादि की अध्यक्षता करते थे। ब्राह्मण अब भी परंपरा और 'अंधविश्वास' के तत्वों का प्रयोग कर सकते थे जो अभी तक काफी शक्तिशाली थे। इसी वजह से जो कबीर निस्संदेह भक्ति आंदोलन के एकेश्वरवादी संतों में सबसे शक्तिशाली व्यक्ति थे, उन्होंने साधारण ब्राह्मणों को अपनी आलोचना का केंद्र बनाया और इसमें 'उपहास जैसे सबसे ज्यादा शक्तिशाली हथियार' का प्रयोग किया।

इस पष्ठभूमि में भक्ति–आंदोलन के विकास को दो चरणों में विभाजित किया जा सकता है। पहले चरण के अंतर्गत दक्षिण भारत में भक्ति के आरंभिक प्रादुर्भाव से लेकर 13वीं शताब्दी तक के काल को रखा जा सकता है और दूसरे चरण में 13वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक के काल को रख सकते हैं। उत्तर भारत में यह आंदोलन इसी समय इस्लाम के संपर्क में आया और इसकी चुनौतियों को स्वीकार करता हुआ इससे प्रभावित, उत्तेजित और आंदोलित हुआ।

मध्यकाल से पूर्व भारत की प्राचीन धार्मिक अवस्था तथा विचारधारा पर नजर डालने पर ज्ञात होता है कि हजारों वर्षों से भारत में वेदों की स्थापना और उनकी परंपरा इतनी मजबूत और मान्य रही है कि हमारे आध्यात्मिक और लौकिक कर्म उसी से संचालित होते रहे हैं। चूँकि वेद हमारी विचारधारा के ही नहीं, अपितु हमारी जीवन–पद्धति के स्रोत और समर्थक रहे हैं, अतः भारत में जो चिंतक–विचारक ऋषि और संत हुए उन पर वैदिक चिंतन का गहरा प्रभाव पड़ा है। वेदों को लेकर चिंतन और व्यवहार की एक ऐसी परिपाटी निर्मित हुई जिसके अंतर्गत ही लोग सोच पाते थे। गौतम बुद्ध जैसे क्रांतिकारी और सजग चिंतक ने मुक्ति के लिए नैतिक आचरण को न केवल अपनाया अपितु उसे व्यवहारिक रूप भी दिया। उन्होंने सामाजिक और धार्मिक स्तर पर जाति–भेद और ब्राह्मणों की सत्ता का विरोध करने के साथ ही नवीन क्रांतिकारी धारा को भी जन्म दिया। अतः बौद्धधर्म अपनी समकालीन परिस्थितियों में वैदिक धर्म का विरोधी

था। फिर भी बौद्धधर्म ज्यों–ज्यों प्राचीन होता गया त्यों–त्यों उसमें भी वैदिक कर्मकांड का प्रवेश होता गया तथा रूढ़िवादिता बढ़ती गई।

बौद्धिक स्तर पर बुद्ध के चिंतन की जड़ें हिलाने वालों में शंकराचार्य का स्थान अग्रण्य ठहरता है। दार्शनिक ज्ञानमार्गियों में सबसे अधिक ख्याती शंकराचार्य को ही प्राप्त हुई। बौद्धों का प्रभाव घटाने तथा वेदों–ब्राह्मणों की महत्ता को स्थापित करने के लिए शंकराचार्य ने अपने दार्शनिक चिंतन में अद्वैतवाद के सिद्धांत पर जोर दिया। अद्वैतवाद का आधार है कि ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या है, आत्मा परमात्मा ही है, वह उससे भिन्न या पथक नहीं है। सांसारिक माया के कारण मानव आत्मा–परमात्मा की एकता को पहचानने की भूल करता है। ध्यान रखने की बात यह भी है कि शंकर ने ज्ञान के साथ–साथ निर्गुण ब्रह्म की उपासना का भी प्रचार किया। साथ ही साथ ईश्वर को शिव का स्वरूप देकर जनसाधारण के लिए शैव–उपासना और पंडितों के लिए ज्ञान–मार्ग के द्वारा एकेश्वरवाद का मार्ग प्रशस्त किया। इस तरह शंकर ने अद्वैतवाद का प्रचार कर सगुणोपासना का अप्रत्यक्ष रूप से विरोध किया। परंतु शंकर का निर्गुण ज्ञानवाद मन में बैठी निराशा से मानव को मुक्ति नहीं दे सका। यही कारण है कि चिंतकों ने अवसर पाकर अद्वैतवाद का डटकर विरोध किया तथा वैष्णव संतों द्वारा निम्नलिखित चार मतों की स्थापना हुई।

काल	संस्थापक	मत
12 वीं शताब्दी	रामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैतवाद
13 वीं शताब्दी	मध्वाचार्य	द्वैतवाद
13 वीं शताब्दी	विष्णुस्वामी	शुद्धाद्वैतवाद
13 वीं शताब्दी	निम्बार्काचार्य	द्वैताद्वैतवाद

इन चारों वैष्णव संप्रदायों ने शंकर के अद्वैत और ज्ञान–मार्ग का विरोध किया। थोड़े–बहुत अंतर के होते हुए भी इन सबकी प्रवत्ति सगुण भक्ति की ओर खिंचती चली गई। इन सभी ने ब्रह्म और जीवन की पूर्ण एकता को अस्वीकार किया तथा इस धारणा का प्रचार–प्रसार किया कि सांसारिक जन्म के बाद जीव का ब्रह्म से एकीकरण समाप्त हो जाता है।

वैष्णवों की सगुण–भक्ति का साधारण जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। भारत में दर्शन सदैव ही धर्म के साथ–साथ चलता रहा है। धर्म की गूढ़ता सामान्य लोगों की समझ से अकसर बाहर रहती है। ऐसी स्थिति में रहस्य और भक्ति की भावना द्वारा उसका व्यावहारिक रूप सामने आता है ओर पनपता है। वैष्णवों के प्रयत्नों से भगवद्गीता की महत्व–प्रतिष्ठा, अवतारवाद की स्थापना के साथ अवतारों की पूजा और ब्राह्मणों की उच्चता आदि को स्थान मिला। वल्लभ ने विशेष रूप से भगवान की प्रतिमा–पूजा पर बल दिया। रामानुज ने भक्ति–आंदोलन की इस धारणा को आगे बढ़ाने का काम किया तथा उच्च जातियों के अधिकारों को कायम रखते हुए सीमित रूप में निम्न वर्गों की आशा को भी निराशा में नहीं बदलने दिया। इतना होने पर भी वैष्णवों का भक्ति–मार्ग व्यावहारिक रूप में तत्कालीन सामाजिक तथा धार्मिक असमानताओं को दूर नहीं कर सका। भले ही भक्ति को लोकप्रिय बनाने में वैष्णव संत सफल रहे हों किंतु वे मुरझाए मनों को वांछित शक्ति से नहीं भर सके।

इस्लाम का भारत में आगमन : मध्यकालीन भारतीय इतिहास में 13 वीं शताब्दी के बाद भक्ति–आंदोलन का जो रूप निर्धारित हुआ उसका तत्कालीन राजनीतिक–सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों

से संबंध काफी गहरा था। इन सभी स्थितियों के बीच एक महत्वपूर्ण तथ्य इस्लाम की राजसत्ता तथा उसके प्रति भारतीय प्रतिक्रिया भी थी।

इस्लाम के सामाजिक–धार्मिक मतवाद के साथ भारतीय सिद्धांत और चिंतन का संघर्ष नए ढंग से आरंभ हुआ। यह भी ध्यान रखना होगा कि इस्लाम ने अपने को एक सामाजिक–धार्मिक मतवाद तथा राजनीतिक सत्ता के रूप में (दोनों को ही शक्तिशाली सैन्य बल का सहारा प्राप्त था) स्थापित करना 12 वीं सदी के अंत में तथा 13 वीं सदी के आरंभ में आकर ही शुरू किया था। भारत की तात्कालिक प्रतिक्रिया को संभवतः निष्क्रियता का नाम दिया जा सकता है। कारण यह नहीं था कि समकालीन शासन वर्ग में कोई सुनिश्चित प्रतिरोध प्रस्तुत करने की शक्ति नहीं थी, बल्कि ऐसा प्रतीत होता है कि समाज ने इसकी ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया था क्योंकि भारतीय जीवन धर्मतांत्रिक ढंग से श्रेणीबद्ध तथा सामंतवादी व्यवस्था पर आधारित ग्रामीण कृषक–समाज के ढर्रे पर चलता चला आ रहा था।

किंतु समय के साथ–साथ भारतीय समाज और शासक वर्ग के भीतर प्रतिक्रियाजन्य अनुभूतियों का जन्म हुआ और यहाँ के शासक तथा जनसामान्य ने इस्लाम की नीतियों के स्वरूप को जानने–पहचानने का प्रयत्न शुरू कर दिया। उसने यह भी महसूस किया कि इस्लामी धार्मिक और सामाजिक पद्धतियाँ और कार्यकलाप भारतीय जातिवाद पर आधारित रूढ़िवादी समाज के ढांचें में किस प्रकार धीमी परंतु मजबूत गति से दरारें बना रहे हैं। स्वनिर्मित सीमाओं से घिरा उच्च वर्ग–जिसके अगुआ ब्राह्मण थे तथा जिसके हित काफी विस्तत थे–इन विरोधी शक्तियों का प्रतिरोध अपने सामाजिक–धार्मिक दष्टिकोण के माध्यम से प्रस्तुत करने लगा। ऐसी स्थिति में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय उच्च वर्ग की यह एक नकारात्मक ढंग की प्रतिक्रिया थी।

किंतु 14 वीं तथा 15 वीं शताब्दी के लगभग जनसामान्य की आस्था और भक्ति के भीतर से एक व्यापक आंदोलन उठा खड़ा हुआ जो सिंध, गुजरात तथा महाराष्ट्र से लेकर बंगाल, असम और उड़ीसा तक फैल गया। भारतीय इतिहास और सांस्कृतिक जीवन में यही आंदोलन भक्ति–आंदोलन के नाम से जाना जाता है। इस आंदोलन ने संतों के एक नए वर्ग को जन्म दिया जिसके अगुआ कबीरदास कहे जा सकते हैं। इन संत भक्तों ने एक ओर तो भक्ति के आधारभूत तत्वों के बीच सामंजस्य तथा सद्भाव स्थापित किया और दूसरी ओर भारतीय रहस्यवादी धारणाओं और सूफ़ी साधना की रहस्यवादी धारणाओं के बीच सामंजस्य की सष्टि की। इनमें रामानंद, नामदेव, कबीर, नानक, दादू, रविदास, तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु के नाम प्रमुख हैं। इन संत भक्तों में से अधिकांश समाज की छोटी जातियों से आए थे। इन्होंने मुस्लिम सूफियों के सिद्धांतों को अपने बहुत निकट पाया। परिणाम यह हुआ कि इन संतों और सूफियों के बीच मेलजोल काफी बढ़ता गया और भेदभाव की दीवार को ढहना पड़ा।

मध्यकाल में भक्ति का आंदोलन विराट जन–आंदोलन के रूप में प्रकट हुआ। जिन दिनों भक्ति और सूफ़ी आंदोलन का विकास हुआ, भारत का हिंदू समाज अनेक प्रकार की जातियों और संप्रदायों में विभक्त था। यह आध्यात्मिक क्षेत्र में भी एक प्रकार के अंधकार का समय था और देश अनेक प्रकार के कुसंस्कारों से पीड़ित था। बौद्धिक रूप में अद्वैतवाद में विश्वास रखने वाले व्यावहारिक क्षेत्र में ऊंच–नीच, छुआछूत को सहसा ही स्वीकार कर लेते थे। आध्यात्मिक रूप में एक शक्ति को मानने वाले व्यावहारिक रूप में सैकड़ों देवताओं और मूर्तियों के पुजारी बन बैठे। ऐसी स्थिति में बाहरी आडंबरों तथा अर्थहीन संस्कारों में उलझे–भटके

लोग अपना उद्देश्य खो बैठे थे। इसी बीच विदेश से एक ऐसी शक्तिशाली धार्मिक संस्कृति का आक्रमण हुआ जो भारतीय संस्कृति को हर क्षेत्र में चुनौती दे रही थी। हिंदुओं के आपसी मतभेद भी पहले से ही जटिल सामाजिक व्यवस्था की ओर अधिक उलझते जा रहे थे। गुरु नानक ने समकालीन सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों, तत्कालीन शासकीय निरंकुशता तथा सामान्य प्रजा–जनों की असहाय अवस्था का अपनी 'बानियों' में चित्रण किया है। इन बानियों से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि यह सांस्कृतिक–धार्मिक संकट का काल था।

मध्ययुग के संतों ने इस कठिन समय में भक्ति–मार्ग को अपनाते हुए विषमताग्रस्त समाज में मानव की अंतर्निहित शक्ति को जागत करने का कार्य किया। समाज की कुरीतियों और अंध ाविश्वासों को दूर करने के लिए उन्होंने व्यर्थ के नुस्खे नहीं बताए अपितु निर्मल भक्ति तथा पाक जीवन की बात की। उनकी वाणी में शक्ति थी, पांडित्य का बोझ नहीं था। आश्चर्य की बात यह है कि फिर भी उसने पंडितों को आंदोलित नहीं किया। इतिहास साक्षी है कि उनके उद्देश्यों तथा प्रयत्नों से धार्मिक एवं सामाजिक क्रांति के द्वार खुल गए। उन्होंने समाज को न केवल ईश्वर से परिचित कराया अपितु धार्मिक आडंबरों और सामाजिक–राजनीतिक अत्याचारों से पीड़ित जनता को नवचेतना भी प्रदान की।

आचार्य रामानुज की पीढ़ी में स्वामी रामानंद पहले संत थे जिन्होंने भक्ति के द्वारा जन–जन को नया मार्ग दिखाया। उन्होंने एकेश्वरवाद पर जोर देकरा हिंदू–मुसलमानों में प्रेम–भक्ति संबंध ा के साथ सामाजिक समाधान प्रस्तुत किया। उन्होंने अन्य आचार्यों की भाँति कोरी दार्शनिकता का साथ नहीं दिया बल्कि भक्ति की सुगमता व व्यापकता पर उनका बल सर्वाधिक रहा। उन्होंने न किसी देवता विशेष पर ध्यान केंद्रित किया और न किसी उपासना पद्धति पर जोर दिया। जगह–जगह प्रयत्नपूर्वक इन निष्ठावान विचारकों ने पंडिताऊ भाषा का निषेध किया। उन्होंने ब्राह्मणों और क्षत्रियों की उच्चता का खंडन करते हुए भक्ति के द्वारा सबके लिए खोल दिए। परिणामतः रामानंद की विचारधारा से एक नवीन आंदोलन का आरंभ हुआ। उनके बाद कबीर, नानक, दादू आदि संतों का एकमात्र ध्येय सामाजिक–धार्मिक भ्रष्टाचार से मानव को मुक्त करना था।

अध्याय - 6

(ख) उग्र सुधारवादी - कबीर एवं नानक

(b) Radicals – Kabir and Nanak

कबीर (1440-1510 ई॰)

रामानंद के पश्चात् कबीर भक्ति–सम्प्रदाय के दूसरे महत्वपूर्ण संत थे। कहा जाता है कि वे एक हिन्दू विधवा के पुत्र थे, जिसने कि लोक–लज्जा के भय से उन्हें नवजात अवस्था में बनारस के एक तालाब के किनारे छोड़ दिया था। नीरू नामक एक मुसलमान जुलाहा ने उन्हें वहाँ से उठा लाया था; और उसी ने अपने पुत्र की तरह उनका लालन–पालन किया था। कबीर के पितवंश की तरह उनके जन्म की तिथि भी वाद–विवाद का विषय है। लेकिन साधारणतया विद्वानों की धारणा है कि उनका जन्म 1440 ई० के आसपास ही हुआ था। कबीर बचपन से ही विचार मग्न रहते थे; और जब वे बड़े हुए तो रामानंद के शिष्य बन गए। उन्होंने अपना विवाह किया और अपने पालक पिता का ही व्यवसाय करने लगे। लेकिन फिर भी वे अपने समय के महान संतों और सुधारकों में थे। उनके उपदेशों के लक्ष्य दो थे–एक तो बाह्य धर्माडम्बरों से मुक्त आंतरिक आध्यात्मिक विकास और दूसरा हिन्दू और मुसलमानों के बीच सद्भावना की स्थापना। वे एक निराकार ईश्वर को मानते थे, और वेद औ कुरान दोनों को अस्वीकार करते थे। इसी प्रकार ब्राह्मणों और मुल्लाओं की श्रेष्ठता उन्हें मान्य न थी। वे हिन्दू–धर्म और इस्लाम के अर्थहीन आडम्बरों और रस्मों के विरुद्ध उपदेश देते थे। कबीर जाति–पांति और मूर्ति–पूजा के कट्टर विरोधी थे। इसी प्रकार वे मुसलमानों की नमाज, रमजान के उपवास और मकबरों तथा कब्रों की पूजा के भी कठारे निंदक थे। उन्होंने एकेश्वर, प्रेममार्ग और भक्ति पर जोर दिया। कबीर मानते थे कि ईश्वर और मानवता के प्रति प्रेम ही धर्म का मूल आधार है; और इसलिए कोई भी धर्म भक्ति–रहित नहीं हो सकता। अपने गुरु रामानंद की तरह उन्होंने भी हिन्दी मे उपदेश दिए। हिन्दी में उनकी कविताएं और विशेषकर उनके दोहे, जनसाधारण को बहुत ही प्रभावित करते थे। दोहे कहावतों जैसे लगते थे, और उनमें तत्कालीन प्रचलित अंधविश्वासों और रीति–रिवाजों की तीखी आलोचना होती थी। उन्होंने कहा कि राम, रहीम और कृष्ण, मक्का और काशी उसी एक परमात्मा की अभिव्यक्तियां हैं। निम्नलिखित पद्य कबीर की उक्तियों को सुन्दर रूप से संक्षेप में प्रस्तुत करता है।

जो खुदाय मसजिद बसतु है और मुलूक केहि केरा।
तीरथ-मूरत राम-निवासी बाहर करे को हेरा।
पूरब दिसा हरी कौ बासा पच्छिम अलह मुकामा।
दिल में खोज दिलहि में खोजी इहें करीम-रामा।
जेते औरत-मरद उपानी सो सब रूप तुम्हारा।
कबीर पोंगड़ा अलह-राम का सो गुरु पीर हमारा।

कबीर अनपढ़ थे, लेकिन उन्होंने बहुत–से पदों की रचना की थी। इन पदों में उनके उपदेश निहित हैं, और वे संकलित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। खास ग्रन्थ नामक संकलन उनके मुख्य शिष्यों ने किया था। यह ग्रन्थ कबीर चौरा, बनारस में सुरक्षित है। उनकी सबसे महत्वपूर्ण रचनाएं बीजक, सयद, साखियाँ, मंगल, बसन्त, होली, रेखताल आदि के रूप में हैं। भागोदास नामक उनके एक शिष्य ने बीजक को ग्रन्थ के रूप में संकलित किया था। कबीर के पद कई प्रकार के छन्दों में हैं, लेकिन उनमें से अधिकांश पुरानी हिन्दी शैली के दोहे हैं। कबीर प्रथम श्रेणी के भक्त थे, लेकिन सही अर्थों में दार्शनिक नहीं। इसलिए यह पता लगाने के लिए कि वे किसी दार्शनिक विचारधारा के थे, उनके पदों का विश्लेषण करना व्यर्थ होगा। वास्तव में, हम कबीर में विचारों की विभिन्नता, विशिष्ट अद्वैत और भेदाभेद, दोनों ही पाते हैं। लेकिन कबीर की विचारधारा में एक बात अलग ही दिखाई पड़ती है—वह है उनका विशुद्ध अद्वैतवाद और निर्गुण ईश्वर में परम विश्वास। वह परमब्रह्म को कोई नाम देना नहीं चाहते थे; लेकिन अगर नाम देना ही पड़े, तो वे उसे राम कहते थे। उन्होंने गुरु की आवश्यकता पर जोर दिया; लेकिन उन्हें अवतारों में विश्वास न था।

कबीर के उपदेशों का जनसाधारण पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनका चलाया हुआ पंथ उनके साथ ही समाप्त नहीं हुआ। कबीर पंथियों के नाम से विख्यात उनके शिष्यों ने एक पंथ की स्थापना की; और इस पंथ ने अपने स्थापक की परम्पराओं को बराबर निभाया। लेकिन फिर भी यह कहना कठिन है कि कबीर अपने इच्छित दो लक्ष्यों को प्राप्त करने में सफल रहे। उनके दो लक्ष्यों में से एक था हिन्दुओं से जाति–व्यवस्था और धर्म–आडम्बरों का परित्याग कराना और दूसरा था हिन्दुओं और मुसलमानों में परस्पर सद्भावना उत्पन्न करना। उनके उपदेश मध्ययुगीन मुस्लिम जनता और अन्य वर्गों पर बहुत ही थोड़ा प्रभाव डाल सके। हिन्दुओं के एक छोटे–से अल्पमत ने अवश्य ही कबीर के दष्टिकोण को समझा और उनके उद्देश्य को अपनाया। हिन्दुओं में निम्न जातियों के लोगों ने विशेष रूप से कबीर के उपदेशों को स्वागत किया; और उनमें से बहुत–सों ने उन्हें अपना गुरु मान लिया। कबीर की कुछ उक्तियां बड़ी जनप्रिय सिद्ध हुईं। नानक तथा बीसवीं सदी के हिन्दू धर्म–सुधारकों ने अपने आध्यात्मिक आदर्शों में उन्हें अपना लिया।

यह बात विवादग्रस्त है कि कबीर हिन्दू धर्म–गुरु थे अथवा मुसलमान। चूंकि वे एक ईश्वर में विश्वास रखते थे इसलिए आधुनिक मुसलमान लेखकों के एक पक्ष का मत है कि उन्हें मुसलमान सन्त माना जाना चाहिए। लेकिन यह दष्टिकोण तात्विक रूप से सही प्रतीत नहीं होता। कबीर को कुरान पर कोई विश्वास नहीं था; और न वे यह मानते थे कि मुहम्मद साहब अन्तिम और सबसे महान पैगम्बर थे। ऐसे विचार किसी भी मुसलमान के, चाहे वह कितना ही उदार क्यों न हो, नहीं हो सकते। मुस्लिम सूफी तक कुरान की प्रामाणिकता की और मुहम्मद साहब के विचारों को अस्वीकार नहीं करते। यह तथ्य भी कि वे हिन्दू–धर्म और इस्लाम के बीच समझौते के पक्ष में थे; यही प्रदर्शित करता है कि वे मुख्य रूप से एक हिन्दू विचारक थे, और संत थे। उस युग में और आधुनिक युग में भी कोई मुसलमान ईमानदारी से यह नहीं मानता कि हिन्दू धर्म और इस्लाम सार रूप में एक ही हैं, और दोनों धर्मों से बाह्य आडम्बरों को निकाल देने से उनके बीच कोई अंतर नहीं रहेगा। ओर फिर कबीर के उपदेशों का समकालीन मुसलमानों की विचारधारा और उनके कार्यों पर बिल्कुल ही नहीं, या बहुत ही कम प्रभाव पड़ा। केवल मुट्ठी भर मुसलमान ही ऐसे हैं जो कबीर की वाणियों का अनुसरण करते हैं। लेकिन वे स्वयं को कबीर का वंशज मानते हैं, और इसलिए उनके पंथ के अनुयायी हैं। वे अन्य मुसलमानों से और अन्य जुलाहों तक से विवाह–सम्बंध नहीं करते। कहा जाता है कि हिन्दुओं और मुसलमानों,

दोनों ने ही कबीर के शव पर अपना–अपना अधिकार जताया था। हिन्दू उसे जलाना चाहते थे, और मुसलमान गाढ़ना। मुसलमानों की इस मांग में कुछ भी असाधा– रणता नहीं थी, क्योंकि यह मुस्लिम रिवाज के अनुसार ही था। लेकिन हिन्दुओं को तो मुसलमान के शव को स्पर्श–मात्र अपवित्र कर देता था। इसलिए उनके द्वारा कबीर के शव की मांग की जाना यह बताता है कि वे कबीर को मुसलमान नहीं बल्कि हिन्दू संत ही मानते थे।

कबीर का प्रभाव

मध्ययुगीन संतों में कबीरदास की साहित्यिक एवं ऐतिहासिक देन स्मरणीय है। वे मात्र भक्त ही नहीं, बड़े समाज–सुधारक थे। उन्होंने समाज में व्याप्त कुरीतियों का डटकर विरोध किया। अंधविश्वासों, दकियानूसी अमानवीय मान्यताओं तथा गली–सड़ी रूढ़ियों की कटु आलोचना की। उन्होंने समाज, धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण विचारधारा को प्रोत्साहित भी किया। कबीर ने जहाँ एक ओर बौद्धों, सिद्धों और नाथों की साधना पद्धति तथा सुधार–परंपरा के साथ वैष्णव संप्रदायों की भक्ति–भावना को ग्रहण किया वहाँ दूसरी ओर राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक असमानता के विरुद्ध प्रतिक्रिया भी व्यक्त की। इस प्रकार मध्यकाल में कबीर ने प्रगतिशील तथा क्रांतिकारी विचारधारा को स्थापित किया।

काफी हद तक कबीर तत्कालीन स्थितियों को प्रभावित करने में सफल रहे। उन्होंने जनसाधारण के लिए धर्म की सहजता या भक्ति की सुगमता पर बल दिया। जनसाधारण की ही भाषा में उन्होंने बताया कि निर्गुण प्रभु सबका है, उस पर किसी वर्ग, व्यक्ति तथा धर्म–जाति आदि का अधिकार नहीं है। यह भी बड़ी बात है कि निर्गुण भक्ति–धारा में कबीर पहले संत थे। जो संत होकर भी अंत तक शुद्ध गहस्थ बने रहे एवं शारीरिक श्रम की प्रतिष्ठा (dignity of labour) को मानव की सफलताओं का आधार बताया।

धर्म के संबंध में कबीर ने अत्यंत महत्वपूर्ण विचार उपस्थित किए हैं। उन्होंने किसी धार्मिक विश्वास को इसलिए स्वीकार नहीं किया कि वह धर्म का अंग बन चुका है अपितु अंधविश्वासों, व्रत, अवतारोपासना, ब्राह्मणों के कर्मकांड तथा तीर्थ आदि पर कसकर व्यंग्य किए। उन्होंने पहली बार धर्म को अकर्मण्यता की भूमि से हटाकर कर्मयोगी की भूमि पर लाकर खड़ा कर दिया। कबीर ने पौराणिक हिंदू–मत के साथ–साथ मुल्लाओं और काजियों की रूढ़िवादी धार्मिक–परंपराओं का भी डटकर विरोध किया। वे भक्ति और बाहरी आडंबरों का संबंध सूर्य और अंधकार का–सा मानते थे जो एक साथ नहीं रह सकते।

सारांश यह है कि कबीर धार्मिक क्षेत्र में सच्ची भक्ति का संदेश लेकर प्रकट हुए थे। उन्होंने निर्गुण–निराकार भक्ति का मार्ग अपनाकर मानव धर्म के सम्मुख भक्ति का मौलिक रूप रखा। यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि ''कबीर के राम दशरथ पुत्र राजा राम नहीं हैं अपितु घट–घट में निवास करने वाली अलौकिक शक्ति है जिसे राम–रहीम, कृष्ण, खुदा कोई भी नाम दिया जाए। उसका रूप एक है। उसकी प्राप्ति के लिए न मंदिर की आवश्यकता है न मस्जिद की। वह सबमें विद्यमान है और सभी उसे भक्ति तथा गुरु की कृपा से प्राप्त कर सकते हैं।''

सामाजिक एवं आर्थिक विचार

संतों की ओर से जाति–प्रथा को चुनौती बहुत पुराने जमाने से मिलती चली आ रही है। ऐसे

संतों में सर्वप्रथम नाम महात्मा बुद्ध का है। असल में, कबीर, नानक आदि उसी धारा के संत हैं जो बुद्ध के कमंडल से बही थी। किंतु कई बार बंधन ढीले होने के बावजूद आज भी जाति–प्रथा कायम है। कबीर ने मध्यकालीन विषम सामाजिक परिस्थितियों में इस प्रथा का डटकर विरोध किया और बिखरे हिंदू समाज को संगठित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कबीर की दष्टि मानव की प्रगति–विरोधी समाज व्यवस्था के इस तथ्य पर पहुंच गई थी कि वहाँ विचार के धरातल पर तो समानता का बोलबाला अकसर किया जाता है पर आचार के धरातल पर उनमें भेदभाव है। अतः जीवन–भर कबीर हिंदू समाज को समझाते रहे कि जन्म से सभी समान हैं। जिस व्यक्ति ने अपने पवित्र कर्मों से भक्ति को अपनाया उसकी जाति का संबंध पूछना अनुचित है। कबीर ने कर्म की श्रेष्ठता पर अपने जुलाहेपन में भी गर्व समझा हालांकि समाज में उस समय इस वंश का निम्न स्थान था।

दैवी एकता (Divine Unity) के तर्क से कबीर ने एक ऐसा रंग दिखाया कि उनकी शिष्य–परंपरा में हिंदू और मुसलमान सभी दीक्षित होने लगे। शुभचिंतक वक्ता होने के कारण दोनों जातियाँ कबीर को कठोर–कर्कश जानते हुए भी प्यार से अपनाना चाहती थीं। यह उनके मानवतावाद की विजय थी। कबीर ने सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध खड़े होकर संपूर्ण मानव जाति के कल्याण एवं एकता के लिए अपने सुखों को त्याग दिया।

कबीर ने समाज के आर्थिक ढाँचे पर भी कड़ा प्रहार किया। जिस तथ्य को मार्क्स तथा एंगेल्स ने आधुनिक युग में पहचाना, कबीर ने बहुत पहले स्पष्ट घोषणा की थी कि समाज तथा राष्ट्र में अधिकतर विवाद अर्थव्यवस्था की असमानता से उपजते हैं। राजनीतिक परिवर्तनों एवं सामाजिक अत्याचारों के कारण शिल्पकारों, श्रमजीवियों, किसानों तथा वर्गों की आर्थिक दशा चिंतनीय थी। यद्यपि अधिकांश धन जमींदारों तथा अमीरों के पास एकत्रित था तथापि देश का बहुसंख्यक समाज अर्थभाव से ग्रस्त था।

आर्थिक दष्टि से कबीर ने जन–समाज के लिए धन को अनिवार्य तत्व माना और उसे शारीरिक परिश्रम द्वारा आवश्यकता के अनुकूल अर्जित करने एवं उपभोग करने का संदेश दिया। वे उतने ही धन को सर्वोपरि समझते थे जो दैनिक आवश्यकता की भली प्रकार पूर्ति करे। एक स्थान पर वे लिखते हैं : ''हे माधव, मुझसे भूखे पेट भक्ति नहीं होगी, लो अपनी माला सँभालो। तुम तो कुछ दोगे नहीं तो लो मैं ही माँग लूँ।'' परंतु धन–संचय एवं वैभव की उन्होंने निंदा की तथा लोकहितार्थ धनोपार्जन को श्रेयस्कर बताया। आज की दार्शनिक शब्दावली में वे साम्यवादी थे। अहंकार को त्याग नश्वर संसार के मायाजाल से विमुख हो भक्ति करने का अभिप्राय कबीर ने अक्सर यह बताया कि कोई किसी का आर्थिक शोषण न कर सके। वे मानते थे कि मानव में कर्तव्य का विवेक हो तो समाज स्वस्थ हो सकता है। इस प्रकार उन्होंने अपने व्यक्तित्व से कथनी और करनी दोनों के द्वारा युग–युग से पीड़ित समाज के निम्न वर्गों को आत्मसम्मान दिया। उन्होंने उपेक्षितों में आशा और विश्वास को पैदा करते हुए जीवन की एक नवीन दिशा का संकेत दिया।

सारांश में, कबीर ने जीवन के सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण विचारधारा का बीजारोपण किया। वे विचारों की उच्चता, ताजगी तथा सादगी से परवर्ती विचारकों को बहुत पीछे छोड़ गए। वैसे तो उन्होंने मानव समाज को बहुत कुछ दिया परंतु समकालीन समाज व धर्म के क्षेत्र में उनकी तीन बातों का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा था। ये बातें हैं, वर्णव्यवस्था पर कुठाराघात, सांप्रदायिक

तत्वों का बहिष्कार और भक्ति की सादगी एवं व्यापकता का प्रचलन। उनके विचार किसी व्यक्तिगत स्वार्थ पर नहीं टिके थे। इसीलिए जिस कुरीति पर भी उन्होंने चोट की, पूरी निर्भीकता से की। उनके विचारों ने धर्म, दर्शन और समाज को प्रभावित किया क्योंकि वे समकालीन वातावरण में उपयुक्त थे। जैसा कि मैकोलिफ ने कहा है, ''वे एक निडर अन्वेषी (Path Finder) थे, भारत के हिंदू–मुस्लिम समुदायों की एकता के महान अग्रदूत थे और मानवता की आस्था के समर्थक थे। उनका उपदेश था कि दैवी शक्ति मानव जाति की समग्रता में प्रकट होती है।'' इस प्रकार कबीर उच्च कोटि के निर्गुण भक्त ही नहीं थे, अपितु वे समाज सुधारक, उपदेशक एवं प्रगतिशील विचारक भी थे।

नानक (1469-1538 ई॰)

नानक भक्ति–सम्प्रदाय के एक दूसरे प्रमुख संत थे। उनके विचार भी कबीर जैसे ही थे। नानक का जन्म 1469 ई० में तालवण्डी नामक गाँव में हुआ था। तालवण्डी का आधुनिक नाम ननकाना है। यह पश्चिमी पंजाब के शेखूपुरा जिले में लाहौर से 35 मील दक्षिण–पश्चिम में स्थित है। नानक के माता–पिता खत्री जाति के थे। उनके पिता कालू गाँव के पटवारी थे। नानक ने गाँव की पाठशाला में ही शिक्षा पाई थी। वे बचपन से ही विचारमग्न रहते थे, और जीवन और मत्यु की बड़ी–बड़ी समस्याओं पर सोच–विचार किया करते थे; उनके पिता ने उनका विवाह एक खत्री–कन्या से कर दिया; और उन्हें अपने श्वसुर के पास काम सीखने भेज दिया। नानक के श्वसुर जैराम सुल्तानपुर में दौलतखां लोदी की सेवा में अनाज के एक व्यापारी थे। लेकिन नानक हिसाब–किताब ठीक नहीं रख पाते थे इसलिए उन्होंने वह जगह छोड़ दी, और साधु–सन्यासियों की संगति में रहने लगे। वे फिर धर्म–गुरु बन गए; और उनकी जिस प्रथम उक्ति ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया, वह थी–''कोई हिन्दू और कोई मुसलमान नहीं है।'' नानक ने गहस्थ जीवन का परित्याग नहीं किया। उनके परिवार में उनकी पत्नी और दो पुत्र थे। लेकिन फिर भी वे सारा समय साधना, उपदेशों और सुधारों में लगाते रहे। कबीर की तरह उनका विचार था कि गहस्थ जीवन और घरेलू काम करना आध्यात्मिक उन्नति के बीच बाधक नहीं है।

कबीर के विपरीत नानक एक सुशिक्षित व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी मातभाषा पंजाबी के सिवा फारसी और हिन्दी का भी अध्ययन किया था। उन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया था; और वे मध्य एशिया के कुछ देशों में और अरब में भी गए थे। वे विभिन्न उद्यमों, प्रवत्तियों और संप्रदायों के लोगों के सम्पर्क में आए थे। उन्होंने बहुत–से प्रेरक पदों और गीतों की रचना की। इन्हें एक ग्रंथ के रूप में संकलित कर लिया गया, और बाद में उन्हें आदिग्रंथ के रूप में प्रकाशित कर दिया गया।

नानक का उद्देश्य एक ही ईश्वर की मान्यता के आधार पर हिन्दू–धर्म में सुधार करना, और हिन्दुओं एवं मुसलमानों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना था। यह बात ध्यान देने योग्य है कि नानक के इरादे किसी नवीन धर्म की स्थापना करने के न थे; और उनके जीवनकाल में सिख–धर्म कोई अलग धर्म न होकर हिन्दू–धर्म की ही एक शाखा थी। वास्तव में नानक के जीवनकाल में तो इसे सिख–धर्म कहते ही नहीं थे। सिख शब्द संस्कृति के शिष्य का बिगड़ा हुआ रूप है। सोलहवीं सदी में सर्वसाधारण में प्रचलित पंजाबी भाषा में नानक के शिष्यों को सिख कहा जाता था। नानक के पश्चात् उनके उत्तराधिकारियों के काल में ही सिख–धर्म ने एक अलग धर्म का रूप ले लिया। नानक को तब पैगम्बर माना जाने लगा; और आदि–ग्रंथ सिख–धर्म का मुख्य धर्म–ग्रंथ बन गया।

कबीर की तरह नानक भी वेदों और कुरान को नहीं मानते थे। वे भी जाति–पांति, ब्राह्मणों और मौलवियों की प्रमुखता, रस्म–रिवाज, धर्म–आडम्बरों, उपवासों और तीर्थ–यात्राओं के विरुद्ध थे। मूर्तिपूजा के घोर विरोधी थे। उन्होंने मुसलमानों और हिन्दुओं की सभी जातियों के लोगों को, यहां तक की अछूतों को भी अपना शिष्य बनाया था। वे एक निराकार ब्रह्म में आस्था रखते थे, जिसे वे सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, अतुलनीय, अचिन्त्य और अगम्य तथा अपनी सष्टि से बिल्कुल अलग मानते थे। उनका कहना था कि ईश्वर के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर, उसका नाम जपने से, नम्रतापूर्ण व्यवहार से और सभी प्रकार के छल–कपट का त्यागकर मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है। नानक कर्म और पुनर्जन्म को मानते थे। वे मुक्ति को मानव–जीवन का अंतिम लक्ष्य समझते और मानते थे। मुक्ति मिलने से तात्पर्य यह है कि आत्मा का अलग अस्तित्व समाप्त हो जाता है, और वह परमात्मा में लीन हो जाती है। नानक के उपदेशों में नैतिकता, नम्रता, सत्य, दान और दया को प्रमुख स्थान प्राप्त था। दान करना, हरि का नाम जपना और तन–मन से गुरु की आज्ञा का पालन करना, सिखों के मुख्य कर्त्तव्य माने जाते थे। उनमें ईश्वर के प्रति प्रेमपूर्ण भक्ति भी पूर्णतया आवश्यक थी।

नानक के उपदेशों ने धीरे–धीरे एक अलग सम्प्रदाय का रूप ग्रहण कर लिया, और वह धीरे–धीरे एक धर्म विकसित हो उठा। डेढ़–सौ वर्ष से भी अधिक से हिंदू बहुत बड़ी संख्या में नानक पंथ के अनुयायी रहे हैं। इन लोगों को नानक के उपदेशों में बड़ी आस्था थी। वे सिखों के गुरुद्वारों में जाते हैं, और उपासना में भाग लेते हैं। नानक के सम्प्रदाय में कुछ मुसलमान भी थे। नानक के उत्तराधिकारियों के समय सिख–धर्म धीरे–धीरे हिन्दू धर्म से अलग होता गया, और कालान्तर में उससे भिन्न हो गया। चौथे सिख–गुरु रामदास ने अमतसर के स्वर्ण मंदिर का सुप्रसिद्ध सरोवर बनावाया और उनके उत्तराधिकारी गुरु अर्जुन ने नानक और अन्य गुरुओं की वाणियों का संकलन कर आदि–ग्रंथ की रचना की। इस प्रकार अमतसर सिख–धर्म का मुख्य केंद्र बन गया और आदि–ग्रंथ उनका धर्म–ग्रंथ। मुगलों की दमन नीति के कारण सिख–गुरुओं ने सिख सम्प्रदाय को सैनिक संगठन का रूप दे डाला; और जब औरंगजेब ने मूर्खतापूर्वक 1675 में गुरु तेग बहादुर का वध करा डाला तब तो गुरु गोविन्दसिंह ने सिखों में एक भीतरी संगठन, खालसा, की स्थापना कर उन्हें धार्मिक एवं सैनिक जाति में ही बदल दिया।

नानक का प्रभाव

कबीर के बाद मध्युगीन समाज को प्रभावित करने वाले संतों में नानक का नाम अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। वैसे निर्गुणमार्गी संतों में नानक का व्यक्तित्व अत्यंत भद्र और शांत है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि विचारों और सामाजिक आचारों की दुनिया में परिवर्तन लाने वाले गुरु नानक किसी का दिल दुखाए बिना तथा किसी पर आघात किए बिना कुसंस्कारों को नष्ट करने की शक्ति रखते हैं। उनका उपचार प्रेम, मैत्री, सहानुभूति और सर्वहितचिंतन था। नानक की 'वाणी' में अद्‌भुत पवित्र निष्ठा, प्रभु के लिए पुकार एवं आत्मसमर्पण का तीव्र आवेश है। जहाँ एक ओर उन्होंने मानव के सामाजिक दुःखों का अनुभव किया वहाँ दूसरी ओर अंधविश्वासों और गलत मान्यताओं को दूर करने का प्रयास भी किया। भेदभाव से ऊपर उठकर वे हिंदू–मुसलमानों को समान–दष्टि से देखते थे। उनके विचार कबीर तथा अन्य निर्गुण संतों से मिलते हैं, परंतु नानक में अक्खड़पन तथा खंडन–मंडन की प्रवत्ति कम रही है। सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्र में एकेश्वरवाद, मूर्ति–पूजा का विरोध, हिंदू–मुसलिम एकता और सच्ची पवित्र भक्ति उनका ध्येय रहा है। विषम परिस्थितियों में उन्होंने मनुष्य की अंतर्निहित शक्ति को जगाया तथा एक सर्वोच्च शक्ति के अस्तित्व में विश्वास द्वारा भक्ति–भावना को विशाल पष्ठभूमि में स्थापित कर दिया। साथ ही उन्होंने सीधी

बातों को सीधी भाषा में कहा। यह आवश्यक नहीं था कि वे परंपराओं के मुहताज हों। उनके विचारों में कहीं भी संकीर्णता या क्षुद्रता न थी। ऐसी स्थिति में शताब्दियों से पददलित निम्न जातियों को बंधनों से मुक्त होने की अपार प्रेरणा नानक से मिली क्योंकि कबीर की तरह ही नानक ने भी जाति–प्रथा के विविध पहलुओं पर कसकर प्रहार किया।

भारतीय धर्मसाधना के अतिरिक्त नानक के सामने महान इस्लाम–धर्म भी था। मुस्लिम संतों का सत्संग भी उन्होंने प्राप्त किया था। काफी सोच–समझकर ही उन्होंने समन्वय का मार्ग अपनाया। उन्होंने शक्तिशाली इस्लाम के उत्तम सिद्धांतों को सहज भाव से अपनाया। नानक के मत में सच्चा समन्वय वही है जो ईश्वर की मौलिक एकता को पहचाने और उसके असर से मानव की एकता को पहचानने में सहायता दे। विशाल मानवतावादी दष्टि को ग्रहण कर जो समस्त मनुष्य–जाति को सामूहिक रूप से नाना प्रकार के कुसंस्कारों के बंधनों से मुक्त कर जीवन की उच्च भूमि पर ले जाने की प्रेरणा दे, वही सच्चा समन्वय है।

प्रायः मध्ययुग के अन्य संतों का संदेश धार्मिक और सामाजिक जीवन तक ही सीमित रहा, परंतु नानक इस दष्टि की व्यापकता में भी आगे रहे और परवर्ती काल में प्रभावशाली सिख–संप्रदाय के प्रर्वतक बने। कनिंघम के शब्दों में ''नानक ने सुधार के सच्चे सिद्धांतों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ साक्षात्कार किया और ऐसे व्यापक आधार पर धर्म की नींव रखी, जिसके द्वारा गुरु गोविंद सिंह ने अपने देशवासियों में एक नवीन राष्ट्रीयता की भावना को जन्म दिया। उत्तम सिद्धांतों को ऐसा व्यावहारिक रूप दिया कि उनके धर्म में छोटी–बड़ी जातियों को जीवन के सभी क्षेत्रों में समान मर्यादा प्राप्त हुई।''

नानक के प्रभाव से पंजाब की जनता के साथ–साथ देश को भी नई दिशा मिली तथा समानता, बंधुता, ईमानदारी तथा सजनात्मक शारीरिक श्रम के द्वारा जीविकोपार्जन पर आधारित नई समाज–व्यवस्था स्थापित हुई। उन्होंने पारंपरिक समाज और धर्म की भर्त्सना या विरोध का मार्ग ही नहीं अपनाया वरन आध्यात्मिक साधना वाली भक्ति और सूफी परंपरा की मध्यकालीन भारतीय जीवन तथा सामाजिक–राजनीतिक परिवर्तनों के संदर्भ में व्याख्या भी की। उनका यह प्रयास अत्यधिक महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य है। वस्तुतः गुरु नानक में हमें विचारपरक जनतांत्रिक सिद्धांतों के महत्वपूर्ण सूत्र मिलते हैं जो समाजवादी समाज का पूर्वाभास देते हैं। यहाँ संप्रदायवाद और जातिवाद की निंदा के संकेतों के साथ उनकी सामाजिक दायित्व की भावना का उदार रूप मिलता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि पंजाब में भक्ति–आंदोलन के अग्रदूत गुरु नानक राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं के प्रति अत्यधिक जागरूक थे और उन्होंने उनके लिए उपचारात्मक उपायय भी सुझाए हैं। उनकी सिद्धांत–दष्टि का केंद्र भी लोक–मंगल की भावना ही रही है।

आरंभ से ही नानक का संदेश कबीर, दादू, चैतन्य तथा अन्य संतों के समान होने पर भी अपनी बारीकी में भिन्न था और उनके अनुयायियों ने एक विशिष्ट सामाजिक–राजनीतिक वर्ग बना लिया था जो रूढ़ हिंदू सामाजिक ढाँचे की मान्यताओं का उतना ही विरोधी था जितना कि उत्तरकालीन मुगलों की नीतियों का। यहाँ कहा जा सकता है कि उनके संदेश की सामाजिक और राजनीतिक तीव्रता और प्रगाढ़ता ने ही आगे वाले समय में गुरु गोविंद सिंह के नेतत्व में सिख मत का व्यापक आधार निर्मित किया।

नानक ने जिस धार्मिक आंदोलन का आरंभ किया था उसे अनेक अनुयायियों ने आगे बढ़या। कबीर ने समाज की बुराइयों की ओर ध्यान आकृष्ट कराया किंतु गुरु नानक के उपदेशों में एक

सुनिश्चित धर्म के बीच मौजूद थे। यही कारण है कि समय बीतने पर सिख मत ने एक पूर्ण धर्म का रूप धारण कर लिया। सिक्खों की न झुकने की भावना में शहादत की संभावनाएँ मौजूद थीं। इधर उत्तर मुगलकालीन अनिर्धारित राजनीतिक परिस्थितियों के दौरान गुरुओं को निरपवाद रूप से राजनीति में लाया जाता था और वे गुरु धार्मिक संस्था को सैन्य–समाज का रूप देने के लिए बाध्य हो जाते थे। पंजाब में भक्ति–आंदोलन के सामाजिक–राजनीतिक आयाम के अध्ययन से पता चलता है कि किस प्रकार एक विरोधपरक आंदोलन नए सामाजिक–राजनीतिक संगठन एवं उसके विकास का कारण बन सकता है।

अन्य संत

कबीर और नानक के साथ–साथ निर्गुण–भक्ति की परंपरा में दादू का महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि उनकी सुधारवादी भावना कबीर और नानक के सामने तुच्छ है तथापि उनकी रचनाओं का अपना ऐतिहासिक महत्व है। उनकी रचनाओं में प्रभु के सच्चे चिंतन और इंसान की व्यावहारिक तथा नैतिक शुद्धता का मार्मिक वर्णन है। अन्य निर्गुण संतों की तरह दादू भी बाह्य साधना से ध्यान हटाकर वैयक्तिक साधना पर जोर देते हैं। परमात्मा के उपासक संत संप्रदायों में दादू की यह विशेषता है कि इसमें पुस्तकीय ज्ञान का तिरस्कार न कर लिखित रूप में संत–वाणियों की रक्षा पर विशेष जोर दिया गया है। फलस्वरूप आज हमें उनके ग्रंथ–संग्रह में न केवल दादू अपितु अनेक संतों की सामाजिक साधना का अमत प्राप्त होता है। संक्षेप में, दादू ने ईश्वरीय भक्ति को समाज–सेवा एवं मानवतावादी दष्टि से संबद्ध किया है।

दादू दयाल ने विनम्रता, अहं से निर्लिप्त रहने और ईश्वर के प्रति समर्पित रहने की शिक्षा दी है। ईश्वर की प्राप्ति न केवल प्रेम और भक्ति के माध्यम से संभव है बल्कि मानवता के प्रति सेवा से भी संभव हो सकती है। दादू–ग्रंथावली से अद्‌भूत संकल्पनाओं में से एक अत्यधिक महत्वपूर्ण संकल्पना है—गुरु की संकल्पना।

पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा बंगाल में वल्लभाचार्य और चैतन्य का योगदान भक्ति भावना के विकास में महत्वपूर्ण है। उनके लगभग साथ–साथ चलने वाले आंदोलन असाधारण रूप से सुदढ़ कृष्णभक्ति आंदोलन को शक्ति दे रहे थे। उनकी सगुण भक्ति में प्रेमाभक्ति का स्वर प्रधान था।

बंगाल ने कृष्ण की प्रेम–देवता के रूप में उपासना के साथ–साथ स्वाभाविक रूप में प्रेम के अनेक नवीन आयामों का भी श्रीगणेश किया। परिणामतः विद्यापति तथा चंडीदास जैसे प्रेम के महान कवियों की वाणी को यहीं समद्ध होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मध्यकालीन बंगाल के अधिकांश साहित्य का भक्तिपरक स्वरूप इस तथ्य की बड़े स्पष्ट ढंग से पुष्टि करता है कि मध्यकालीन बंगाली संस्कृति की प्रेरणा का प्रधान स्रोत धर्म था। मुगल शासनकाल की पहली अर्धशताब्दी में बगाल से भक्ति आंदोलन की पूर्ववेला दिखाई दी, जिसे चैतन्य महाप्रभु के जीवन से अत्यधिक शक्तिवान आवेग प्राप्त हुआ।

चैतन्य के उपदेशों का सार दो शब्दों में यह है कि ''यदि कोई व्यक्ति भगवान कृष्ण की उपासना करता है और गुरु की सेवा करता है तो वह माया के जाल से मुक्त हो जाता है और ईश्वर से एकीकृत हो जाता है।'' चैतन्य ने ब्राह्मणों के धर्म के संपूर्ण कर्मकांड की भर्त्सना की है। चैतन्य में अपने ब्रह्म के प्रति उच्चतम श्रद्धाभाव है, किंतु उनका ब्रह्म उन समस्त विशिष्ट गुणों से पूर्ण है जो उनके अनुसार भगवान कृष्ण (जिनकी भक्ति के प्रसार का उन्होंने प्रयास किया) के व्यक्तित्व में अपने सर्वोत्तम रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। कृष्ण–भक्ति में भाव–विभोर होकर गाने–नाचने के

भाव में कुछ–कुछ सूफ़ियों जैसी आनंदातिरेक की व्यवस्था पैदा होती थी जिसमें ब्रह्म की आनंद कला का अनुमान किया जा सकता था।

चैतन्य महाप्रभु के आधारभूत सिद्धांतों में से एक के भावार्थ के अनुसार भक्ति भावादेश की वह स्थिति है जिसमें निमग्न होने पर भक्त जाति, धर्म, कुल, गोत्र तथा सांप्रदायिकता की संकुचित भावना से मुक्त होकर जीवन की उदात्त भाव–भूमि पर विचरण करने लगता है।

बंगाल पर चैतन्य के आंदोलन का प्रभाव का मूल्यांकन करते समय हमें यह ध्यान रखना होगा कि यह आंदोलन कभी भी अधिसंख्यक जनता का धर्म नहीं बना। बंगाल से एक भावनात्मक लहर के रूप में आरंभ होकर यह आंदोलन रूढ़ परंपराओं के अनुरूप वर्गीकृत रूप में ढलकर शांत हो गया। चैतन्य–आंदोलन की जिस देन को आज समस्त बंगाल का सम्मिलित दायित्व माना जा सकता है वह है इस आंदोलन में भाग लेने वालों द्वारा सजित व्यापक साहित्य। डॉ. तपन राय चौधरी के शब्दों में ''चैतन्यवाद को सही परिप्रेक्ष्य में देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि यह शुष्क बुद्धिवादी व्यवस्था और ज्ञान के अतुष्टिकर मार्ग के विरुद्ध भावनात्मकता और सादगी का विद्रोह था, यह सुधारवादी आंदोलन तंत्रवाद का विरोधी था।'' मध्ययुगीन भारत में जब चैतन्यमत ने बंगाली समाज के स्वरूप–निर्माण में सशक्त भूमिका अदा की तो भक्ति–आंदोलन में ऐस तत्वों का महत्व स्पष्ट हो गया।

मध्यकालीन भारत में संत–सुधारक समय–समय पर होते रहे हैं। किंतु रामानंद से चैतन्य तक महान विचारकों की एक ऐसी परंपरा रही जैसी उससे पहले या उसके बाद में नहीं दिखाई देती। यह कहा जा सकता है कि 15वीं तथा 15वीं शताब्दी में भक्ति–आंदोलन अपने चरमोत्कर्ष पर था। यह काल सामाजिक–धार्मिक सुधारकों का काल था। कबीर और नानक जैसे अधिकांश श्रेष्ठ निर्गुणपंथी संतों का प्रभाव पूर्वी उत्तरप्रदेश तथा पंजाब पर अधिक था किंतु इस काल (15वीं–16वीं शताब्दी) में संपूर्ण भारत एक गंभीर धार्मिक उत्तेजना का अनुभव कर रहा था। तुलसीदास, सूरदास, मीराबाई, दादू, चैतन्य आदि संतों से इस आंदोलन को अधिकाधिक बल मिला क्योंकि इन सगुण भक्तों की भक्ति–दष्टि में अवतारवाद का जादू काम कर रहा था।

महाराष्ट्र के संत

मध्यकालीन भक्ति–आंदोलनों के विकास तथा लोकप्रियता में महाराष्ट्र के संतों का महत्वपूर्ण योगदान है। ज्ञानेश्वर, हेमाद्रि और चक्रधर से आरंभ होकर रामनाथ, तुकाराम, नामदेव ने भक्ति पर बल दिया तथा एक भगवान की संतान होने के नाते सबकी समानता के सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया। नामदेव ने भरपूर कोशिश के साथ जाति–प्रथा का खंडन किया। अगर वे सामाजिक क्षेत्र में जाति–प्रथा को उखाड़ने में सफल न भी हुए हों तो भी उन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्र में आचरण की शुद्धता, भक्ति की पवित्रता तथा सरसता और चरित्र की निर्मलता पर बल दिया। नामदेव की मराठी तथा हिंदी रचनाओं में इनकी निर्गुणवादिता का रूप स्पष्ट देखा जा सकता है। उन्होंने मराठी भाषा के माध्यम द्वारा महाराष्ट्र के संतों की न केवल धार्मिक तथा सामाजिक उन्नति की अपितु मराठों के राजनीतिक उत्थान में बुनियादी काम किया। उनके विचारों से महाराष्ट्र की जनता ने एक नवीन संगठन तथा एकता को महसूस किया है। इस प्रकार मध्ययुगीन इतिहास पर महाराष्ट्र के संतों का महत्वपूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि मध्यकाल में भक्ति आंदोलन एक अत्यंत व्यापक आंदोलन के रूप में प्रकट हुआ, जिसने संपूर्ण देश को सांस्कृतिक एकता के सूत्र में बाँधने का कार्य किया।

देश के विभिन्न भागों में फैले हुए पूरे–के–पूरे भक्ति आंदोलन में ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण की भावना अत्यंत व्यापकता के साथ विद्यमान थी। साथ ही यह आंदोलन आंतरिक रूप से वैविध्यपरक था और इसमें हमें दो भिन्न–भिन्न धारणाएँ दष्टिगोचर होती हैंः (1) निर्गुण संत–परम्परा और (2) सगुण संत–परम्परा। निर्गुण भक्तिधारा के संतों में कबीर और नानक का नाम प्रमुख हैं किन्तु इन्हें पारम्परिक ढंग से विकसित हो रहे भक्ति–आन्दोलन से पथक रखना होगा। इस पथक्करण का सर्वात्तम उदाहरण हमें 'गुरु ग्रंथ साहब' में मिलता है। इसमें कबीर, रैदास जैसे एकेश्वरवादी उपदेशकों की रचनाओं को नानक तथा उनके उत्तरवर्ती गुरुओं की रचनाओं के साथ शामिल किया गया है। भक्ति–परम्परा की पारम्परिक और आचारपरक रचनाओं का सख्ती के साथ बहिष्कार करने की प्रवत्ति गुरु अर्जुन की पद्धति में ही दष्टिगत होती है।

निर्गुण–भक्ति की ओर आकर्षित होने वाले उसे स्थान–प्राप्त कराने वाले संतों के लिए यह आवश्यक नहीं था कि वे किसी वर्ग विशेष से जुड़े ही हों। यद्यपि निर्गुण–परम्परा का नाथ–पंथी संतों की रचनाओं में वर्णन मिलता है परन्तु उसका सच्चा क्रियात्मक रूप मध्यकाल में कबीर के बाद ही आया। इससे यह तथ्य माना जा सकता है कि चौदहवीं शताब्दी से बहुत पहले ही निर्गुण भक्ति तथा निराकार प्रभु की आस्था का भाव प्रकट हो चुका था और इस संबंध में भारत के अधिकांश भागों में यत्र–तत्र कुछ रचनाएँ भी प्रस्तुत की जाने लगीं थीं। परन्तु जो कुछ हमारे मध्यकालीन संत कबीर, दादु, नानक, नामदेव आदि ने कहा और जिस रूप में कहा उसकी एक पथक ऐतिहासिक तथा सामाजिक निर्गुण परम्परा उभरी है जो बहुत समय तक थोड़े–बहुत परिवर्तनों के साथ समाज तथा धर्म को प्रभावित करती रही है।

निर्गुण संतों ने प्रभु की भक्ति निराकार रूप में करने पर जोर दिया है, जब कि वल्लभ, तुलसी, सूर, मीरा, चैतन्य आदि ने राम या कृष्ण की पूजा या सगुणोपासना पर बल दिया है। इधर की खोजों से पता चला है कि अवतारवाद की भावना महाभारत–युग में स्थिर हो गई थी। पुराणों में उसकी लोकप्रियता के प्रमाण मिलता हैं। निर्गुण संतो की विचारधाराएँ उपनिषदों से प्रेरित थीं। निर्गुण का प्रचार तो शंकर जैसे दार्शनिक ने भी किया था परन्तु कबीर और नानक जैसे संतों ने सरल भाषा के माध्यम से जन साधारण को महसूस कराया कि इस संसार की मूल सत्ता अवश्य है परन्तु उसका कोई रूप–नाम नहीं है।

निर्गुण संतों ने बाह्य साधना से ध्यान हटाकर वैयक्तिक साधना पर जोर दिया, जब कि सगुण संतों ने मूर्ति पूजा, अवतारवाद, कीर्तन–उपासना आदि को प्रोत्साहन दिया। इधर सगुणोपासना से मंदिरों की संस्कृति तथा ब्राह्मणों के कर्मकांडों को अनजाने में ही महत्व मिल गया। इधर निर्गुण संता विचारों में अधिक प्रगतिशील थे तथा आडंबरों का डटकर विरोध करते थे। गहराई से देखा जाए तो इन निर्गुण संतों ने जात–पाँत तथा सांप्रदायिकता का खंडन करते हुए हिंदू और मुसलमानों के लिए समन्वय का मार्ग प्रशस्त किया क्योंकि समन्वय से तात्पर्य दो या दो से अधिक अलग–अलग विचारधाराओं के बीच एक ऐसी समानता का प्रतिपादन करना होता है जिसके कारण उनका आपसी विरोध कम हो और उनमें मौलिक एकता के लक्षण दष्टिगत होने लगें। समानता में निर्गुण संतों ने, जैसे कबीर और नानक ने, ईश्वर की एकता (Divine Unity) के बल पर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच समानता का प्रतिपादन करते हुए पारस्परिक विरोध को कम करने का प्रयास किया।

निर्गुण भक्ति–आन्दोलन का प्रादुर्भाव एक ओर जातिवाद पर आश्रित कर्मकांडी ब्रह्मण–धर्म के पुरोहितों तथा दूसरी ओर बुद्धिवादी ज्ञानमार्गियों की शुष्क एवं नीरस तार्किकता के विरुद्ध विद्रोह

की भावना से हुआ था। कबीर, नानक एवं नामदेव में यह प्रवत्ति देखी जा सकती है किन्तु जब हम तुलसी और मीराबाई जैसी विभूतियों की ओर देखते हैं तो हमें उनके सामाजिक–धार्मिक संदेश में एक सुनिश्चित परिवर्तन दिखाई देता है। मीराबाई ने कुरीतियों की निंदा और विरोध के तीखेपन को न केवल नम्र बनाया बल्कि उसमें व्याप्त प्रहार की प्रवत्ति को भी परिष्कृत कर दिया। तुलसी ने पूर्ण समर्पण की भावना के माध्यम से स्थापित आध्यात्मिक और लौकिक मान्यताओं को लोक मंगल की भावना से स्वीकृति प्रदान की। निश्चय ही रामचरितमानस एक महान लोकजीवन से संबंधित परम्परा का प्रतीक है किन्तु इसकी अपनी कमजोरियाँ भी हैं क्योंकि इसमें कई बार प्रचलित सामाजिक व्यवस्था को यथावत स्वीकार किया गया है। कुछ भी हो, ये सभी मध्यकालीन भारत के समग्र भक्ति–आन्दोलन की विचारधारा और प्रत्यय के रूपांतरण मात्र थे।

पंजाब से दक्षिण, बंगाल से गुजरात तक भक्ति आन्दोलन का प्रभाव बड़ा व्यापक रहा। जहाँ–जहाँ संत–सुधारक उपदेश देते, स्थानीय शब्द उनकी भाषा का माध्यम व अंग बन जाते थे। भारतीय भाषाओं का विकास, विविधता व अनेक रूपता भक्ति आन्दोलन की महत्वपूर्ण साहित्यिक देन है। ब्रजभाषा, खड़ी बोली, राजस्थानी, गुजराती, बंगाली, पंजाबी, अरबी आदि का उनके उपदेशों में अजीब समावेश है जिसने आगे चलकर आधुनिक भाषाओं का रूप निर्धारित किया। भाषा के साथ–साथ आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक व सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में इस विशाल आन्दोलन ने चुनौती दी।

अब प्रश्न यह उठता है कि संत क्या सचमुच एक सामाजिक व धार्मिक क्रांति ला सके? यहाँ यह कहना उचित होगा कि उद्योग–धंधे वाले का जो जीवन आदर्श होगा वह किसी ज्ञानार्जन में लीन व्यक्ति से सर्वथा भिन्न होगा। इसी प्रकार एक सनातनी हिंदू द्वारा कल्पित किए गए राम राज का रूप भी ठीक वैसा ही होना संभव नहीं जैसा कि मार्क्सवादी विचारधारा वाले साम्यवादी को आकृष्ट करने वाले वर्गहीन समाज (classless society) की धारणा हो सकती है। इस प्रकार के उदाहरण वाले लोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किसी स्पष्ट विचारधारा (ideology) को लेकर चला करते हैं, चाहे कई बार अपने विषय में उनको पूरा ज्ञान भी न रहा हो। इस तर्क में भक्तों, खासकर निर्गुण संतो के बारे में यह कहना उचित होगा कि वे किसी पूर्वनियोजित विचारधारा को निर्धारित कर अपने उपदेश नहीं दे रहे थे। सच्चे तौर पर वे साधक थे ईश्वर प्रेम के। संतों के हृदय में शायद यह विचार ही न रहा हो कि वे अभिनेता या धर्म–संस्थापक होकर समाज की खाइयों को पाटना चाहते थे। उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति था और इसके रास्ते में आने वाले बंधनो का चाहे वे धर्म, समाज, वर्ग अथवा सांप्रदायिकता के ही क्यों न हों, उन्होंने डटकर मुकाबला किया। संतों को समाज की आर्थिक व धार्मिक विषमताएँ असहनीय थीं क्योंकि उन्होंने मानवीय एकता को पहचान लिया था। धर्म को वर्ग विशेष की पैतक सम्पत्ति समझने वाले ब्राह्मणों और मुल्लाओं से लोहा लेकर जनसमाज तक पहुँचाने का श्रेय संतो को ही है। विरोध उन्होंने व्यक्ति विशेष का नहीं अपितु उसकी बुराइयों का किया। उन्होंने जन–समाज को न केवल ईश्वर के प्रेम से परिचित कराया अपितु धार्मिक व सामाजिक और राजनीतिक कलह से पिसती जनता को प्रेरित कर नवीन स्फूर्ति प्रदान की। मध्यकालीन भक्तों ने सफलतापूर्वक समाज और धर्म से बनी खाइयों को अपनी मधुर वाणियों से पाटा तथा व्यक्तिगत चरित्र व चिंतन को सामाजिक व धार्मिक परम्पराओं से अधिक महत्व दिया।

सामाजिक स्तर पर भी संतों का प्रभाव सराहनीय था। भले ही वे जाति–प्रथा को जड़ से न

उखाड़ सके तथापि इसके विरोध ने यह सिद्ध कर दिया कि रामानंद निम्न वर्गों के व्यक्तियों को गुरुमंत्र देकर भी अमर हो गए। कबीर ठोकर खाकर भी उनके शिष्य बने, रविदास ने चमार होकर भी ब्राह्मण के साथ भोजन ग्रहण किया, भगवान ने जाट धन्ना का अन्न ग्रहण किया, नामदेव के लिए मंदिर का द्वार ही घूम गया और नाई सेन के स्थान पर खुद भगवान राजा की सेवा कर गए। इन क्रांतिकारी संतों ने ऊँचे स्वर में घोषणा करते हुए अपने व्यक्तिगत जीवन एवं आचरण से सिद्ध कर दिया कि मानव सत्कर्मों एवं प्रयत्नों से महान होता है चाहे वह किसी भी कुल या व्यवसाय का हो।

पारिवारिक और आर्थिक कष्ट को दूर करने के लिए संतों ने दूसरों पर आश्रित या परजीवी (parasites) रहने वालों का विरोध किया। कबीर जीवन भर वस्त्र बुनते रहे, रविदास जूते बनाते रहे, धन्ना खेती करता रहा तथा नामदेव के बारे में प्रसिद्ध है कि हाथ–पैर से काम करते हुए भी उनका ध्यान भगवान की भक्ति में ही लगा रहा। इस प्रकार संतों का प्रभाव एक व्यवहारिक गहस्थ तथा कर्ममय जीवन के माध्यम से समाज के लिए चुनौती रहा। इसी प्रकार राजनैतिक क्षेत्र में शासकों से टक्कर लेने की क्षमता उस संतों में भले ही पर्याप्त न रही हो परन्तु नैतिक तौर पर एक अजीब शक्ति को इन संतों ने प्रोत्साहित किया जिसके लक्षण आगे चलकर मराठों व सिक्खों के आन्दोलन में दिखाई देते हैं।

एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात यह है कि बहुत–से मध्यकालीन निर्गुण संत वर्ग के थे और इसी में इनको लोकप्रियता मिली। आज के युग में सब तरह के वर्ग उनके उपदेशों की भले ही सराहना करते रहें, परन्तु अपने युग में उनकी सफलता समाज के गिने–चुने वर्गों में ही थी। हिन्दुओं एवं मुसलमानों के उच्च वर्गों ने अपने आप को उनके प्रभाव के दायरे से बाहर रखा।

एकेश्वरवादी उपदेशकों के श्रोता वर्ग का संकेत उनके भजनों की भाषा और विषय–वस्तु से मिलता है। उन सभी ने जनप्रचलित बोलियों का प्रयोग किया है। बुनकर, छोट व्यापारी, लगान वसूली करने वाले कर्मचारी तथा कृषक वर्ग उनकी विषयवस्तु तथा रूपक–विधान का अंग बने हैं।

इन संतों के अनुयायियों के सामाजिक ढाँचे के हमें प्रत्यक्ष प्रमाण मिलते हैं। गुरुओं के अनुयायियों में खत्री वर्ग के लोग भी थे हालाँकि उनके अधिकांश अनुयायी जाट कृषक थे। इसी प्रकार समकालीन उल्लेखों के अनुसार सतनामियों का सामाजिक संगठन छोटे व्यापारियों और कृषक वर्ग के लोगों से बना जो सुस्पष्ट रूप से कबीरपंथी परम्परा का है। अन्य स्त्रोतों से पता चलता है कि इनमें बढ़ई, मेहतर, चर्मकार तथा निम्न कोटि के शिल्पकार आदि शामिल थे। प्राप्त सूचना के आधार पर हम देखते हैं कि एकेश्वरवादी संतों से प्रभावित सामाजिक वर्गों में शिल्पी तथा कृषक वर्ग समान रूप से शामिल थे। विशेष रूप से पंजाब में सिक्खों में, ब्रज प्रदेश में सतनामियों में कृषकों की संख्या की बहुतायत थी। यह काफी रोचक तथ्य है कि भक्त या एकेश्वरवादी उपदेशकों ने अपने श्रोतावर्ग के आर्थिक रूप से उन्नयन या उद्धार का कोई आग्रह नहीं किया, किन्तु एक दष्टि से इन उपदेशों में तात्कालिक सामाजिक आशय निहित थे। चूँकि उन्होंने रूढ़ि तथा पारम्परिक हिन्दू धर्म और इस्लाम का खंडन करने के साथ–साथ जातिवाद का भी खंडन किया, अतः उनके अनुयायियों में कठोर और निम्नतर स्थिति में बँधे होने की वह भावना नहीं थी जो मौजूदा जातिपरक धर्मतंत्र में वर्णित है। उदाहरण के लिए अल्बरूनी के विवरणों से हमें पता चलता है कि तुर्क आधिपत्य से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति को अपने पूर्वजों का व्यवसाय करने के लिए बाध्य करने वाले नियम कितने सख्त थे और शिल्पकार वर्ग को किस प्रकार नियंत्रित किया गया था। जैसे कि प्रो० हबीब ने लिखा है कि बाद में संभवतया एकेश्वरवादियों द्वारा निर्मित सामाजिक वातावरण

के प्रभावस्वरूप जाति–व्यवस्था की दीवार में बड़ी दरार पड़ गई और अर्थ के मोह ने कठोर परम्पराओं को तोड़ दिया जिसके परिणामस्वरूप शिल्पकार वर्ग एकेश्वरवाद का पक्षधर बनने लगा। ऐसा प्रतीत होता है कि पारम्परिक जाति व्यवस्था में निम्न जाति के बहुसंख्यक समुदाय को समाज में बड़ा ही नीचा स्थान प्राप्त था। ऐसी स्थिति में उन उपदेशों को अपनाना शिल्पकार वर्ग के लिए स्वाभाविक ही था जो उन्हें अप्राप्य प्रतिष्ठा प्रदान करते थे।

जाटों के बारे में अल्बरूनी ने कहा है कि वे पशु–पालन करने वाले निम्न वर्ग के शुद्र लोग थे और जाति से बहिष्कृत थे, किन्तु बाद में वे उत्तर–पश्चिमी भारत के विशाल भू–भाग में कृषकों के रूप में फैल गए। 'आइने–अकबरी' के प्रांतीय अभिलेख (1595) में जाटों का उल्लेख लाहौर, दिल्ली तथा आगरा परगनों में जमींदारों के रूप में किया गया है। 'दबिस्तान–ए–मज़ाहिब' में कहा गया है कि जाट कृषक लोग काफी संख्या में थे। पंजाब की एक बोली मे जाट का अर्थ है ग्रामीण, सीधा–सादा देहाती व्यक्ति। बहुधा ये लोग निचली जाति के होते थे किन्तु शुद्र नहीं थे। इन परिस्थितियों में ऐसा हो सकता है कि जाटों ने एकेश्वरवाद को इसलिए अपनाया हो कि इसके माध्यम से वे पशु–पालकों के रूप में अपनी परम्परा से मुक्त होकर अन्य कृषक समुदायों के समकक्ष अपने को स्थापित करना चाहते हों। यह स्वाभाविक ही था कि समय के साथ–साथ और सामाजिक–राजनीतिक परिवेश के बदलाव के साथ–साथ वे सामाजिक भेदभाव की भावना का विरोध करते। यह भी सच है कि निम्न वर्ग के विरोध को भक्ति आन्दोलन ने सशक्त समर्थन प्रदान किया। अब सिक्ख या सतनामी के रूप में जाट–कृषक उस प्रतिष्ठा को प्राप्त कर सकते थे जो पहले के जाति प्रधान समाज में उसे अप्राप्य थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि पंजाब में इस आन्दोलन ने किस प्रकार व्यापक समर्थन प्राप्त किया। इसके साथ ही इसे भी पंजाब में सिक्खमत के व्यापक जनसमाज के धर्म के रूप में विकसित होने का कारण माना जा सकता है जब कि इसके विपरीत अन्य एकेश्वरवादी संप्रदाय छोटे–छोटे धर्म–पंथ बन कर ही रह गए।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि आरम्भ में इस आन्दोलन का व्यापक प्रभाव निम्न वर्ग के ऊपर पड़ता रहा है। संभवतः बौद्ध–धर्म के पतन के बाद भक्ति–आन्दोलन जैसा सशक्त देशव्यापी आन्दोलन हमारे देश में कभी नहीं हुआ। जैसा कि देखा जा चुका है, इसने हमारे इतिहास को अनेक रूपों में प्रभावित किया। भक्ति–आन्दोलन के लगभग सभी प्रतिपादकों और समर्थकों ने अपने उपदेश जनभाषाओं में प्रतिपादित किए। ऐसा करने के कारण उनका जनता से सम्पर्क अधिक बढ़ा है। साथ ही इस ढंग से वे जनभाषाओं और उनके साहित्य की समद्धि का माध्यम भी बने हैं। सांस्कृतिक दष्टि से इस आन्दोलन ने सभी ललित कलाओं को प्रेरित करने के साथ–साथ उनके ऊपर अपनी अमिट छाप छोड़ी है।

महाराष्ट्र तथा पंजाब में इस आन्दोलन का सामाजिक, धार्मिक यहाँ तक कि राजनीतिक प्रभाव देखा जा सकता है। इस आन्दोलन में विशिष्ट सामाजिक विचारधाराएँ तथा जीवन–मूल्य निहित थे और यह देश के विभिन्न वर्गों के बीच सामंजस्य और सहयोग की भावना से प्रेरित था। भक्त संतों को इस बात का श्रेय भी प्राप्त है कि एक ईश्वर और सामाजिक समता की भावना पर जोर देकर उन्होंने सामंतवादी राजनीतिक विचारधारा को चुनौती दी। यह ध्यान देने की बात है कि निर्गुण संतों की सामंतवादी धारणा ने, मुस्लिम धर्म स्वीकार कर लेने वाले हिन्दुओं को संतुलित स्तर पर हिन्दू भक्त के रूप में पुनः परिवर्तन करने के लिए आधार प्रस्तुत किया।

कहा जा सकता है कि कुछ सीमाओं के बावजूद इस आन्दोलन की उपलब्धियाँ विलक्षण थीं। अपने संदेश के माध्यम से वे समाज के शांतिपूर्वक रूपांतरण के लिए आधार प्रस्तुत कर रहे थे। पूजा–अर्जना– पद्धति का सरलीकरण करके तथा जाति व्यवस्था की जटिलता को समाप्त करके वे धर्म को वैयक्तिक अनुभव का विषय बनाने का प्रयास कर रहे थे। इसमें ईश्वर के प्रति आस्थावान प्रत्येक व्यक्ति शामिल हो सकता था। यह सच बात है कि महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब तथा बंगाल में धर्मोपदेशकों के अलग–अलग प्रयासों द्वारा हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों के प्रतिकूल स्वरूप का परिशोधन किया गया। 14वीं शताब्दी से ही हिन्दू–मुस्लिम धर्मों के उन तत्वों का तर्कसंगत विरोध आरम्भ हो गया जो सांप्रदायिक सामंजस्य तथा स्वाभाविक सहानुभूति के मार्ग में बाधास्वरूप खड़े थे।

संतों के इस संदेश का जनता में काफी स्वागत हुआ। बाबर ने विशिष्ट हिन्दुस्तानी ढंग को देखा, सराहा और अकबर ने इस भावना को आगे बढ़ाया। निश्चय ही मुगलों ने ऐसे देश पर शासन किया था जिस पर संतवाणी के प्रभाव की स्पष्ट छाप थी, जैसा कि ताराचंद ने बड़े ही सुंदर ढंग से कहा है, "अकबर का दीने–इलाही किसी निरंकुश शासन की ऐकांतिक सनक नहीं थी बल्कि यह उन अवश्यंभावी शक्तियों का स्वाभाविक परिणाम था जो भारत के जनमानस में सागर की तरह उमड़ रही थीं और जो कबीर तथा नानक जैसे संतों की वाणी में मुखरित हो रही थी।"

अध्याय - 6

(ग) परम्परावादी- सूरदास एवं तुलसीदास

(c) Traditionalist – Surdas and Tulsidas

सूरदास

भक्ति–आन्दोलन का कोई भी विवरण हिन्दी के दो महान सन्त कवियों—सूरदास और तुलसीदास—के संक्षिप्त उल्लेखों के बिना पूरा नहीं हो सकता। ये दोनों ही श्रेष्ठतम भक्त थे और सोलहवीं सदी की अन्तिम और सत्रहवीं सदी की प्रथम चतुर्थी में हुए थे। दोनों ही उच्चकोटि के सन्त थे। लेकिन वे न तो सही अर्थों में उपदेशक या सुधारक थे, और न ही उन्होंने किसी सम्प्रदाय या धर्म की स्थापना ही की थी। लेकिन दोनों ने हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कई ग्रन्थों की रचना की थी। ये ग्रन्थ भगवद्भक्ति और प्रेम का सर्वोत्कृष्ट पाठ पढ़ाते हैं, और पिछले 300 से भी अधिक वर्षों से सम्पूर्ण उत्तरी भारत के लाखों स्त्री–पुरुषों की प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। सूरदास के जीवन की मुख्य–मुख्य घटनाओं की बहुत ही कम जानकारी है। यहाँ तक कि उसके जन्म और मत्यु की तिथियों का भी पता नहीं है। लेकिन विद्वानों का मत है कि ये सूरदास वे नहीं थे जो कि अकबर के दरबार से सम्बन्धित थे। इनका जन्म पन्द्रहवीं सदी की अन्तिम चतुर्थियों में ही कभी हुआ था, और उनकी मत्यु इसी सदी के अन्त में ही हो गई थी। सूरदास की तीन कृतियाँ बहुत ही जनप्रिय हैं। ये हैं—सूरसारावली, साहित्य लहरी और सूरसागर। कहा जाता है कि सूरसागर में 1,25,000 पद थे। लेकिन इसमें एक लाख पद होने की परम्परा ही अधिक ठीक जान पड़ती है। सूरदास ने अपने विषय यद्यपि भागवत पुराण से लिये थे, लेकिन उन्होंने जो कुछ लिखा है वह भागवत पुराण का किसी भी अर्थ में महज अनुवाद नहीं है। यह पूर्णरूप से एक मौलिक रचना है। सूरसागर न केवल प्रेम और भक्ति से ओत–प्रोत ही है बल्कि वह कृष्ण के बाल–चरित्र के चित्रण के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। सूर ने इसमें निष्ठावान भक्त की भगवद्भक्ति के साथ ही बाल मनोविज्ञान का श्रेष्ठतम ज्ञान प्रदर्शित किया है। उन्होंने ब्रजभाषा में ही रचना की है; और उनके ग्रन्थों में जो सन्देश निहित है वह यह है कि जीवन ही कविता है। यह खेल साहसिकतापूर्ण तो है ही लेकिन न तो यह संघर्ष है और न निराशा की कहानी ही। सूर के ग्रन्थ और स्फुट पदों ने लोगों को बड़ा ही प्रभावित किया है, और उन्हें भक्ति–पद पर आगे बढ़ाया है।

सूर वर्ण–व्यवस्था को स्वीकार करते हुए ब्राह्मणों को भारतीय परम्परा में धर्म व्यवस्था का अंग मानते हैं। इसीलिए हर शुभ कार्य में उनकी उपस्थिति सूर को स्वीकार्य है जैसे कृष्ण के जन्म, नामकरण तथा वर्षगाँठ आदि संस्कारों को ब्राह्मण–वर्ग द्वारा करवाया जाना सूर आवश्यक समझते हैं। उनके अनुसार

'द्वार ठाढ़े हैं द्विज-बाबन
चारों वेद पढ़त, सुख आगर, अति सुकंठ सूर-गावन।

वे ब्राह्मण हत्या को महापाप मानते हैं तथा अपराधी ब्राह्मण भी अवध्य हैं।

सूर क्षत्रियों को राज्य–संचालन में निपुण, प्रजा पालक होना चाहिए। प्रजा–पालक में विशेषकर गाय, ब्राह्मणदीनों की रक्षा को मानते है। उनके अनुसार दुष्ट राजा बालकी निर्बल और असहायों को कष्ट देता है।

सूर ने वैश्व का विशेष वर्णन तो नहीं किया लेकिन उनकी रचनाओं में बीनज का उल्लेख तथा माल की खरीद–फरोख्त के इलावा व्यापारी के अर्थ में भी प्रयोग होता है। इस जाति के लोग लेन–देन का कार्य करते हैं जैसे ऋण देने वाले, तथा बट्टा काटने का भी जिक्र भी करते हैं। वे व्यापार और वाणिज्य की वस्तुओं में मसालों तथा मेवों का जिक्र करते हैं।

सूर श्वपयों, चाण्डालों और डोमों के बारे में इतना ही कहते हैं कि दीनानाथ की कृपा से श्वपयों का भी उद्धार हो जाता है।

अन्त्यंज का वर्णन सूर ने कृष्ण के विविध संस्कारों क प्रसंग में किया तथा दाईढ़ाढिनी के आकर मंगल गाने का वर्णन करता है।

सूर अहीर जाति को निम्न समझते है। अपने काव्य के माध्यम से सूर का ध्येय समकालीन राजनैतिक धार्मिक–सामाजिक अन्तर्विरोधों का बखान न करके समानता पर आधारित एक ऐसे मानवतावादी समाज की सष्टि करना था जो विश्व बंधुत्व तथा प्रेम के निश्छल तत्त्व पर आधारित है। तुलसी के राम–राज्य के समान सूर का रामराज्य ब्रज था। सरल, सौहार्द एवं रस से ओतप्रोत समाज है जिसमें जातिगत तथा वर्गगद भेद समाप्त रखा है। स्वामी–सेवक, राजा–प्रजा, ठाकुर–ठकुराइन तथा सामान्य स्त्रियों तक का संबंध समता, एकता और निजत्व के मूल मंत्र पर आधारित है। यह तथ्य सूर को भक्त ही नहीं एक संत की श्रेणी मे ला खड़ा करता है।

सूर के कृष्ण निम्न जातियों के भक्तों, पापियों एंव स्त्रियों के रक्षक है लेकिन दासी–पुत्र को निम्न ही समझते हैं क्योंकि रूढ़िवादी विचार–पद्धति के पोषक वर्णाश्रण व्यवस्था का दढ़ता से अनुसरण चाहते थे अतः उन्होंने वर्ण–संकर को अवैध घोषित किया। इसी आधार दासी पुत्र विदूर का अतिथ्य कृष्ण द्वारा स्वीकार करने पर दुर्योधन कृष्ण पर व्यंग्य कसते हैंः

क्यों दासी-सुत कै पग-धारे?...जदूकुल लाजीन मारे।

सूर ने कृष्ण को वर्ग गत भेदभाव कम करने वाला तथा गरीबों का रक्षक के रूप में चित्रित किया कृष्ण की बाल–क्रिड़ा के माध्यम से अर्थिक असमानता तथा वर्ण भेद को सूर भुला देता है।

सूर कृष्ण लीलाओं के माध्यम से आत्म–धर्म और धर्म–साधना में विश्वास करते हैं। सूर पुष्टि–संम्प्रदाय में दीक्षित थे। वे आष्टछाप कवि माने जाते हैं। भगवान की सेवा–पूजा में नित्य सेवा और नैमित्तिक वर्षोत्सव के लिए वे कीर्तन–पद रचते थे, गाते थे। सूर के काव्य गोपियाँ प्रेम–भक्ति की चरम सीमा को दर्शाती है लेकिन सूर का मुख्य पक्ष वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भक्ति हैं।

सूर ने पुष्टि–मार्ग में सेवा पर बहुत जोर डाला है तथा वे मानसी सेवा श्रेष्ट मानते हैं। जैसी सेवा वैसा फल। सूर की रचनाओं में विभिन्न रूपों की सेवाओं का भरपूर जिक्र हैं। सूर की धर्म–साधना को हम –'प्रेम–साधना' कह सकते हैं। भगवान की प्राप्ति भगवान के चरणों में समर्पण से होती है समर्पण–पुष्टि–उदातीकरण की प्रक्रिया ही सूर की धर्म–साधना है।

सूरदास की कृष्ण–भक्ति जीवन का संगीत साथ लेकर चली थी। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों ने जो वैराग्य जन–मानस में उत्पन्न कर दिया था, उसे उन्होंने बड़ी

सहजता से धो दिया। निःसंदेह भावनात्मक दष्टि से कृष्ण–भक्ति के माध्यम से प्रस्तुत सूर का ब्रज मनुष्य के लिए पलायन हो सकता था किन्तु सामाजिक दष्टि से ऐसा नहीं था वरन् उसका अपना मूल्य था। जीवन के आवश्यक अंग सौन्दर्य पर आधारित सूरसागर में सत्य एवं शिव का समावेश अनायास रूप से हो जाता है। सूर ने कृष्ण के बाल–जीवन एवं राधा–कृष्ण की 'रास लीला' के माध्यम से अन्तर्मन के अनन्त मनोवैज्ञानिक सत्यों का उद्घाटन किया है जिससे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की घटनाओं तथा मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है। महाकवि सूरदास समाज से निरपेक्ष कल्पना लोक में विचरण करने वाले ही सन्त नहीं थे वरन् उन्होंने विनय के पदों में भारतीय जीवन के स्तम्भ किसान, परगना के मुख्य अधिकारी शिकदार तथा राज्य सत्ता द्वारा जमाबन्दी व लगान वसूल करने के लिए नियत स्थानीय अधिकारियों और उनकी कार्य प्रणाली पर विशेष प्रकाश डाला है। मुगलकालीन भारत में स्थित ग्राम, किसान, खेती और उसकी मालगुजारी वसूलने की विविध प्रक्रियाएँ एवं बहियों का फारसी और अरबी के शब्दों में उल्लेख कवि को पलायनवादी नहीं अपितु ठोस यथार्थ का चित्रण करने वाला काव्यकार सिद्ध करता है। पुष्टि मार्गी सम्प्रदाय के अभिन्न अंग सूर ने श्री गोपाल जी के मन्दिर में बैठ कर श्री नाथ जी की अष्टयाम सेवा के प्रमुख गायक के रूप में समकालीन दैनिक जीवन खान–पान, वस्त्राभूषण, मनोरंजन एवं लीलाओं का वर्णन तत्कालीन समाज की सापेक्षता में किया है। जिसमें मुगलकालीन दरबारों की भव्यता और नागरिक मूल्यों की स्पष्ट झलक मिलती है।

सूरदास कृष्ण की मार्धूय मूर्ति के रस सागर में विभिन्न रूपों में वर्णन करते हुए सामाजिक वर्ग एवं वर्ण–भेद से दूर रहे तथा उन्होंने ब्रज को प्रेम की भावना पर आधारित सामाजिक जाति–भेद, कुल–भेद की परिधि से निकाल कर समानता एवं मानवतावाद की नींव पर खड़ा किया।

तुलसीदास

श्रेष्ठ और शक्तिशाली राजा के समान ही सन्त भी देश व समाज में शान्ति, सुव्यवस्था और सन्तुलन स्थापित करने में योगदान करते थे। राजा सशक्त सेना द्वारा देश की बाह्य आक्रमणकारियों से रक्षा करता था तथा शासन और व्यवस्था द्वारा प्रजा में आन्तरिक द्वन्द्वों का समाधान करके शान्ति स्थापित करने में प्रयत्नशील रहता था तो सन्त समाज की जन–संचेतना को उभार कर परब्रह्म और आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कराने के साथ मानव जाति को नैतिक और सामाजिक मूल्यों तथा गुणों से अवगत कराता हुआ शान्तिमय एवं संतुलित समाज की संरचना के लिए दिशाबोध भी कराता था। मध्यकालीन सन्तों–जिनमें निर्गुण ज्ञानाश्रयी तथा निर्गुण प्रेमाश्रयी भक्त, वैष्णव एवं सूफी सन्त सम्मिलित थे–के द्वारा किए गए सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों का देशव्यापी प्रभाव पड़ा था। इस काल के प्रमुख सन्त तुलसी ने देशव्यापी धार्मिक एवं सामाजिक विकृतियों का खंडन करके एक आदर्श समाज का स्वप्न देखा था।

मर्यादा–प्रिय तुलसी ने तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक विकृतियों को दष्टिगत रखकर एक आदर्श समाज–राम राज्य की परिकल्पना की जो परिष्कृत वर्णाश्रम धर्म–व्यवस्था पर आधारित थी। उनके अनुसार जब समाज में चारों वर्ण अपने–अपने कर्त्तव्य एवं कर्मों में लीन रहते हैं तथा एक वर्ण दूसरे वर्णों के कार्यक्षत्र में हस्तक्षेप नहीं करता तभी उनके आदिदैविक, आछिभौतिक और आम्तिक परितापों का अन्त होता है तथा सुख, शान्ति एवं संतुलित समाज की संरचना सम्भव होती है।

तुलसीदास का जन्म एक सरयूपारीय ब्रह्मण परिवार में 1532 ई० में या उसके आसपास ही हुआ

था। परम्पराओं के अनुसार उनके पिता का नाम आत्माराम दूबे, और माता का नाम हूलसी था; और उन्होंने अपनी पत्नी रत्नावली के व्यंग्य के कारण सन्यास ले लिया था। यह माना जाता है कि उन्होंने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ रामचरितमानस या रामायण की रचना 1574 ई० में 42 वर्ष की आयु में प्रारम्भ की थी; और उसे दो वर्ष और सात माह में पूर्ण कर लिया था। इस मुख्य कृति के सिवा उन्होंने कई और ग्रन्थ; जैसे गीतावली, कवितावली, विनय–पत्रिका आदि भी लिखे। रामचरितमानस एक बड़ी ही साहित्य–गुणों से युक्त कृपा होने के सिवा उच्च श्रेणी का भक्ति–प्रधान ग्रन्थ भी है। तुलसीदास राम के उपासक थे; और उन्होंने अपने प्रिय इष्टदेव का बहुत ही आदर्शमय चित्र प्रस्तुत किया है। वे राम को ईश्वर का अवतार समझते थे; और यह मानते थे कि मनुष्य उन्हें भक्ति या प्रेम से प्राप्त कर सकते हैं। सर जार्ज ग्रियसेन और वी०ए० स्मिथ जैसे आधुनिक विद्वानों ने रामायण की एक ऐसी सुन्दर कलाकृति और रचना के रूप में भूरि–भूरि प्रशंसा की है, जिसने कि सारे उत्तरी भारत में लाखों हिन्दुओं के धार्मिक विचारों और चरित्र को गढ़ा है। वे रामायण को हिन्दू–धर्म की बाइबिल मानते हैं। इस प्रकार रामायण और अपने स्वयं के जीवन के उदाहरण द्वारा तुलसीदास ने भक्ति–आन्दोलन के उत्थान और विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

तुलसीदास की मत्यु 91 वर्ष की आयु में 1663 ई० में हुई थी। उन्होंने किसी अलग सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की थी। लेकिन फिर भी उन्हें आज भी महान वैष्णव सन्त और आचार्य माना जाता है; और वे कोटि–कोटि स्त्री–पुरुषों के हृदय में अपनी अमर कृतियों—विनय–पत्रिका और रामचरितमानस—के कारण विराजमान हैं।

सूर ने कृष्ण, राधा तथा मुग्ध गोपियों के रसमय जीवन को ही अपनी रचनाओं का आधार बनाया। उनका ब्रज प्रदेश प्रेम और समता के भाव पर आधारित था, वह जातिभेद एवं वर्गभेद से कोसों दूर थे। उन्होंने सिद्धान्त रूप में वर्णाश्रम धर्म–व्यवस्था का विरोध नहीं किया किन्तु वह वर्णाश्रम धर्म–पालन को वेद–पथ नहीं कहते। श्रीकृष्ण की प्रेम–माधुरी ही सूर के लिए वेद, गीता और पुराणादि का सार है। वह भक्त के लिए जातिभेद, कुलभेद सभी को नगण्य समझते हैं। उनकी चरम साध्य प्रेम लक्षणा भक्ति के अन्तर्गत यह निरर्थक और असंगत है।

गोस्वामी तुलसीदास ने जिस प्रकार समाज में दुर्जनों की संख्या सज्जनों से अधिक बताई है वहाँ पाखण्डी एवं धूर्त सन्तों का भी बाहुल्य बताया है। तुलसी ने सन्तों द्वारा समाज पर पड़े प्रभाव को दो रूपों में विभक्त किया है। प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत तुलसी ने 'कलयुग' वर्णन में जनता को पथभ्रष्ट करने वाले सन्तों का चित्रण किया है, जो वेदविहित मार्ग का परित्याग कर मिथ्या आडम्बर से युक्त मात्र झूठी डींग हाँकते हैं। द्वितीय श्रेणी में नैतिक एवं सामाजिक गुणों से विभूषित समाज में संतुलन एवं मानवता का मार्ग प्रशस्त करने वाले श्रेष्ठ सन्त सम्मिलित हैं।

तुलसी ने अपने काल में प्रचलित अनेक सम्प्रदायों के साधुओं, सन्तों एवं योगियों तथा उनमें फैले अन्धविश्वास और बाह्याडम्बर की आलोचना की है। यह साधु शरीर में भस्म रमा, सिर पर जटाएँ धारण किए, हाथ में कमंडल और नाखून आदि बढ़ाये रखते थे और जिन्हें प्रायः भक्षाभक्ष का विचार नहीं होता था तुलसी ने अपने काल में इन ढोंगी योगियों के समाज में सम्मानित होने तथा पूजे जाने पर क्षोभ प्रकट किया।

असुभ बेष भूषन धरे, भक्षाभक्ष जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूजिति कलिजुग माहिं॥

शाक्तमतावलम्बी वामपंथी संन भूतों को ध्याने और पैशाचित क्रियाओं को सम्पन्न कराने, तथा सुरा सेवन के कारण विशेषतया निन्दनीय थे।

तुलसी ने गोरखनाथ द्वारा प्रचारित नाथपंथ में योगादि द्वारा सिद्धि प्राप्त करने वाले योगियों का भी डट कर विरोध किया है। धर्म की सच्ची भावनाओं को न समझने वाले इन साधुओं को वह नीच तथा अज्ञानी समझते हैं और उन्हें अपने स्वरूप, संसार में अलख निरंजन का नारा लगाने के लिए फटकारते हैं।

'हम लखि लखहि हमार, लखि हम हमार के बीच
तुलसी अलखहि का लखहि, राम-नाम जपु नीच'

तुलसी ने सरावगियों अथवा जैनियों और बौद्धों पर वैदिक धर्म को न मानने पर कटाक्ष किया है। तुलसी ने बौद्धों और जैनियों का विरोध मात्र उनके वेदों तथा गंगा आदि तीर्थस्थानों पर आस्था न रखने के कारण ही नहीं किया वरन् वैदिक धर्म के मूल वर्णाश्रम धर्म में अनास्था रखने के कारण किया था। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि तुलसी वर्णव्यवस्था को भारतीय जन–जीवन में संतुलन एवं शान्ति स्थापित करने की आधारशिला मानते थे।

मनुष्य–मात्र के प्रेमी तुलसी ने राम नाम व राम भक्ति के द्वारा जनसाधारण को गहस्थ में रहते हुए मोक्ष का मार्ग बताया, साथ ही आपसी विद्वेष और दुःखों में पड़े हुए मनुष्यों को दया, समता, धैर्य, सहिष्णुता ओर सत्यता का मूल मंत्र पढ़ाया। मानव के जीवन को सुखमय और उन्नतिशील बनाने के लिए नैतिक गुणों के अतिरिक्त उपर्युक्त सामाजिक गुणों को होना वांछनीय है। तुलसी की विभिन्न कृतियों में साधु, सज्जनों एवं संतो के स्वभावगत सामाजिक गुणों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। जिनके कारण वह समाज में सन्तुलन, शान्ति एवं सुख की सष्टि करते हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना अनुपयुक्त न होगा कि यद्यपि मध्यकालीन भारत में साधु, संत एवं सज्जन पुरुष एक–दूसरे से भिन्न थे किन्तु तुलसी ने इनको कभी भिन्न तथा कभी समानार्थ में प्रयुक्त किया है।

तुलसी ने सज्जन साधु एवं सन्त तीनों को ही नैतिक और सामाजिक गुणों से सम्पन्न बताया है। साधु और सन्त विशेषकर समाज–कल्याणार्थ जीवन उत्सर्ग करते हैं। साधु के चारित्रिक गुणों की तुलना कपास तथा ऊख से करते हैं जो समाज–कल्याणार्थ अनेक कष्ट उठाते हैं। किन्तु दुष्ट जन सूरवानी के समान दूसरों का अहित करने के लिए कष्ट सहते हैं।

सन्तों द्वारा समाज में किए गए योगदान को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि जिस प्रकार नाव में लोहा लगाने से वह दढ़ हो जाती है तथा यात्रियों को समुद्र से पार कराने में समर्थ होती है, उसी प्रकार सच्चे साधु और सन्तों की संगति समाज में शान्ति व सुव्यवस्था स्थापित करती है। यही नहीं, समाज में व्याप्त दुर्जन भी सन्तों की संगति से वैसे ही शुद्ध हो जाते हैं जैसे पारस के स्पर्श से लोहा। किन्तु यदि दैवयोग से कभी सज्जन दुर्जनों की संगति में पड़ जाते हैं तो वहाँ भी मणि के समान स्वयं में सद्गुणों का ही अनुसरण करते हैं।

मानव जीवन के अन्तर्मन की गहराइयों में गोता लगाने वाले मनोविज्ञ तुलसी ने जहाँ समाज में समता, दया, प्रेम, धैर्य व संतोष तथा निरभिमान मनुष्य जीवन के आवश्यक गुण बताये हैं वहाँ साथ ही साथ संसार में बहुतायत से व्याप्त छल–कपट, क्रोध–लोभ से दूर रहने पर बल दिया है।

सामाजिक जीवन में भेदभाव की भावना से रहित व्यवहार को तुलसी ने 'समता' का आधार माना।

'तुलसी ममला राम सौं, समता सब संसार।'

तुलसी के लिए समता का अर्थ समानता से नहीं है क्योंकि कवि के लिए समाज में वर्ण–विशेष के लिए अलग–अलग निर्धारित कर्त्तव्य है। समता का अर्थ द्वेष भाव न रखने व सबको एक दष्टि से देखने से है। वह गीता में व्यक्त 'समत्वं' पर आधारित है। स्पष्ट है कि समानता की भावना जीवन में सामान्य जन के लिए कठिन है। तुलसी ने ही समता समाज में स्थित विभिन्न वर्गों के लोगों को एक–दूसरे के कार्य धर्मों में हस्तक्षेप करने से रोंके तथा किसी एक वर्ण को दूसरे वर्ण के लोगों के प्रति अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के प्रयत्न को त्याज्य बताते हुए समता व प्रेम के भाव को फैलाएँ।

'कोपे सोच न पोच कर, करयि निहोरन काज।
तुलसी परिमिति प्रीति की, रीति राम के राज।।'

दया समता का स्वाभाविक गुण है। समाज के लिए आवश्यक गुणों में दया एवं निरभिमान मुख्य हैं। दया में सामाजिकता की भावना दढ़ होती है और निरभिमान से मनुष्य समाज में संवद्धि एवं उन्नति में तटस्थ रह सकता है।

द्रष्टव्य है कि तुलसी ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को न समझने वाले हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही गँवार कहा है। तुलसी के विचार में प्रत्येक धर्म मनुष्य को ज्ञानी और विवेकी बनाता है किन्तु जो अविवेकी और अज्ञानी हैं, आपस में एक–दूसरे से लड़ते हैं, वह गँवार की श्रेणी में आते हैं।

सन्त का धर्म मानव धर्म होता है। यही उसके सन्तत्व का लक्षण है। सूर एवं तुलसी, की धर्म–साधना इसी मानव–धर्म की धर्म–साधना थी। सूर तथा तुलसी ने वैष्णव धर्म का पुररुत्थान अत्यन्त उदार और शुभ्र रूप में किया। दोनों ने परम्परागत वर्णाश्रम व्यवस्था में विश्वास करते हुए भी उसको परिष्कृत करने के स्तुत्य प्रयास किए।

तुलसी ने समाज में संतुलन एवं समता स्थापित करने के लिए चारों वर्णों को अपने–अपने कार्य धर्मों में रत रहने की मंत्रणा अवश्य दी है, किन्तु साथ ही समाज का गुणाश्रयी विभाजन भी किया है। समाज में सज्जनों की अपेक्षा दुर्जनों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण ही जनसाधारण को दुर्जनों और उनके द्वारा समाज में किये जाने वाले उपद्रवों के प्रति सचेत किया था। इसीलिए उन्होंने भक्त के लिए गहस्थ धर्म को बाधक नहीं माना। उनके अनुसार कोई भी प्राणी गहस्थ धर्म का पालन करते हुए भगवान का भक्त बन सकता था। इसके अतिरिक्त जाति–पाँति के बंधन शिथिल कर दिए थे। वस्तुतः तुलसी ने जनसाधारण के सामने अपने जीवन का दुष्टान्त स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया था। वह नैतिक गुणों के साथ–साथ सामाजिक गुणों–सत्य, दया, विवेक और समता पर बल देते हैं। अतः उनके कृतित्व एवं व्यक्तित्व में व्याप्त विरोधाभास को लक्ष्य करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि दूरदर्शी तुलसी ने उस समय देश व समाज में संगठन, सुव्यवस्था व संतुलन स्थापित करने के लिए जहाँ परिष्कृत वर्ण व्यवस्था को स्वीकार किया वहाँ साथ ही व्यक्तिगत जीवन में उदारता, सहिष्णुता और समता को स्वीकारा है। जिससे समाज में मानवीय मूल्यों की रक्षा होती है। दूसरे शब्दों में व्यष्टि के साथ समष्टि का सम्बन्ध जोड़ने के प्रयास में ही उनका लोक–मंगल निहित है। जीवन के विविध पक्षों में स्थित अंतर्विरोधों को

संवेदनात्मक दष्टि से चित्रित करने और उनमें मानवीय मूल्यों को आदर्श दष्टि से सुरक्षित स्वरूप प्रदान करने का प्रयास ही उनके काव्य को आज के संदर्भ में सापेक्ष और उपादेय बना देता है।

सन्तों ने मात्र मानवता के पक्ष को ही सबल नहीं किया वरन् जो तत्व मानवता के मार्ग में अवरोधक और शोषक थे उनके प्रति निर्मम आघात भी किए। इन आघातों से हिन्दू–मुसलमानों के बाह्म आडम्बर और अन्धविश्वास पर चोट की। इतना होते हुए भी सन्तों का प्रभाव बहुत स्थिर और ग्राह्य न हो सका, कारण उनका कार्य–क्षेत्र बहुत दुरूह था। दो विश्व–व्यापी मित्र धर्मों की आपसी घणा और द्वेष उनके मार्ग के बाधक थे। उनके मार्ग के अवरोधक तत्त्व शताब्दियों की कठोर रूढ़ियाँ, बलिष्ठ ब्रह्मण धर्म और जनता की अशिक्षा तथा अन्धविश्वास थे। परम्परागत रूढ़िवादी संस्कारों में बँधी जनता मानवता का पाठ पढ़ाने पर भी अपने पुरातन परिवेश को नहीं छोड़ पाती थी।

भक्ति आन्दोलन अकबर के शान्तिमय शासन काल में इस मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में सर्वाधिक सफल हुआ। यह काल भारतीय इतिहास में अपने विशेष महत्त्व रखता है। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पचास वर्षों की इस अवधि ने अनेक सौन्दर्य बिन्दु समेट रखे हैं। सूर, तुलसी इस युग की ये महान् विभूतियाँ हैं जिनकी तुलना अन्यत्र दुर्लभ है। समाज के लिए धर्म–साधना की दष्टि से इन दोनों का योगदान अद्भुत है। तुलसी की रसमयी समाजोन्मुखी लोक–मंगल की धर्म–साधना में तथा सूर के वाणी–संगीत की सौन्दर्यमयी शक्ति में जनता का चित्त रम गया। वस्तुतः वैष्णव भक्ति की जो उदारता और विश्व मानवता का व्यापक तादात्म्य स्थापित किया। अतः यह समाज के लिए अमूल्य योगदान है।

अध्याय - 7

भक्त नारी : मीराबाई

Woman Bhakta : Meerabai

मध्यकाल में जड़ता और जतनशीलता के बीच भक्ति आंदोलन हुआ। समाज में चेतना शोषण जाति–प्रथा के विरुद्ध आई तथा इन सबके बीच स्त्री–समाज की स्थिति कैसी थी। इस समय स्त्री को चार दीवारी में बंद कर विलास की वस्तु समझा गया। गाँव के छोटे जमींदार से लेकर राजा–महाराजा तक में अनेक स्त्रियाँ रखने की परम्परा से बन गई थी। इसी कारण बाल विवाह तथा सती प्रथा का भी विकास हुआ। पति की मत्यु के बाद स्त्री का जीवन प्राय नरक के समान होता था। परिवार का आवश्यक अंग होने के बावजूद उसे परिवार के किसी भी निर्णय में सहभागी होने का अधिकार नहीं था। शुभ कार्यों में उसे दूर रखा जाता था। इस प्रकार की उपेक्षा से बचने के लिए संभवतः स्त्री सती होना चुनती थी। बहु–विवाह की परम्परा ने भी सती प्रथा को और भी बढ़ावा दिया। अबोध बाल–विद्यवाओं को भी जबरन सती होने के लिए मजबूर किया जाता था।

पर्दा प्रथा भी इस युग में नारी की लज्जा और चरित्र की आवश्यक अनिवार्यता के रूप में चल पड़ा। जिसके परिणामस्वरूप नारी को अपनी इच्छा से देखना एवं बोलना भी प्रतिबन्धित कर दिया गया था। पुरुष वर्ग से अपनी कायरता और भोग करने के एकाधिकार को बनाये रखने के लिये स्त्रियों पर इतने सारे प्रतिबन्ध लगा दिये और उसे समाज में सक्रिय भागीदारी की भूमिका से पीछे धकेल कर पशुवत् मूक जीवन जीने के लिए बाध्य कर दिया था।

सामाजिक–राजनीतिक कारणों के साथ धार्मिक सम्प्रदायों ने भी नारी शोषण को बढ़ावा देकर उसे घोर यत्रणाओं भरे जीवन की ओर धकेल दिया था। इस प्रकार के संप्रदाय लम्पट साधकों की विलासिता और इच्छापूर्ति के अलावा और कुछ नहीं थे। ये संप्रदाय 'सहज साधना' और 'महासुख' के नाम पर इस प्रकार की घणित प्रवत्तियों में लीन थे। दर्शन और भक्ति के मुलम्मे के साथ अपने मत को जनता में प्रचारित कर रहे थे लेकिन जनता पर इसका विशेष प्रभाव नहीं था। इस प्रकार सम्प्रदायों में नीलपट संप्रदाय कापालिक संप्रदाय बौद्ध संप्रदाय, सहज संप्रदाय, कौल मार्ग तथा नाथ पंथ आदि थे। जिन्होंने वाम साधना को अत्यधिक मात्रा में प्रश्रय दिया था। नीलपट संप्रदाय में वेश्या सरा एवं काम का अत्यधिक महत्व था। इस संप्रदाय के साधक अत्यन्त निचली श्रेणी के भोगपरक धर्म का प्रचारक करते थे। मध्य युग में शाक्त मत भी प्रभावशाली हुआ। इसमें स्त्रियों के साथ संसर्ग प्रचलित था। इनकी उपासना में घोर अनाचार था तथा इनके साधक गुह्य रूप से साधना करते थे।

मध्यकाल में नारी को भोग की वस्तु बना देने वाला समाज उसे बंधनों में जकड़ने के लिये अनेक प्रकार के मायाजाल का प्रयोग करता रहा होगा। घर परिवार से लेकर मठों तक में नारी स्वतन्त्र

नहीं थी। लेकिन विचित्र बात यह है कि सामती शासन, वर्ण व्यवस्था तथा धार्मिक कठमुल्लावाद का विरोध करने वाले कबीर आदि कवियों ने भी, प्रकारांतर से समाज सुधारक भी कहलाये नारी की निन्दा ही की है।

भक्त कवियों ने अपने वक्तव्यों द्वारा नारी को माया, ठगिनी, सर्पिणी, झूठी, अमंगलकारी एवं दुर्बुद्धि बताया है। उसके सगुण भक्त कवियों ने जिन चरित्रों की सर्जना की है, वे भी पुरुष प्रधान समाज में बराबरी की अधिकारिणी नहीं हैं। तुलसी ने सीता, कौष या, कैकेयी, मंदोदरी और सुलोचना को विशेष रूप से चित्रित किया है। लेकिन इनका कोई व्यक्तित्व पुरुष के सामने है, यह कोरी कल्पना ही है। सीता का निर्वासन, कौशल्या की इच्छा के बिना उसके पुत्र को चौदह वर्ष का बनवास, कैकेयी के किये पर पूरे समाज ही नहीं उसके पुत्र तक ने जो कुछ कहा वह सब, मंदोदरी का बार–बार विलाप कर अपने पति को मनाना और पति द्वारा नारी में आठ अवगुण की प्रतिष्ठा तथा सुलोचना का सती होना – उस समय की नारी की नारकीय स्थिति का वर्णन ही है। जिस रामराज्य की कल्पना तुलसी करते नहीं अघाते उसमें नारी को कोई अधिकार नहीं है। सूर की गोपियाँ उद्धव की जो खरी–खोटी सुनाती हैं उससे उन्हें मिलता क्या है। उनके प्रिय कृष्ण जिनके लिये वे सब कुछ छोड़कर पीछे भागती थी, वे तो बिना पूछे ही मथुरा चले गये। सूफियों के यहाँ भी नारी या तो माया है या परमात्मा सामान्य नारी कहीं नहीं है।

अतः यह कहना सही नहीं है कि भक्ति कवियों के यहाँ नारी की स्थिति मध्ययुग की नारी से अच्छी है। निर्गुणिये संतों, सूफियों से लेकर सगुण भक्त कवियों तक ने नारी निंदा में कोई कमी नहीं छोड़ी है।

मध्ययुगीन नारी विरोधी समाज में ही मीराबाई अकेली ऐसी हैं, जिन्होंने सामाजिक रूढ़ियों और पारिवारिक मान्यताओं को तिलांजलि देकर स्वतन्त्रता का वरण किया।

मीराबाई (1498-1546 ई.)

मीराबाई सोलहवीं सदी के भारत के महान् सन्तों में थी। वे मेड़ता के रतनसिंह राठौर की एकमात्र कन्या थीं; और जोधपुर की नींव डालने वाले राव जोधाजी की परपोती थी। अकबर के 1567-68 ई. के आक्रमण के समय चित्तौड़ के लिए युद्ध करने वाला सुप्रसिद्ध वीर जयमल उनका चचेरा भाई था। मीराबाई का जन्म मेड़ता जिले के कुदकी नाम ग्राम में 1498 ई. में या उसी के आसपास हुआ था। उनका विवाह सन् 1516 में राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र युवराज भोजराज से हुआ था। भोजराज की मत्यु 1518-1523 ई. के बीच में ही कभी अपने पिता के जीवन–काल में ही हो गयी; और मीराबाई तरुण अवस्था में ही विधवा हो गयीं। वे बचपन से ही बड़ी धर्मालु थीं; और अपने पिता एवं पितामह की तरह वैष्णवों के कृष्ण सम्प्रदाय की अनुगामिनी थीं। अपने पति की मत्यु के पश्चात् वे पूर्ण रूप से धार्मिक कृत्यों में लग गयीं। तुरन्त ही पश्चात् अन्य आपदाओं की झड़ी–सी लग गयी, और मीरा का हृदय सांसारिक सम्बन्धों से विरक्त होता गया। उनके पिता रतनसिंह मार्च 1527 ई. में खानवा के युद्ध में राणा सांगा की ओर से युद्ध करते हुए मारे गये, और भग्न हृदय राणा सांगा का भी देहान्त 1528 ई. के प्रारम्भ में ही हो गया। सांगा के पश्चात् उनका द्वितीय पुत्र रतनसिंह राणा बना। पर वह भी सिंहासनरोहण के तीन ही वर्ष पश्चात् चल बसा; और 1531 ई. में मेवाड़ की गद्दी पर उनका छोटा भाई विक्रमादित्य बैठा। मीराबाई बड़ी ही धार्मिक प्रवत्ति की थीं। वे अब पूर्णरूप से भक्तिमय जीवन व्यतीत करने लगीं; और भक्ति–भावना से ओत–प्रोत हो उठीं। अपनी कृष्ण–भक्ति और भक्तों की आश्रयदाता के रूप में उनकी ख्याति दूर–दूर तक फैल गयी, और साधु–सन्त स्त्री–पुरुष दूर–दूर से चित्तौड़ आने लगे।

राणा विक्रमादित्य को सिसौदिया वंश की राजकुमारी मीरा का किन्हीं भी अन्य लोगों के साथ, चाहे वे कितने ही भक्त क्यों न हों, इस प्रकार स्वच्छन्दता से मिलना–जुलना पसन्द न था। इन्होंने इसका विरोध किया। पर जब विरोध का मीरा पर कोई असर न पड़ा तो कहा जाता है कि उन्होंने मीरा को विष देकर छुटकारा पाना चाहा। लेकिन सौभाग्य से मीरा पर विष का कोई प्रभाव न पड़ा। राणा से तनाव उत्पन्न हो जाने के कारण मीरा अपने चाचा बीरमदेव के पास रहने लगी। बीरमदेव मेड़ता के सरदार थे। यहाँ भी उनका नित्य का कार्यक्रम चलता रहा। वे तपस्या, कीर्तन और नत्य में भाव–विभोर रहने लगीं। मीरा अन्य साधु–सन्तों और स्त्रियों की मण्डली में भी कीर्तन करती थीं। इस प्रकार उन्होंने मेड़ता में कुछ वर्ष काटे, लेकिन जब जोधपुर के राजा मालदेव ने मेड़ता पर आक्रमण कर उसे जीत लिया, तो मीरा ने द्वारिका की तीर्थ–यात्रा करने का निश्चय किया। द्वारिका में उन्होंने अपना सारा जीवन भक्तों की तरह व्यतीत किया, और उनकी मत्यु 1547 ई. में हो गयी।

कहा जाता है कि मीरा ने बहुत–से पदों की रचना की थी। वे सभी भजन थे। लेकिन नरसी म्हारो और कुछ अन्य को छोड़कर मीरा की कोई मुख्य रचना हमें उपलब्ध नहीं हुई है। मीरा की प्रसिद्धि मुख्य रूप से उनके भजनों के कारण ही है। वे ब्रजभाषा और राजस्थानी में रचे गये हैं। उनके कुछ पद गुजराती में भी हैं। वे भजन कृष्ण के प्रति प्रेम और भक्ति–भावना से ओत–प्रोत हैं। वे इतने मधुर हैं कि सुनने के साथ ही विरह, प्रेम और भक्ति की कोमल भावनाएँ उठ आती हैं। मीरा के सभी भजन कृष्ण को सम्बोधित कर लिखे गये हैं। उन्हें अपने जीवन के हर कार्य में कृष्ण के सामने होने की अनुभूति होती रहती थी। उनके पद भक्ति–भावना और भक्ति–आवेश से परिपूर्ण हैं। महादेवी वर्मा के अनुसार मीरा के पद विश्व के भक्ति–साहित्य के रत्न हैं। महाकवि निराला तो मीरा को गीत–शैली के काव्य की देवी ही समझते थे; और सुमित्रानन्दन पन्त के अनुसार वे प्रेम और भक्ति के तपस्वी, वन की शकुन्तला और राजस्थान की मरुभूमि की मन्दाकिनी थीं। मीरा के निम्नलिखित पद उनकी गहरी भक्ति–भावना और कृष्ण भगवान में लीन हो जाने की उनकी प्रबल इच्छा को प्रदर्शित करते हैं :

(1)

मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई।
छाँड़ि दई कुल की कानि, कहा करिहैं कोई।
सन्तन ढिंग बैठि-बैठि लोक-लाज खोई।
अँसवन जल सींचि-सींचि, प्रेम बेलि बोई।
अब तो बेलि फैल गई, जानै सय कोई।
भगत दखि राजी हुई, जगत देखि रोई।
दासी मीरा लाल गिरधर! तारो अब मोई।

(2)

कोई कहियो रे मोहन आवन की।
आवन की मन भावन की।
ए दोउ नैन कह्यो नहिं मानें, नदियाँ बहैं जैसे सावन की।
आप न आवै, लिखि नहिं भेजै, बान पड़ी ललचावन की।
कहा करूं कछु वस नहिं मेरो, पांख नहीं उड़जावन की।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे, चंरी भई तेरे दावन की।

मीरा में अद्‌भुत साहस था। मारवाड़ जैसी विशाल रियासत में मेड़ता की जागीरदार की पुत्री और मेवाड़ के राणा परिवार में ब्याही जाने वाली मीरा ने न मारवाड़ की झूठी प्रतिष्ठा की परवाह की और न मेवाड़ की छद्‌म नैतिकता की। वह नारी थी, परिवार की नैतिकता को अच्छी प्रकार समझती थी। वह जानती थी कि कम उम्र में विधवा हुई नारी को इन राज परिवारों में दासी से भी बुरी स्थिति होती है। शादी के सात–आठ वर्ष बाद ही अपने पति राजकुमार भोजराज के शव के साथ न तो वह सती हुई और न विधवाओं की तरह अन्त्यज बनकर रहने को तैयार। दोनों ही स्थितियाँ उसे नारी विरोधी लगती थीं। इसलिये उसने मेवाड़ के महाशक्तिशाली राणा की परवाह किये बिना समाज में घुलना मिलना, संतों के साथ नाचना, गाना और दिन रात ईश्वर भक्ति में रहने को अपनी दिनचर्या चुना। महाराणा ने जब इसका विरोध किया तो वह बोलीं :

"राणाजी थाने जहर दियो मैं जानी।
जैसे कंचन दहल अग्नि में निकसत बारहबानी॥"

राणा द्वारा जहर देना और कृष्ण भक्ति के कारण उसका बच जाना यह मिथक भी हो सकता है। लेकिन यह तो सत्य है कि महाराणा ने अपनी पुत्रवधु को परिवार की नैतिकता और बंधनों को तोड़ने के आरोप में प्रताड़ित तो अवश्य किया होगा। यह प्रताड़ना मीरा ने जिस आत्म–विश्वास के साथ झेली उससे उसमें और अधिक हिम्मत आई। संकटों में पड़ी मीरा हिम्मत के साथ संकटों को आमंत्रित करती है, उससे टकराती है, झुकती नहीं। जैसे जहर पीने के बाद भी जीवित रहने का अर्थ अग्नि में तपकर कंचन बन कर निकलना ही है। अग्नि महाराणा के द्वारा दिये जाने वाले कष्ट हैं और उन कष्टों में निर्बाध जीवन जीती मीरा कंचन है। मीरा का यह आत्मविश्वास और महाराणा को उसकी चेतावनी मध्ययुगीन समाज में टक्कर लेती मीरा की नारी–क्षमता को ही स्पष्ट करती है। राणा जैसे–जैसे मीरा को परेशान करते रहे वह उन परेशानियों से ऊपर उठकर अपनी तरह का जीवन जीती रही। जब घर परिवार ने उसे कुलनासी आदि कहा तो उसने उसकी कोई चिंता नहीं की। यह परिवार की मर्यादा का पालन किये बिना पैरों में घुंघुरु बांधकर नाचने लगी।

"पय घुंघुरु बांध मीरा नाची रे।
लोग कहूयां मीरा भई बाबरी, सासु कहूयां कलनासी रे।"

पैरों में घुंघुरु बांध नाचना लोक और परिवार की मर्यादा का खुल्लम–खुल्ला उल्लंघन है। मीरा लुके–छिपे कोई काम नहीं करती, जो करती है सरे आम। पैरों में घुंघुरु बांधकर यानी भबके सुनाकर, सबके सामने। मीरा का यह आत्मविश्वास स्तुत्य है। इस प्रकार के कार्यों से जब घर परिवार और समाज के लोग हंसी उड़ाने लगे तो वे हिम्मत के साथ कहती है –

कड़वा बोल लोक जग बोल्या, करस्यां म्हारी हांसी।

तथा

राणाजी महाने यह बदनामी लागे मीठी
कोई निंदा, कोई बिंदा, मैं चाल चलूँगी अनूठी

बदनामी का मीठा लगना, निन्दा को बिन्दा बताकर उसका उपहास करना और अनूठी चाल चलना मीरा के दढ़ प्रतिज्ञ होने का प्रमाण है। वह अनूठी चाल चलने को कहती है, लोक द्वारा की गई बदनामी और निन्दा की चिन्ता नहीं करती, बल्कि मीठी कहकर उसे स्वीकार करती हैं। यह अनूठी चाल ही उनकी अपनी अस्मिता से प्रेरित है। अनूठी चाल का मतलब बोलचाल से अलग।

लोक मर्यादा से अलग। मध्ययुग की नारियों की तरह घर में तिरस्कृत और उपेक्षित जीवन जीने से अलग। अपनी हँसी उड़ाने वालों पर उन्हें क्रोध नहीं, दया आती है।

पर्दा प्रथा के विरोध में मीरा किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करतीं। अपने पति की मत्यु के बाद उन्हें कोई पुरुष भाता ही नहीं था। उन उनका अपना आत्मविश्वास था। जिस आत्मविश्वास के सामने दुनिया का कोई पुरुष गलत दष्टि से देखने की हिम्मत नहीं कर सकता था। इसलिये वह खुले घूमती हैं। कल्पना करिये, मध्ययुग में चित्तौड़ जैसे महाराणा की पुत्रवधु मीरा बिना पर्दे के घूमने लगे, कितना विरोध हुआ होगा। हमारे समाज में तो आज भी जब पर्दा प्रथा के विरोध की बात आती है तो बड़े–बड़े समाज सुधारक नाक भौंह सिकोड़ते हैं। लेकिन मीरा ने आज से 500 वर्ष पूर्व पर्दा प्रथा का विरोध किया। राणा जी के विरोध करने पर वे कहती हैं –

राणा जी अब न रहूँगी तोरी हटकी।
साणु संग सोहि प्यारा लागे, लाज गई घूंघट की,

राणा जी की हटकी, यानी राणा जी का हट, मर्यादा और उनका आदेश सबका उल्लंघन करती हुई मीरा साधु–सन्तों की संगति को प्यारी लगना कहकर घूंघट की अवज्ञा करती हैं। साधु–सन्तों से आशय केवल साधु–सन्तों से ही नहीं लिया जाना चाहिये, बल्कि सीधे–सच्चे व्यक्तियों हैं, जिन्हें मीरा अपनी जैसी बच्ची लगती है। जिनकी दष्टि पवित्र है, उनके लिये घूंघट की आवश्यकता नहीं? इसलिये मीरा उन लोगों के साथ रहना वरण करती है, जिनके साथ रहने पर घूंघट जैसे कृतिम आवरण की आवश्यकता नहीं मीरा द्वारा उपयुक्त व्यक्तियों का चुनाव पर दढ़ रहने का साहस उन्हें महिमामयी बनाता है। वे कहती है –

"साधु मात-पिता कुल मेरे, साधु निर्मल ग्यानी री।
राणा ने समझायौ बाई, उंदा में तो एक न मानी री।
मैं तो संतन हाथ बिकानी री।"

निर्मल ज्ञान वाले साधुओं को अपना माता–पिता और घर–कुटुम्ब मानकर उनके हाथ बिक जाना यानी पूरी तरह उनका हो जाना, इस पर महाराणा द्वारा समझाना, लेकिन फिर भी न मानकर केवल महाराणा का ही नहीं पूरे सामन्ती समाज की आज्ञा का उल्लघन है जिसे मीरा नारी विरोधी होने के कारण नहीं मानती। महाराणा यहाँ प्रतीक रूप हैं, वे समाज के मुखिया के रूप हैं मीरा उन्हीं महाराणा का विरोधकर, उनके द्वारा नारी को गुलामों की तरह रखने जाने का विरोध करती है। मीरा पूरी सामन्ती व्यवस्था के कुचक्रो और नारी विरोधी समाज के सामने तनकर खड़ी है। वह न किसी से डरती है और न किसी की चिन्ता करती है। उसने अपनी स्वतन्त्रता का मार्ग स्वयं प्रशस्त किया, उस मार्ग पर वह झूमते–गाते गवोंन्नत होकर चल रही है।

सामन्ती शासन के घनघोर अंधेरे पक्ष में उजाला बिखेरती मीरा का काव्य उनका आत्मकथ्य है। अपने कष्टों, समाज की प्रवचनाओं, रूढियों, रीति–रिवाजों, कुल–मर्यादाओं एवं समस्त अन्याय–अत्याचार को मूक होकर सहन करती नारी का विरोध मीरा के साहित्य में प्रकट हुआ है। विधवा होकर न जाने कितनी रानियाँ और सामान्य स्त्रियाँ घरों में कैद होकर परिवारीजनों की उपेक्षा और दारुण कष्ट सह–सहकर मर गई होंगी लेकिन मीरा ने उन परिस्थितियों का विरोध किया। कहते हैं कि एक बार वह जीव गोस्वामी से मिलने वन्दावन गई, वे नहीं मिले और सेवक से कहला दिया कि मैं स्त्रियों से नहीं मिलता। यह सुनकर मीरा जोर से हँसी और कहा कि मैंने तो सुना

था कि वन्दावन में पुरुष तो केवल कृष्ण, बाकी सब गोपियाँ हैं फिर यह पुरुष कहाँ से आ गये? यह सुनकर जीवगोस्वामी उनसे मिलने के लिये दौड़े आये। मीरा का यह आत्मविश्वास उन्हें घर–बाहर, स्त्री–पुरुष सभी में समान रूप से मिलता था, इसीलिये वे बेधड़क होकर अपनी बात कहती थीं, सामने वाला चाहे राणा जी हों, चाहे साधु–सन्त या कोई अन्य। वे निर्भय होकर अपनी बात कहती थीं। किंवदती हे कि सन्त रैदास से उन्होंने गुरुदीक्षा प्राप्त की थी। यद्यपि इसके कोई प्रमाण नहीं है, लेकिन उनके पदों से यह तो स्पष्ट है ही कि वे किसी प्रकार के बन्धनों को नहीं मानती थीं, जाति के बन्धन को भी नहीं।

मीरा का विरोध नारी विद्रोह का द्योतक है। यद्यपि उस युग में ताज, स्वर्णलली, चन्द्रमुखी आदि अन्य कवित्रियाँ भी हुई, लेकिन उनके जीवन में न कोई चुनौती थी और न उनके संघर्ष, इसलिये वह जीवतता भी नहीं है जो मीरा के काव्य में है। मीरा के काव्य का महत्व उसके युग के संदर्भों में रखकर देखा जाना चाहिये, कृष्ण भक्ति के अतिरिक्त विषम परिस्थितियों से लड़ने का उनका साहस और समाज की थोथी मर्यादाओं से लड़ने की उनकी शक्ति तथा नारी गरिमा और उसकी स्वतन्त्रता का मार्ग प्रशस्त करने की ललक मीरा को नारी जीवन के संघर्ष का जाज्ज्वल्यमान नक्षत्र बनातीं है। मध्य युग की मीरा उस समय संतों के लिये तो चुनौती रही ही होगी, आज भी वह उतनी महत्वपूर्ण है।

अध्याय - 8
भक्ति आन्दोलन का प्रभाव
Impact of Bhakti Movement

भक्ति आन्दोलन चौदहवीं पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में हुए महत्त्वपूर्ण राजनैतिक और आर्थिक परिवर्तनों के कारण विकसित हुआ जो कबीर, नानक और सूर तुलसी की कविताओं में अपने चरमोत्कर्ष पर मिलता है। यह आन्दोलन कई अर्थों में विशेष है।

तुर्क शासन की स्थापना के बाद भारत की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आरम्भ हुए। सिंचाई में रहट का व्यापक रूप से प्रयोग आरम्भ हुआ जिससे नदियों के किनारे विशेष रूप से पंजाब और दो आब के क्षेत्र में कपास और अन्य फसलों की पैदावार में बहुत वद्धि हुई। सूत कातने के लिए तकली के स्थान पर चरखे का व्यापक प्रयोग होने लगा। इसी तरह रुई धुनने में ताँत का प्रयोग जन साधारण के लिए महत्त्वपूर्ण बन गया था। कपास ओटने में चरखी का भी प्रयोग शुरू हुआ। तेरहवीं सदी में करघा के प्रयोग से बुनकरों और वस्त्र उद्योग की स्थिति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। कपड़े की रंगाई और छपाई की भी इसी बीच व्यापक उन्नति हुई। मध्य एशिया के सीधे सम्पर्क के कारण भारत के व्यापार का भी बहुत प्रसार हुआ। इन नई परिस्थतियों ने व्यापारियों और कारीगरों का सीधा सम्बन्ध और गहरा करने में सहयोग दिया। ये व्यापारी कला और संस्कृति के आदान–प्रदान में भी महत्त्वपूर्ण संवाहक सिद्ध हुए। भारत के विभिन्न प्रदेशों के साहित्य में इस योगदान की विस्तार से चर्चा मिलती है। मध्यकाल के हिन्दी–साहित्य में भी छुटपुट रूप से हमें इस सम्बन्ध में अनेक उदाहरण मिल जाते हैं। मुल्ला दाऊद, कबीर, नानक और सूरदास का साहित्य विशेष रूप से दष्टव्य है। ये व्यापारी देश के अन्दर ही व्यापार नहीं करते थे बल्कि दूसरे देशों में भी जाते थे। इसके साथ भारत की कला, साहित्य और संस्कृति बाहर गई और वहां से अनेक विचार धारायें और साहित्य भारत में आया। इन व्यापारियों और बंजारों के सम्बन्ध में आज भी उत्तरी भारत में असंख्य लोक–कथाएँ और लोक गीत प्रचलित हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि इन घुमंतू व्यापारियों का भारत के सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन पर कितना गहरा प्रभाव था। इन नई परिस्थितियों ने शिल्पी वर्ग को बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली बना दिया था। सन्त मत में बहुसंख्या इसी शिल्पी वर्ग की हैं। इसके बाद व्यापारी और किसान आते हैं।

मोहम्मद हबीब के अनुसार, तुर्को के आगमन के बाद शहरीकरण की लहर उत्तरी भारत में फैलने लगी थी। यहां का नया शासक वर्ग नजर में रहना अधिक पसन्द करता था। कृषि और अन्य नये उत्पादन बढ़ने के कारण लगान बढ़ाने की माँग में भी वद्धि हुई। यही बढ़ी हुई माँग तुर्क शासक वर्ग को उत्तराधिकार में मिली जिसे उन्होंने शासन व्यवस्था का केन्द्रीयकरण करके और

अधिक सुव्यवस्थित किया। इस प्रकार इस शासक वर्ग को संसाधन उपलब्ध थे, जिन्हें अधिकतर शहरों में व्यय किया जाता था। इसी प्रकार कई एक नये शिल्पों का विकास हुआ, जिनमें प्रधानतः नये ढंग की स्थापत्य कला, कागज बनाना, रूई साफ करने के नये तरीके और आतिशबाजी की लिया जा सकता है।

इन नई परिस्थितियों के सन्दर्भ में आन्दोलन के परिवर्तन का भी पक्ष सार्थक रूप में विकसित होता है जिसका सबसे शक्तिशाली चित्रण कबीर, नानक, रैदास और दादू दयाल के साहित्य में हुआ है। एक ओर आर्थिक उत्पादन में कुशलता और वद्धि जिसके कारण किसानों और दस्तकारों में शोषण और अन्याय के प्रति विद्रोह की भावना की अभिव्यक्ति मिलती है। दूसरी और राज्यशक्ति को बढ़ती हुई मांग तथा विशेषकर राज्य कर्मचारियों के भ्रष्टाचार तथा तीसरी और सामाजिक अत्याचार जिसका सबसे ज्वलंत उदाहरण जाति प्रथा है। सामाजिक और प्रशासनिक अत्याचार के प्रति विशेष भावना का सबसे मर्मान्तक चित्रण कबीर और नानक के पदों में हुआ है।

कबीर के शब्दों में :

झँकार आदि है मूला :
राजा परजा एकहि भूला॥
हम तुम माँ है एकहि लोहू।
एक ही बास रहे दस मासा।
सूतर्ग पातग एक आसा॥
एक ही जननी जन्यां संसारा।
कौन ग्यान थे भये नियार :। (3)

इन कवियों ने सामाजिक विद्रपों पर तीखे आघात किये हैं परन्तु इनकी भावना नैतिकता के स्तर पर बहुत सोमा तक केन्द्रित रही है। कबीर के ये उदहारण इस प्रवत्ति पर यथेष्ट प्रकाश डालते है।

एके पवन एक ही प्राणी।
करो रसोई न्यारी जानी।
माँटी सू माटी ले पाती।
लागी कहो कहाँ धू छोती॥

भक्ति काल के पथ प्रदर्शकों ने अपने काल के सभी सामाजिक वर्गों के सामने प्रश्न–चिन्ह लगाये परन्तु राजनीतिक संस्थाओं को स्वीकार करते हुए केवल यह नैतिक आपत्ति की कि इन संस्थाओं के संचालन अपने अधिकार और दायित्व का दुरुपयोग करते हैं और यह आशा व्यक्त की कि हर व्यक्ति पूरी ईमानदारी के साथ अपने कर्तव्य का निर्वाह करेगा इसी में व्यक्ति और समाज का भला है :

दादू सो मोमिन मोम दिल होई।
साई कू पहिचाने सोई।
जोर न करे हराम न खाई।
सो मौमिन भिस्ति में जाई॥

भक्ति आन्दोलन के पास स्थाति सामाजिक व्यवस्था के किसी विकल्प की संभावना नहीं थी। केवल उसी समाज को एक आदर्श भाव से चलाने की कल्पना थी :

जिसको तिसको दीजिए।
सुत्रित पर उपगार।
दादू सेवत सो भले।
सिर नहिं लेवे भार॥

यदि भक्ति आन्दोलन के पास समकालीन समाज व्यवस्था के विकल्प की परिकल्पना का अभाव था जो एक वैकल्पिक समाज व्यवस्था की कल्पना का आधार उस समाज की संकटग्रस्ट स्थिति में ही देखा जा सकता है। यह ऐसी संकटग्रस्त स्थिति है जिसका समाधान एक नई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की स्थापना में ही संभव हो सकता था। ऐसी स्थितियों और उनके समाधान यूरोप के इतिहास में बहुत स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। जब दास प्रथा पर आधारित समाज के संकट का समाधान सामन्ती समाजतंत्र में ही संभव हुआ और सामन्त्री समाज के संकट का समाधान करने के लिए पूंजीवादी व्यवस्था हुई जिसके पश्चात् समाजवाद का उदय हुआ। भारत के इतिहास में संकट और उसके समाधान की अवस्थाएँ उतनी स्पष्ट नहीं जितनी यूरोप में रही हैं। यह होते हुए भी भारतीय इतिहास का मध्ययुग ऐसा था जिसमें कुछ परिवर्तन हो रहे थे तथा बहुत से तनाव और द्वन्द थे फिर भी यह स्थिति नहीं थी कि समूची स्थापित सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का उन्मूलन करके उसके स्थान पर नये समाज की स्थापना की जा सके। धर्म का आधार लेकर किसी नई व्यवस्था का निर्माण करना सम्भव नहीं है, सुधार की संभावना ही हो सकती है।

भक्तिकालीन सन्तों ने छोटे किसान, जुलाहे और अन्य छोटे–छोटे व्यक्तियों की तुलना ईश्वर से की है। इस तरह छोटे लोगों के स्तर को अपनी कल्पना में ऊँचा उठाया है। उन्होंने यह कल्पना ईश्वर और उसके दरबार के प्रतिरूप में ही। दादू दायल ईश्वर को साहिब, सुल्तान, महाराज, राव आदि संज्ञा देते हैं। और उसके दरबार में दासियों, कवियों, नर्तकों, नगाड़े बचाने वालों, खजाने और दूतों की उपस्थिति की कल्पना करते है। इस दरबार में सम्राट के दरबार के लगभग सभी कर्मचारी मौजूद रहते हैं।

कबीर, दादू, ईश्वर या गुरु और मानवीय सम्बन्धों को भी उसी रूप में देखते हैं जिसमें कि समसामयिक राजनीतिक विचारक या इतिहासकार सम्राट या प्रजा के सम्बन्धों की कल्पना करते हैं। इस कल्पना में गुरु के प्रति व्यक्ति की पूरी निष्ठा होती है। दूसरी और गुरु अपने शिष्यों की ओर दया और करुणा का रवैया रखता है।

भक्ति आन्दोलन के उत्तर भारतीय समाज की सबसे निम्न श्रेणियों और जातियों में इतना लोकप्रिय होने के बाद भी इससे शासक वर्ग को कोई खतरा दिखाई नहीं देता। इस आन्दोलन के केन्द्र में अन्याय के प्रति रोष है किन्तु विद्रोह नहीं। यदि पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी के भारत के स्थापित समाज का उन्मूलन करके उसके स्थान पर एक नये समाज की कल्पना संभव नहीं थी तो भी उस समाज को झिंझोड़ना जरूरी था। भक्ति आन्दोलन के सभी नेता समाज की निम्न श्रेणियों और जातियों से सम्बन्धित थे। कबीर बनारस का जुलाहा, नानक एक छोटा व्यापारी, अन्ना एक जाट किसान, रैदास एक चमार और बंजारा थे। इन सबने एकेश्वरवाद अपने सुधार आन्दोलन का आधार बनाया था। एकेश्वरवाद में सामाजिक समानता का सन्देश निहित होता है जिसके कारण एकेश्वरवाद समाज की उन श्रेणियों के दिल को सबसे अधिक छूता है। जिनकों सामाजिक असमानता का शिकर होना पड़ता है। इसी असमानता की पीड़ा का चित्रण उन सन्तों की वाणी में जिन्हें स्वयं भी इसका अनुभव था लेकिन उनका अनुभव उनके निजी अस्तित्व

से कहीं अधिक व्यापक था। जिस रोष के साथ इन कवियों ने वर्ण और जाति भेद का विरोध किया है उसी में इस वेदना की झलक मिलती है लेकिन अन्य पहलुओं की भाँति जाति प्रथा का विरोध नैतिक धरातल तक ही सीमित रहा। स्पष्ट है कि जाति प्रथा नैतिक धरातल पर आधारित संस्था नहीं थी बल्कि इसकी गहरी सामाजिक और आर्थिक नींव थी जिस पर उस समाज का पूरा ढांचा खड़ा था। मध्ययुगीन सन्तों के रोष की अभिव्यक्ति के फलस्वरूप इस प्रथा में लचक अवश्य आयी। किसी भी संस्था पर, वैकल्पिक चेतना के अभाव में वैचारिक शक्तिशाली आक्रमण का निष्कर्ष यही निकलता है कि उस संस्था में आक्रमणकारी के लिए भी स्थान बन जाता है। इस बात की पुष्टि में सिख समुदाय का निर्माण और विकास एक दिलचस्प उदाहरण है।

यही भक्ति आन्दोलन का मोड़ है। कबीर, रैदास और नानक के शक्तिशाली आक्रमण के फलस्वरूप व्यवस्था में एक लचीलापन आया। यह मोड़ "रामचरित मानस" में समकालीन सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र रोष या विरोध के स्थान पर उस समाज के आदर्शपूर्ण ढंग से क्रियाशील होने का आदर्श है। गोस्वामी तुलसीदास में परिवर्तन की कामना नहीं है परन्तु ये सुधार अवश्य चाहते हैं। रामराज्य के रूप में एक उटोपियों अवश्य प्रस्तुत करते हैं।

उत्तर की तरह दक्षिण में विदेशी आक्रमणों से उत्पन्न संकट और विदेशियों के आर्यीकरण का प्रश्न तो न था परन्तु पिछड़ी आदिम कबीलाई जातियों के साँस्कृतिकरण की समस्या वहां कम गम्भीर न थी। पुराना ब्राह्मण धर्म अनन्य प्रकृति के कारण यह कार्य करने में असमर्थ था। यह ऐसा कार्य था जिसे ईश्वर की सर्व सुलभ भक्ति पर आधारित वैष्णव और शैव सक्षमता के साथ सम्पन्न कर सकते थे। शुद्र और निम्न जातियों को उनकी सुधरी हुई और मजबूत स्थिति तथा संख्या के अनुरूप कम से कम प्रशासनिक क्षेत्र में रियायतें व महत्त्व प्रदान करके उन्हें सन्तुष्ट करने का कार्य भी भक्ति ही कर सकती है।

दक्षिण में भी भक्ति की एक ऐसी धारा प्रवाहित हो रही थी जिसमें स्त्रियों सहित शुद्रों व निम्न वर्गों का, जिनका अधिकांश वैष्णव धर्म के द्वारा सांस्कृतिकरण की प्रक्रिया से आदिम कबीलाई जातियों से आया होगा, को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। "पेरिय पुराण" के अनुसार नये नारों में कुछ ब्राह्मण थे। कुछ वैल्लाल और कुछ तो आदिवासी जातियों के थे। इसी तरह अलबारों में दो शुद्रा और एक निम्न पनर जातियों का था।

दूसरे उत्थानकाल में भी हम भक्ति के प्रवाह के रूप में ही पाते हैं। शैव व वैष्णव भक्त अधिकाँशतया सामान्य जनता के लोग थे और उनकी अतिभावमूलक भक्ति सरल धर्म की द्योतक थी। लेकिन बाद में उनकी भक्ति गीतों की सरलता भावोज्ज्वलता और उनकी सौन्दर्य भावना को पौराणिक अंधविश्वासों तथा सात्विक मताग्रहों के बीच दबा दिया गया। आलवार भक्तों के उपरान्त आने वाले वैष्णव आचार्य कट्टर धार्मिक कुलों के थे और परम्परागत शास्त्रों की सब मर्यादाओं की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझते थे।

रामानुजाचार्य और रामानन्द जैसे व्यक्तित्व भी जिनकी उदारता की बहुत चर्चा की जाती है, एक सीमा तक ही उदार थे। इस सम्बन्ध में विभिन्न लेखकों ने जो विचार प्रकट किये हैं उससे प्रकट होता है कि दोनों महापुरुषों की उदारता केवल औपासनिक क्षेत्र तक सीमित थी। सच–सच कहा जाये तो रामानुज और रामानन्द में जितनी उदारता थी यह वैष्णव मत में प्राचीन काल से ही रही है। इसी सन्दर्भ में देखें तो दोनों आचार्यों ने जो कुछ किया वह भक्ति की उस गहरी परम्परा का अनुगमन ही था जो मात्र कुछ औपासनिक रियायतें देकर सामाजिक आचार व व्यवस्था में

नितॉंत कट्टरता का आग्रह करती रही है। विचार और आचार, सिद्धान्त और व्यवहार की द्वैषता हमारे धर्म एवं समाज तन्त्र की पुरानी बीमारी है जिसे साहित्यकारों और इतिहासकारों ने प्रायः रेखॉंकित किया है। उच्च वर्ग के इस वैचारिक और समझौतावादी रुध का एक परिणाम तो यह अवश्य दीखता है कि हिंसात्मक विद्रोह की स्थितियॉं बहुत कम उत्पन्न हुई। साथ ही दलित जनता की मामूली छटों से ही सन्तोष करके युगों–युगों तक भारी मूल्य चुकाना पड़ता रहा। सचमुच इस दष्टि से भारत कौ प्राचीन मनीषा अन्य अनेक देशों के बुद्धिजीवियों से अधिक चुतर और व्यवहार कुशल थी।

भक्ति आन्दोलन में कई तरह के रंग और विचार रहे हैं। यहां यह प्रश्न उठता हैं कि क्या भक्ति आन्दोलन एक जन आन्दोलन था? यह सीमित अर्थों में ही जन आन्दोलन था। सम्पूर्ण अर्थों में नहीं। यह जनता के जीवन स्तर में किसी परिवर्तन का आव्हान नहीं करता। किसी आर्थिक संरचना का उद्देश्य भी इस आन्दोलन के सामने नहीं है। इस आन्दोलन की दार्शनिक परिणति स्वयं की मुक्ति और ईश्वर से एकात्मक स्थापित करना था। गुरु की सहायता से मोक्ष प्राप्त अथवा प्रभुकृपा पर अधिक बल था। इस आन्दोलन के दार्शनिक लक्ष्य भी भिन्न थे। भक्त और ईश्वर के सम्बन्ध, धर्मग्रन्थों की मान्यता तथा समाज के सम्बन्ध में इनके दष्टिकोण अलग–अलग हैं। यही नहीं शासक वर्ग के प्रति भी इनकी दष्टि एक नहीं है उसमें गहरे मतभेद हैं। हम इनके विचारों का विश्लेषण करें तो यह सुधारवाद से आगे नहीं बढ़ते। जाति व्यवस्था और ब्राणह्म वर्ग पर इन्होंने चोट जरूर की लेकिन उन ढॉंचे को तोड़ने में असमर्थ रहे। क्षेत्रों के अनुसार भी इस आन्दोलन की अपनी–अपनी विशेषतायें थी। यहीं यह लोकप्रिय भावनाओं को अभिव्यक्त करने का साधन बना और उसने विभिन्न वर्गों के तथा पष्ठभूमि के स्त्री–पुरुषों को निरंकुशता के विरुद्ध एकत्र और सक्रिय होने का अवसर प्रदान किया।

पंजाब का उदाहरण इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय है। भक्ति आन्दोलन के विकास की ऐतिहासिक पष्ठभूमिक, परस्पर क्षेत्रीय विभिन्नता वाले समाज, राजनीतिक और संस्कृति पर प्रभाव इसके उदय विकास में सहायक तत्वों के अध्ययन की आज भी आवश्यकता है।

अब महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि मध्यकाल में पूरे देश में यह आन्दोलन लोगों का ध्यान अपनी और आकर्षित कर रहे थे। समाज की जड़ मान्यताओं, उपासना–पद्धति आदि पर उन्होंने प्रश्न–चिन्ह लगाये। समाज के उपेक्षित और पीड़ित लोगों को एक सम्मान का जीवन प्रदान करने का मार्ग भी दिखाया फिर आखिर मध्यकाल के आन्दोलन कोई मूलभूत परिवर्तन करने में असमर्थ क्यों रहे? ज्ञान–विज्ञान के नये द्वार खोलने में यह क्यों असफल रहे? अपने पुराने ज्ञान–विज्ञान और टैक्नालॉजी को नये रूप में ढालने में यह क्यों असमर्थ रहे? यूरोप जो भारत से कई दष्टियों में पिछला हुआ था वह यह काम करने में कैसे सफल हुआ जबकि भारत औद्योगिकरण काने में क्यों असमर्थ रहा? इन कारणों पर बिना विचार किये हम अपने नवजागरण पर भी सही ढंग से विचार नहीं कर सकते हैं।

इन प्रश्नों का कोई सीधा सादा उत्तर देना सम्भव नहीं है, इसे भारत की जटिल सामाजिक–राजनीतिक स्थिति में खोजा जा सकता है मध्यकाल के इतिहासकारों ने इसके उत्तर देने प्रयास किये हैं,

प्रो॰ इरफान हबीब ने निम्न प्रमुख कारण बताये हैं।

1. चिन्तन और साहित्य की भाषा फारसी थी, जिसका साधारण जनता से कोई रिश्ता नहीं था, यह विशिष्ट लोगों की भाषा थी, जनता और भद्रलोक की भाषाओं में इतनी भिन्नता हो वहॉं नये ज्ञान–विज्ञान प्रदान मुश्किल है। इससे पूर्व संस्कृत भी जनता की भाषा नहीं थी।

2. मध्यकाल में भारत तथा इस्लामी दुनिया में दार्शनिकों और स्वतन्त्र चिन्तकों को धर्मशास्त्रियों के मुकाबले कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। धर्मशास्त्रियों ने सदैव दर्शन और विज्ञान का जमकर विरोध किया। इन दोनों को धर्म–विरोधी बताया जाता रहा। इस सन्दर्भ में एक उदाहरण इसे स्पष्ट करने के लिये काफी होगा सूफी सन्त शेख निजामुद्दीन का एक वार्तालाप एक समकालीन इतिहासकार ने लिखा है – एक बार खलीफा एक दार्शनिक के प्रभाव में आ गये। दार्शनिक खलीफा को ब्राह्मँड की गति के नये नियम समझा रहा था यह बात सूफी शहाबुद्दीन सुहरावर्दी को मालूम हुई तो उन्होंने कहा कि हे दार्शनिक तुम क्यों झूठी बातें बता रहे हो, ये धरती और सितारों को तो ईश्वर के देवदूत चलाते हैं, प्रकृति और कोई अन्य शक्ति नहीं, दार्शनिक हँसकर चुप हो गया। इसके बाद खलीफा (सम्राट) ने उन विचारों को तिलांजलि दे दी और फिर से इस्लाम की शिक्षाओं पर पूर्ण विश्वास करने लगे।

3. ज्ञान–विज्ञान और चिकित्सा में शास्त्र का प्रयोग केवल शासक वर्ग तक ही सीमित रहा। इसका प्रयोग भी सीमित रहा। ज्योतिष शास्त्र का प्रयोग मक्का की शिक्षा और नमाज का समय जानने के लिये ही होता था।

4. कट्टर धार्मिक लोग जिनका शासक वर्ग पर बहुत प्रभाव रहा है ये विज्ञान, तर्कशास्त्र और दर्शन को धर्मविरोधी मानते थे। हर नया विचार यदि धर्मशास्त्र की कसौटी पर कसा जायेगा तो कभी नये विचार को पनपने का अवसर नहीं मिलेगा। भारत में ऐसा ही हुआ। यहाँ के शासक वर्ग ने सदैव धर्भशास्त्र अथवा दूसरी व्याख्याओं को ही सदैव महत्त्व दिया। इससे विज्ञान तकनीक और तर्कशास्त्र का एक सीमा से अधिक विकास संभव नहीं हुआ। यही नहीं भारत के पुराने विज्ञान, गणित और तर्कशास्त्र पर भी मध्यकाल में कोई विशेष काम नहीं हुआ। **अलबरूनी** ने भारतीय विज्ञान पर 11वीं शताब्दी में एक पुस्तक अवश्य लिखी थी, परन्तु बाद में इस दिशा में कोई काम नहीं हुआ।

मध्यकाल के सुप्रसिद्ध विज्ञान और इतिहासकार **अबुल फ़जल** ने भारत में वैज्ञानिक चेतना पर अपनी महत्त्वपूर्ण टिप्पणी करने हुये लिखा था, परम्परा की तेज हवा ने ज्ञान के दीपक को सदैव मद्धिम रखा।

पंथवादियों का एक सीमा तक तर्कसगत आधार नहीं है। पंथवादियों के विवेकशीलता तथा तार्किकता को बहुत महत्त्व नहीं दिया। एक सीमा के बाद विभिन्न पंथवादी पुराने विचारों का ही मंथन करते रहे एकेश्वरवादियों ने तत्कालीन समाज की बुराइयों पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए समाज को चुनौती देने का जो साहसिक प्रयास किया। वह आगे चल कर पथवाद की परम्परा में धूमिल हो गया। इस प्रकार वैज्ञानिक चिन्तन के माध्यम से नये समाज की संरचना के विचार को बहुत धक्का लगा। एकेश्वरवाद की पंथवाद में परिणति, समाज के अन्तंविरोधी से एक सीमा के बाद संघर्ष के स्थान पर समझौतापरस्ती के कारण हुई।

अकबर अत्यन्त उदार सम्राट थे। उन्होंने सुलह–कुल का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसका अर्थ था हर वर्ग के अच्छे मूल्यों की एकता, सहनशीलता तथा विभिन्नता की स्वीकृति। लेकिन यहां भी सम्राट को ईश्वर के समकक्ष मानने का शर्त थी। उसे आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार करना अनिवार्य था सुलह–कुल का प्रभाव समाज के विभिन्न धार्मिक समुदायों पर तो अवश्य पड़ा। विभिन्न समुदायों के प्रति सहानुभूति और सहिष्णुता की भावना को बढ़ाने के लिये भी यह दर्शन सार्थक था लेकिन सुलह–कुल भी किसी प्रकार की कोई नई वैज्ञानिक और तर्कसंगत विचारधारा प्रतिपादित नहीं कर सकता था। कारण सुलह–कुल भी धार्मिक ढांचे

में यथास्थितिवाद का समर्थन करते हुए केवल धार्मिक और सामाजिक सम्बन्धों में सुधारवाद एक ही रूप था।

अबुल फ़जल के तार्किकता और विज्ञान की बात कही तो उसका भारी विरोध हुआ उदाहरण स्वरूप अबुल फ़जल ने गणित, कृषि, विज्ञान, बागवानी, सर्वेक्षण, ज्योमिति गणित, खगोल शास्त्र वास्तुकला, चिकित्सा शास्त्र, इतिहास आदि को शिक्षा के पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने पर जोर दिया। भातर के प्राचीन ज्ञान–विज्ञान और दर्शन को भी शिक्षा में शामिल करना चाहिए, यह अबुल फ़जल का मत था। इसके लिये उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों का व्यापक रूप से अनुवाद करांया। इसका भारी विरोध हुआ और फेख अहमद सरहिन्दी के नेतत्व में कट्टरपंथिंयों ने उपरोक्त शैक्षिक पाठ्यक्रम को मान्यता दी। अबुल फ़जल ने सम्राट अकबर की ओर से इन मिशनरियों को पत्र लिख कर आमंत्रित किया वा यह आमंत्रण भी केवल धार्मिक मामलों पर विचार विमर्श के लिये ही था।

मध्यकाल में एक प्रवत्ति और भी थी कि साधारण लोगों को किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नहीं था। बुद्धिजीवी विशिष्ट वर्ग में साधारण जन का प्रवेश निषिद्ध था। शाह वलीउल्लाह ने तो यहां तक कहा कि शरीयत के कानून तक साधारण लोगों की पहुँच नहीं होनी चाहिये। इससे अनेक भ्रम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा एक विशिष्ट वर्ग तक ही सदैव सीमित रही। इससे साधारण वर्ग से बुद्धिजीवी और चिन्तक विचारक वर्ग में रूपान्तरण नहीं के बराबर हुआ और समाज अनेक नये विचारों की संभावनाओं से वंचित रहा। इसके विपरीत यूरोप में मध्यकाल तथा आधुनिक काल में एक बड़ी संख्या किसानों की शिक्षा हुई। इस नये शिक्षक वर्ग ने विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र की क्रान्ति की सामाजिक संरचना के परिवर्तन का एक प्रमुख कारण बनी। भारत में ऐसा कोई वैज्ञानिक अथवा तकनीकी उन्नति का अधार नहीं बन पाया क्योंकि यहाँ सभी परिवर्तनकारी प्रवतियाँ केवल चन्द सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों तक ही सीमित रहीं। लेकिन भक्ति की दष्टि और निडरता हमारी अमूल्य राष्ट्रीय धरोहर है। भक्ति आंदोलन हमारा प्रेरणा स्रोत भी है।

अध्याय - 9

सूफी मत : उदय एवं विकास

सिलसिला : चिश्ती, सुहरावर्दी, कादिरी, नक्शबन्दी

Sufism : Rise and Growth

Silsilahas : Chishti, Suhrawardi, Qadiri, Naqshbandi

दसवीं सदी ने इस्लाम के इतिहास में एक नए युग का सूत्रपात किया इसमें अब्बासी ख़िलाफत के अवशेषों पर तुर्कों का उदय हुआ, एवं विचारों और विश्वासों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। विचारों अथवा मतों के क्षेत्र में मुलज़िला अथवा विवेकाश्रित दर्शन के प्रभुत्व का अन्त हुआ व कुरान व हदीस पर आधारित रुढ़िवादी विचारधाराओं का उदय हुआ एवं सूफी रहस्यवादी सिलसिलों की लोकप्रियता में वद्धि हुई।

विवेकवादियों का अब्बासी खलीफाओं के पक्ष लिया था। इन लोगों ने अपने विरोधियों का दमन करने के लिए राजनीतिक सत्ता का प्रयोग किया था एवं धर्मशास्त्र को विवेक की कसौटी पर रखकर उसे क्रमबद्ध करने का प्रयास किया था। वे ईश्वर की प्रकृति, सजन, ईश्वर के साथ मनुष्य के संबंध, आत्मा की प्रकृति आदि के संबंध में चिन्तन—मनन करते थे। उनका मत था कि मनुष्य अपने अच्छे—बुरे सभी कर्मों के लिए स्वयं जिम्मेदार हैं, और सभी इसी उद्देश्य से कुरान की रचना की गई है। वे इस रूढ़िवादी विचार से सहमत नहीं थे कि यह ईश्वर द्वारा कही गई बातों का संकलन है एवं इसलिए शाश्वत व अमोघ हैं।

रूढ़िवादी तत्वों ने विवेकवादियों पर संशयवाद एवं अनीश्वरवाद का प्रचार करने का आरोप लगाया। उन्होंने उनके अद्वैतवाद के दर्शन को, जिसके अनुसार ईश्वर और सजित जगत मूलतः एक ही है, इस आधार पर विधमी माना कि उसने सजनकर्त्ता और सजित के बीच के भेद को समाप्त कर दिया था।

सतत् उत्पीड़न और रूढ़िवादी विरोध के कारण विवेकवादियों का सफाया हो गया। इस कारण परम्परावादियों के हाथ मजबूत हुए और इस्लामी कानून के चार पंथों की उत्पत्ति हुई। इनमें से **हनफी** पंथ को जो सर्वाधिक उदार था, पूर्वी तुर्कों ने ग्रहण किया जो बाद में भारत आए। विवेकवादियों के पतन के कारण भी सूफी रहस्यवादियों के हाथ मजबूत हुए।

सूफी कहलाने वाले रहस्यवादियों का उदय इस्लाम के प्रारम्भिक काल में हो चुका था। उनमें से अधिकांश लोग गहन भक्ति वाले व्यक्ति थे जो इस्लामी साम्राज्य की स्थापना के बाद नैतिकता के पतन तथा धन के प्रदर्शन से चिढ़ गए थे। हसन बसरी एवं उनकी अनुयायी महिला सूफी

राबिया (8वीं सदी में मत्यु) जैसे कुछ आरम्भिक सूफियों ने प्रार्थना, निरन्तर उपवास एवं ईश्वर के प्रति निर्लिप्त प्रेम पर बहुत बल दिया। राबिया ने एक सन्यासी का जीवन बिताया तथा उनकी ख्याति काफी दूर–दूर तक फैल गई। राबिया, सूफी संत कहती है : "ईश्वर प्रेम में मैं ऐसी डूब गई हूँ कि मेरे हृदय में न तो किसी वस्तु के लिए प्रेम बाकी रहा है और न घणा।" सूफी संत और उसके इष्ट देव के बीच संबंधों को स्पष्ट करने के लिए भी वह मानव प्रेम की लाक्षणिक भाषा का प्रयोग करती है।

इस प्रकार हिज़री ईस्वी की दूसरी शताब्दी तक सूफीवाद ने अद्वैतवाद (ब्रह्मज्ञान) का रूप धारण कर लिया था जिसमें परमात्मा व कयामत के दिन का भय प्रमुख लक्षण थे। परन्तु इनमें प्रेम से प्रेरित होकर उपासना के कुछ अंश भी मौजूद थे। वस्तुतः प्रेम में यह गुण होता है कि वह प्रेमी व प्रेयसी के बीच के भेदों को अन्त करके उनके बीच एकता एवं अभिन्नता स्थापित कर देता है। आगे चलकर बाद की सदियों में प्रेम का लाक्षणिक वर्णन सूफी साहित्य का एक विशिष्ट गुण बन गया।

प्रारम्भिक सूफी संतों के वैराग्य ने तीसरी हिज़री में ....तसव्वुफ में परम्परानुकूल एक गति को जन्म दिया जिसका उद्देश्य ईश्वर के प्रति प्रेम–पूर्ण भक्ति व स्वात्म को अनुशासित करना था। अरब वासियों के शासनकाल में सूफी ब्रह्मवाद बगदाद में अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गया। यूनानी विचारधारा के प्रभाव ने इस्लाम धर्म की आधारशिला को हिला दिया था और संदेहवाद का बोल–बाला हो गया था। इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए मुस्लिम धर्म–शास्त्रियों को अपना धर्म और अपने सिद्धान्त तर्क पूर्ण वाद–विवादों के द्वारा प्रमाणित करने पड़े। सम्भवतः इससे पीड़ित आत्माओं को एक प्रकार का आध्यात्मिक संतोष मिल जाता था जो ब्रह्म रीति–रिवाजों की अपेक्षा आंतरिक प्रकाश की ओर अधिक ध्यान देते थे, चाहे जितना भी तर्क–वितर्कों द्वारा प्रमाणित एवं सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाए। जिस मिस्त्र के जुन्नू मिस्त्री (नवीं सदी में मत्यु), जिन्होंने अरब व सीरिया का व्यापक भ्रमण किया, ने चिन्तन–मनन की प्रक्रिया के जरिए ईश्वर के साथ रहस्यवादी मिलन की संकल्पना प्रस्तुत की। जुन्नू को विधार्मिता का दोषी माना गया, किन्तु उन्हें छोड़ दिया गया। ईश्वर के साथ भक्त के आध्यात्मिक विलय(फ़ना) की सूफी संकल्पना के कारण रुढ़िवादी उलेमा के साथ सूफियों का निरन्तर संघर्ष चलता रहा। इस प्रकार बायज़ीद बयात ने, जिसके पितामह एक पारसी थे, उन्माद की अवस्था में दिए गए अपने वक्तव्यों के द्वारा उलेमा को चकित कर दिया, 'अहोभाग्य! मेरा स्वामी कितना महान् है,' मैंने चारों ओर काबा को घूमते हुए देखा। उन्होंने उन्माद को तथा भगवद्नुभूति की अवस्था के सूफी सिद्धान्त को, "सब ईश्वर में है" और यह नहीं कि 'सब ईश्वर है'– जैसा कभी–कभी गलती से विश्वास किया जाता है– सम्मिलित करके सूफीवाद में एक निश्चित परिवर्तन पैदा कर दिया। उन्हें नगर से निर्वासित कर दिया गया था, क्योंकि उन्होंने विधर्मी घोषणाएँ की थी, जिससे कट्टर उलेमा को बड़ा धक्का पहुँचा था। उन्होंने कहा 'कुछ नहीं है मेरे चोगे के नीचे ईश्वर के अतिरिक्त। यह मेरे लिए बड़े गौरव की बात है कि मेरा ईश्वर इतना महान् है।'

875 ई० में बायजीद का निधन हो गया। उनके सम्प्रदाय का नाम **तैफुरियन** पड़ा। इस्लामी सूफीवाद में वह पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शब्द **फना**– आत्मा के लय होने का प्रयोग किया जो बाद में सूफी ब्रह्मवाद का आधार बन गया। इसका तात्पर्य यह कि ईश्वर में लीन हो जाने से मानव गुणों की इति श्री हो जाती है। यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें एक सूफी का अंनत जीवन प्राप्त होता है।

बायजीद की पद्धति को मंसूर बिन हल्लाज ने और भी आगे बढ़ाया। खलीफा अल–मुक्तदिर के शासनकाल में उन्हें दोषी सिद्ध करके फाँसी पर चढ़ाया गया। उनका सूफीवाद संबंधी सिद्धान्त **अनलन्हक** (मैं ही सत्य/ईश्वर हूँ) पहले फारस में और बाद में हिन्दुस्तान में विकसित किया गया, जो सूफीवाद का काफी महत्वपूर्ण विश्वास था। हल्लाज जिन्होंने खुरासान, फारस, तुर्किस्तान का भ्रमण किया एवं वे सिंध में भी आए थे जहाँ, जैसा कि अब यह सिद्ध हो चुका है, उन्होंने कुछ हिन्दू वेदांतियों से भेंट की। किन्तु, जैसा कि अब यह स्पष्ट हो चुका है, वेदान्ती एवं योगी मतों से ईरान के लोग सुपरिचित थे एवं उनके बारे में जानने के लिए सिंध जाने की कोई आवश्यकता नहीं थी। वे एक व्यवसायात्मिक बुद्धि वाले तत्वज्ञानी थे। रूढ़िवादी उलेमा उन्हें एक कुफ्र बकने वाला समझते थे। उलेमा के दुराग्रहों पर ही उन्हें कारागार में डाला गया और बाद में उन्हें फाँसी दे दी गई। उनकी प्रधान रचना **किताबुल तवासीन** है। इसमें हल्लाज ने ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने के सिद्धान्त को प्रमाणित एवं सिद्ध किया है। यह एकेश्वर के प्रति प्रेम का प्रदर्शन था; जो उसके (परमात्मा) अनेक नामों और गुणों को सुदढ़ करता है। हल्लाज के विचारों ने इंसाने–कामिल (दोषरहित व्यक्ति) का प्रकृति से संबंधित सिद्धान्तों के विकास के लिए एक आधार प्रस्तुत किया। मंसूर द्वारा 'मैं ही ब्रह्य हूँ' के सिद्धान्त की की गई घोषणा इस सूफी विश्वास की अभिव्यक्ति मात्र थी कि ईश्वर के साथ विलय प्रबोध की सर्वोच्च अवस्था है पर मंसूर का मतत्याग करने से इंकार एवं अपने विश्वासों हेतु अपने जीवन का त्याग करने की उनकी तत्परता ने सूफियों को न केवल शहादत का चोला पहनाया बल्कि उन्हें शुद्ध हृदय वाले, ईमानदार एवं सांसारिक सुखों के प्रति निर्लिप्त व्यक्तियों के रूप में ख्याति प्रदान की।

इस प्रकार प्रेम, भक्ति और गहन चिन्तन पर आधारित निवतिवादी आन्दोलन धीरे–धीरे उन्मादी प्रेम पर आधारित आन्दोलन में रूपान्तरित हो गया जिसमें सामाजिक मर्यादाओं, और धार्मिक विश्वासों एवं व्यवहारों की अवहेलना की जा सकती थी।

बायजीद तथा **हल्लाज** के वेदान्ती सिद्धान्तों की स्वभाविक प्रतिक्रिया, और शक्ति के भय के आधार पर अद्वैतवाद के पुनर्स्थापना द्वारा रुढ़िवादी इस्लाम को सुदढ़ करना था और इस प्रकार शरीयत और तरीकत के बीच एक घनिष्ठ संबंध पैदा करना था। वास्तव में इस काम को पूरा करने का बीड़ा स्वयं **जुनैद बगदादी** व बाद में **गजाली** (1058-1111 ई०) **शेख अब्दुल कादिर जीलानी** (1077-1166 ई०) तथा **शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी** (1145-1234 ई०) ने उठाया, जिन्होंने न केवल इस्लामी सूफीवाद की विभिन्न विचारधाराओं में समन्वय उत्पन्न किया, अपितु रूढ़िवादी धर्मशास्त्र और धार्मिक नियमों में शान्त सूफीवाद के लिए एक प्रतिष्ठित स्थान दिखाया। वे अपने भक्तों को आत्म अनुशासन का आदेश देते थे जिससे ईश्वर का सहज ज्ञान प्राप्त करने के लिए हृदय तैयार हो जाता था। इस प्रकार जैसा कि **आरबेरी** लिखते हैं "वास्तव में इस्लाम का जो पौधा ईरान में लगा था वही सूफीमत के रूप में विकसित एवं फलित हुआ" अरबों ने तो इस्लाम के प्रदेश को ही जीता था किन्तु ईरान ने अरब की संस्कृति पर विजय पाई थी।

अल-गजाली ने सूफीमत को मुस्लिम जगत में सम्मानीय स्थान प्राप्त कराया और उसी के चिन्हों पर जलालुदीन सभी और फरीदुद्दीन अतार ने सूफीमत को आरोपों और उलेमा के अत्याचारों से मुक्त किया। गज़ाली ने सदैव हज़रत मुहम्मद साहब से प्रेरणा ली और इस बात पर बल दिया कि उनसे संत–पद भविष्यवाणी के द्वारा ही प्राप्त किया गया था। उन्होंने तात्कालिक अनुभव और आंतरिक परिवर्तन पर बल दिया जिसके बिना मुक्ति असम्भव थी। उन्होंने इस्लामी रुढ़िवादिता के साथ रहस्यवाद को समन्वित करने का प्रयास किया। इसमें वे काफी हद तक

सफल रहे। उन्होंने यह तर्क देते हुए विवेकवादी दर्शन को और अधिक आघात पहुँचाया कि ईश्वर और उसके गुणों का सकारात्मक ज्ञान विवेक के द्वारा नहीं, बल्कि दैवीज्ञान द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

भारत में सूफीमत का विकास

भिन्न–भिन्न देशों में विकसित होते हुए सूफीमत ने भारत में प्रवेश किया। भारत में आने से पूर्व बारहवीं शताब्दी तक सूफीमत का रूप निर्धारित हो चुका था। इसके मौलिक तथा नैतिक सिद्धान्त, उपदेश और आदेश, मंत्र, प्रार्थना और उपवास, जिक्र, शेख या पीर एवं शिष्य की परम्परा तथा खानकाहों की विशेष दिनचर्या निश्चित हो चुकी थी। अनेक सूची सिद्धान्तों को विभिन्न रहस्यवादी विचारधाराओं के द्वारा पुष्ट भी किया गया जिनका विकास अनेक युगों कही साधना से किया गया था। यद्यपि सूफी आन्दोलन का भारत में प्रवेश उसकी पूर्ण व्यवस्थापरक स्थिति के स्थान पर हो जाने के बाद हुआ था तथापि इस मत ने कट्टर इस्लाम से ज्यादा भारतीय जनता का कल्याण भी किया।

तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में सूफी खानकाहों का जोर भारत के कई भागों में फैल रहा था। मुल्तान, पंजाब, बंगाल, दक्षिण भारत, कश्मीर तथा देश के पूर्वी भागों में सामाजिक व आर्थिक प्रभाव बढ़ रहा था। अफगानिस्तान के रास्ते अनेक सूफी सिलसिलों से संबंध रखने वाले लोग भारत में आए। ये लोग स्वेच्छा से ही भारत आए थे, किसी संस्था के आदेश पर नहीं। ईश्वर प्रेम तथा मानव सेवा उनका ध्येय था तथा उनका जीवन पवित्र था। उनके पवित्र आचरण ने भारत की जनता को शीघ्र ही अपनी ओर आकृष्ट कर लिया।

सूफ़ीमत के सिद्धान्त

एकेश्वरवाद

इस्लाम की विशिष्टता उसका एकेश्वरवाद था। उसने अनेक देवताओं के स्थान पर एक देवता को स्वीकार किया था। उसमें आत्मा (रूह) और परमात्मा (खुदा) का संबंध बन्दा और मालिक के रूप में स्वीकार किया गया था। अतः दार्शनिक दष्टि से उसमें द्वैतवाद के दर्शन होते हैं। कुरान का खुदा सर्वशक्तिमान और सर्वसत्ता पूर्ण है। उसके समक्ष मनुष्य निरीह प्राणी है। उसमें कहा गया है–"वह तुम्हारा ईश्वर सब चीजों को बनाने वाला है, उसके अतिरिक्त कोई पूज्य नहीं है"। उसमें उपासना की महत्ता प्रेम से अधिक थी। सूफ़ियों ने इससे असहमति व्यक्त की। इन्होंने सम्पूर्ण जगत को ब्रह्ममय स्वीकार करते हुये प्रेम द्वारा ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। इसमें कोई संदेह नहीं है कि सूफीमत भी इस्लाम की भाँति एकेश्वरवाद में विश्वास करता था, किन्तु सूफियों का एकेश्वरवाद इस्लाम से कुछ भिन्न है। सूफियों का विश्वास है कि दश्यमान जगत में परिव्याप्त एकमात्र सत्ता परमात्मा की ही है। विश्व उस परमात्मा का ही है। विश्व उस परमात्मा का प्रतिबिम्ब है। सूफी उसे परम तत्व मानने के साथ–साथ परम शिव और परम सुंदर भी मानते हैं। उसका ईश्वर निराकार है, निर्गुण है, जिसका दर्शन सच्चा साधक ही कर सकता है।

सूफियों का यह सिद्धान्त है कि एक ईश्वर के अतिरिक्त अन्य देवा–देवताओं में विश्वास न रखा जाये। एक ईश्वर को मानने से ही आस्था बढ़ सकती है और मानव का कल्याण हो सकता है। इब्न–उल–अरबी के अनुसार एक सष्टिकर्ता और खालिक (सष्टि) एक है। सनातन पंथी

मुसलमानों के दष्टिकोण से सूफी एकेश्वरवाद के संबंध में पथक मत रखते हैं। यह मानते हुए भी कि परमात्मा एक है, अद्वितीय तथा निरपेक्ष, सूफी यह कहते हैं कि इस दश्यमान जगत में परिव्याप्त एक मात्र वही सत्य है उसी की एकमात्र सत्ता है जो अतीत में थी या भविष्य में रहेगी। अतएव ऐसा मानने का यह मतलब हो जाता है कि अगर परमात्मा को छोड़कर और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है, तो यह निखिल विश्व परमात्मा के साथ एक है तथा प्रतीयमान जितनी भी सत्ताएँ हैं, वे उसी में अन्तर्निहित है, **ज़ामी** ने ऐसा ही एक स्थल पर कहा है।

सूफी साधना का विश्वास उत्तरोत्तर ईश्वरीय प्रेम भक्ति तक पहुँच गया और क्रमशः परमात्मा तथा उसकी निर्मित सष्टि के मध्य का व्यवधान धीरे–धीरे घटता गया। पहले जहाँ इन साधकों का आदर्श एकान्ति जीवन, फ़कीरी, दीनता और विनम्रता था, वहाँ अब परमात्मा को प्रेम द्वारा पाना ही उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। तौहीद (एकेश्वरवाद) का अर्थ उनके लिए अद्वैतवाद जैसा हो गया। **ब्राउन** का कहना है कि परमात्मा को केवल प्रिय पात्र मानना तथा उसी को केवल ध्यान का विषय मानना, मनुष्य को उसके द्वारा चालित यंत्र मानना तथा केवल आध्यात्मिक जीवन को ही महत्व देना आदि इस प्रकार के दष्टिकोण में और एकमात्र परमात्मा को ही सत्य मानने एवं इस दश्यमान जगत को असार समझने में बहुत कम अन्तर है और एक से दूसरे तक पहुँचने में कोई बड़ी खाई नहीं है।

ज़ामी ने एक जगह उल्लेख किया है–वह अद्वितीय पदार्थ जो निरपेक्ष है, अगोचर है, अपरिमित है और जो नानात्व से परे है, वही अल् हक्क (परम सत्य) है। उसकी एक कविता में कहा गया है–तुम परम सत्ता हो और सभी कुछ मरीचिका मात्र है क्योंकि तुम्हारी सष्टि में सभी वस्तुएँ एक हैं। सम्पूर्ण सष्टि को मुग्ध करने वाला तुम्हारा सौन्दर्य अपनी पूर्णता को प्रकाशित करने के लिए हजारों दर्पणों में प्रतिभाषित होता है, लेकिन वह (सौन्दर्य) एक ही है। दारा शिकोह ने ईसा की 17वीं शताब्दी में कुछ उपनिषदों को **"सिर्र–ए–अकबर"** के नाम से फारसी में अनुदित किया था। इसी फारसी अनुवाद में फ्रेंच विद्वान **ऑकविल दुपेरों** ने लैटिन में अनुवाद किया। दाराशिकोह ने अपने एकेश्वरवाद, तौहीद तथा कुरान के रहस्यों को समझने के लिए ही उक्त अनुवाद किया था। उसने हिन्दुओं के विभिन्न धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया, जो एकेश्वरवाद को अस्वीकार नहीं करते।

फारसवादी **बायज़ीद बुस्ताभी, धुलनून मिस्त्री** के समकालीन, "सब ईश्वर में है और यह नहीं कि सब ईश्वर है" कहकर सूफीवाद में एक निश्चित परिवर्तन कर दिया। उन्हें उनके नगर से निर्वासित कर दिया गया, क्योंकि उन्होंने विधर्मी घोषणाएँ की थीं, जिससे उलेमा को बड़ा धक्का पहुँचा था। उन्होंने कहा, "कुछ नहीं है मेरे चोंगे के नीचे, ईश्वर के अतिरिक्त। यह मेरे लिए बड़े गौरव की बात है कि मेरा ईश्वर इतना महान् है"। **हल्लाज़,** जिन्होंने खुरासान, फारस, तुर्किस्तान तथा उत्तरी पश्चिमी भारत का विस्तत भ्रमण किया था, एक प्रसिद्ध तत्व ज्ञानी थे। **उलेमा** के दुराग्रहों पर ही उन्हें कारगार में डाल दिया और उन्हें फाँसी दे दी गयी। उन्होंने अपने प्रधान रचना **किताबुल तवासीन** में ईश्वर को सर्वशक्तिमान होने के सिद्धान्त को प्रमाणित एवं सिद्ध किया है। यह एकेश्वरवाद के प्रति प्रेम का प्रदर्शन था, जो उसके (परमात्मा) अनेक नामों और गुणों को सुदढ़ करता है।

सष्टि की उत्पत्ति

सष्टि के सम्बन्ध में सूफी ऐसा मानते हैं कि "बह्य" की एक अलौकिक शक्ति है, जिसे "रूह"

कहते हैं। सष्टि उसी रूह के लिये व्याकुल रहती है। रूह ही सष्टि का उपादान कारण है। सष्टि अल्लाह के दर्शन के लिये दर्पण है। इस दर्पण में अल्लाह का प्रतिबिम्ब इन्सान है। **ज़िली** की मान्यता है कि अल्लाह ने सबसे पहले अपनी सत्ता को रूह का रूप दिया। उसी से सष्टि, फरिस्तों और कल्ब की उत्पत्ति हुई। वह परम सत्य के अलावा परम कल्याण (शिव) है, चूंकि वह परम कल्याण है, इसलिये वह परम सौन्दर्य है, सौन्दर्य कल्याण का ही एक रूप है। सम्पूर्ण सष्टि उसी के प्रकाश से आलोकित है। अनेक सूफियों का कहना है कि सष्टि दर्पण के समान है, जिसमें परमात्मा के गुण प्रतिबिम्बित होते हैं। **जामी** का कहना है कि सभी वस्तुएँ सष्टि में एक है। उस अनन्त सौन्दर्य और अनन्त विभूति को आत्म प्रकाश करने की जब अभिलाषा उत्पन्न हुई, तब इस दश्यमान जगत का आविर्भाव हुआ। यह जगत उक्त सौन्दर्य को अंशतः प्रकट करने वाला है। इसके समर्थन में एक हदीस का हवाला दिया जाता है कि "मैं एक छिपा हुआ खज़ाना था, फिर मैंने इच्छा की कि लोग मुझे जानें। इसलिए मैंने सष्टि की रचना की"। सूफी इसे ही सष्टि का कारण मानते हैं।

यह सष्टि जितनी वास्तविक सत्ता नहीं है, उस परमात्मा को, जो परम सत्ता है, समझने में सहायक सिद्ध होती है। मंगल का ज्ञान अमंगल द्वारा, सुन्दर का ज्ञान असुन्दर द्वारा, अच्छाई का ज्ञान बुराई के द्वारा सहज़ प्राप्य है। उस परम सत्ता, परम सौन्दर्य और परम कल्याण का ज्ञान इस सष्टि से सम्भव हो पाता है। यह दश्यमान जगत परमात्मा की सत्ता पर निर्भर करता है, इसकी अपनी कोई सत्ता नहीं है। यह संसार उसके गुणों की अभिव्यक्ति मात्र है। **इब्नुल अराबी** के मतानुसार परमात्मा ही एक मात्र सत्ता है और अन्य सभी पदार्थ उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। इसके अनुसार सम्पूर्ण सष्टि एक ही उद्‌गम है और उसी में वह लय हो जाती है। इसको स्पष्ट करने के लिये कहा जाता है कि परमात्मा की सत्ता ही अपनी अभिव्यक्ति में जादूगर के रूपये की नाई सष्टि की सत्ता हो जाती है।

खाजा खाँ ने कहा है कि परमात्मा अपने ही ज्ञान के आलोक में प्रकट होता है। ज्ञान द्वारा सत्ता के आलोकित होने से यह सष्टि धीरे–धीरे विकसित होता हुआ, दश्यमान हुआ। **ज़ीली** का कहना है कि उसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण सत्ताओं में अन्तर्निहित है और वह सष्टि के प्रत्येक अणु–परमाणु में अपनी पूर्णता को अभिव्यक्त करता है। वह खण्डों में विभक्त नहीं है। सष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ उसकी पूर्णता के कारण है। सष्टि बरफ के समान है और तेजस्वरूप परमात्मा जल के समान है, जो बरफ का मूल है। उस जमी हुई वस्तु का नामकरण बरफ हुआ है, पर जल ही उसका असली नाम है।

"अल्–अमाँ" से अभिप्राय घनान्धकार से है। होने वाली सष्टि के बीच मात्र रूप में परमात्मा इस अवस्था में रहता है। पैगम्बर से पूछा गया कि सष्टि से पूर्व परमात्मा कहा था? मुहम्मद ने जवाब दिया कि वह "अल्–अमाँ" की अवस्था में था, जिसके न ऊपर ही हवा है और न उसके नीचे ही। दूसरा "अहदियत" वाह्य रूप है। इसमें परमात्मा को सब कुछ से परे अपने एकत्व का ज्ञान रहता है। उस सष्टि के कारण–स्वरूप परम सत्य में "वह", "मैं" और "तू" एक ही वस्तु है। उसका एकत्व विभेदों से परे है।

सूफ़ियों के दो सम्प्रदाय हैं, जिनमें से एक तो यह मानता है कि सष्टि का उपादान कारण प्रकाश है और दूसरा यह कि सष्टि विचार से निकली है। सष्टि और परमेश्वर में एकत्व के प्रतिपादन के अतिरिक्त **इब्नुल अराबी** ने सष्टि को दर्पण बनाया है, जिसमें परमेश्वर को देखा जा सकता है। परमेश्वर और सष्टि में विशाल समुद्र और लहर का सम्बन्ध **इब्नुल अराबी** ने स्थापित करने

की चेष्टा की है। सूफी के लिए सष्टि (संसार) परोक्ष सत्ता का आत्म प्रदर्शन है। सूफी साधक जिधर देखता है, उधर रहस्य ही रहस्य दष्टिगोचर होता है, उसके लिये परोक्ष सत्ता ही संसार की सत्ता का अनिवार्य कारण है।

मानव—महत्ता

दश्यमान जगत और मनुष्य के संबंध में सूफियों का कहना है कि असत् के दर्पण में प्रतिबिम्बित होने वाली परमात्मा की प्रतिच्छवि जैसा यह दश्यमान जगत है और मनुष्य उस प्रतिच्छवि की आँख जैसा है। परमात्मा अपनी प्रतिच्छवि में प्रकट होता है तथा मनुष्य में भी अपने आप को प्रकट करता है। इस प्रकार से एक तो यह सष्टि है जो परमात्मा की प्रतिच्छवि है, दूसरे जिस प्रकार से आँख की पुतली में सम्पूर्ण प्रतिच्छवि उतर आती है, उसी प्रकार से मनुष्य जो प्रतिच्छवि की आँख जैसा है, उस परमात्मा को और उसकी प्रतिच्छवि को अपने आप में बसाया हुआ है। अतएव, एक ओर तो परमात्मा अपनी प्रतिच्छवि अर्थात् दश्यमान् जगत में अपने आप को प्रकट करता है और दूसरी ओर मनुष्य में भी जो परमात्मा की प्रतिच्छवि की आँख है। मनुष्य एक ओर इस सष्टि का अंग है और दूसरी ओर परमात्मा को अपने भीतर ग्रहण किये हुये है। उसमें सत्—असत् दोनों विद्यमान हैं। परमात्मा के अंग—स्वरूप उसमें शाश्वत सत्ता का भी अस्तित्व है और क्षण भंगुर सष्टि का अंग होने से असत् का भी अस्तित्व है। इस सष्टि में मानव विशिष्ट स्थान रखता है। इस मनुष्य में जो कुछ भी अच्छाई तथा सत्य है, वह परमात्मा का है, उसके अलावा इन तत्वों के विपरीत अन्य कोई वस्तु जो उसमें है, वह असत् तथा क्षण भंगुर है।

मनुष्य में इच्छा शक्ति का प्रेरक परमात्मा ही है। कल्याण तथा मंगल के नकारात्मक रूप उसमें विद्यमान हैं। मनुष्य अपने कर्त्तव्य—कर्म में स्वतन्त्र नहीं है। उसमें जो भी ईश्वरीय अंश है, वह उस विशुद्ध सत्ता की एक चिनगारी जैसा है। वह जाने या अनजाने इस बात की सतत् चेष्टा करता है कि वह अपने उसी उद्‌गम स्थल पर लौटकर, उसके साथ एक हो जाय, लेकिन जब तक उसका यह असत् तत्व (शरीर) बना रहता है, वह इसमें सफल नहीं होगा। इस शरीर से पूर्व जो आत्मा की सत्ता थी, मानो वह इसमें कैद की हुई है, इसलिए सूफी साधक मत्यु का स्वागत करते हैं।

सूफियों का यह विचार है कि जीवन का परम लक्ष्य मानव की पूर्णता है। पूर्ण मानव (अल् इन्सानुल—कामिल) के प्रश्न को सर्वप्रथम **इब्नुल अराबी** ने महत्व दिया था। उसका कथन है कि पूर्ण मानव सष्टि का चरमोत्कर्ष है उसी में ईश्वर के स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। **ज़ीली** के अनुसार मुहम्मद सर्वश्रेष्ठ—पूर्ण मानव है और इसी कारण मुहम्मदीय ज्ञान (अल् इकीकतुल् मुहम्मदिया) का विशेष महत्व है। परमात्मा के सभी गुण मनुष्य के ह्रदय में प्रतिबिम्बित होते हैं, इसलिए मनुष्य के ह्रदय को जानने से परमात्मा को जाना जा सकता है। आदम से मुहम्मद तक होने वाले सभी पैगम्बर, औलिया, सन्त सभी पूर्ण मानव की कोटि में आते हैं। मनुष्य के भीतर सभी गुण और परिपूर्णता विराजमान है और वह चरमोत्कर्ष लाभ करने में समर्थ हो सकता है। पूर्ण मानव सांसारिक सुख, वैभव, सम्पत्ति, ऐश्वर्य का परित्याग कर "हक़" से मिलने का प्रयत्न करता है। मानव ईश्वर और सष्टि के मध्य सेतु का काम करता है।

परमात्मा का स्वरूप

सनातनपंथी इस्लाम के अनुसार परमात्मा एक है और उसके जैसा दूसरा नहीं। काल और स्थान

की परिधि में वह नहीं बांधा जा सकता। वह अपने आप में पूर्ण है, उसे किसी की भी अपेक्षा नहीं। वह सर्वशक्तिमान है। वह क्षमाशील है। यह मनुष्य की ज्ञानसीमा से बाहर है। उसके ज्ञान, कर्म और स्वभाव मनुष्य के ज्ञान, कर्म और स्वभाव से भिन्न है। उसके न्याय में कोई दख़ल नहीं दे सकता। सष्टिकर्त्ता वही है। वह अवतार नहीं लेता। उसकी सष्टि तथा उसके मध्य और कोई नहीं है। कुछ लोग परमात्मा के पैगम्बर अवश्य हैं। उसका काम उसके (परमात्मा) आदेशों को मनुष्य तक पहुँचाना है।

कुरान में कहा गया है कि "आसमान और पथ्वी के निर्मित होने में, रात—दिन के परिवर्तन में, समुद्र में, मनुष्य के लिए उपयोगी सामग्री ढोने वाले जहाजों में, आसमान में पड़ने वाली वष्टि में, जिसे परमात्मा पथ्वी पर भेजता है, जिससे मत पथ्वी में प्राण का संचार तथा विभिन्न प्रकार के पशुओं का अस्तित्व सम्भव हो पाता है, उसी प्रकार हवा के नियंत्रण में तथा आसमान और जमीन पर उपयोगी कार्य सम्पादन करने वाले बादलों में, खोजने वाले उसका पता पा सकते हैं। वह परमात्मा आकाश और पथ्वी की ज्योति है। परमात्मा जिसे चाहता है, अपनी ज्योति की ओर अग्रसर करता है। धन की लिप्सा ऐसे मनुष्यों को, परमात्मा की याद तथा जकात से इधर—उधर भटकने में समर्थ नहीं होती, क्योंकि उसे उस दिन का भय बना रहता है, जिस दिन हृदय धड़कते रहेंगे और आँखों की पुतलियाँ उलटी हुई रहेंगी। परमात्मा उनके भले कर्मों के लिये अच्छा फल देगा और उसकी कृपा से उसमें उत्तरोत्तर वद्धि होती रहेगी, क्योंकि परमात्मा जिससे खुश होगा, उसके लिए सारी व्यवस्था करेगा। आसमान और जमीन का साम्राज्य परमात्मा का है और इसे परमात्मा में ही लौटना है।

सनातनपंथी इस्लाम के अनुसार मनुष्य और अल्लाह के बीच का सम्बन्ध निरंकुश स्वामी और दास का है। परमात्मा के सम्बन्ध में सूफी भी उक्त सिद्धान्तों में विश्वास करते हैं, लेकिन दोनों अपने—अपने ढंग से इसको मानते हैं। सनातन पंथी इस्लाम के अनुसार परमात्मा अपने जैसा आप है, उसके जैसा और कुछ नहीं है। सत्ता गुण और कर्म में परमात्मा अद्वितीय है, उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। वह सष्टि के सभी पदार्थों से भिन्न है। वहदतुल वुजूद के अनुसार वास्तविक सत्ता "एक" है। उस सत्ता के सिवा अन्य किसी सत्ता का अस्तित्व नहीं और वह एकमात्र सत्ता परमात्मा है। यह सम्पूर्ण दश्यमान जगत उसी परम सत्ता की अभिव्यक्ति है। अतएव परमात्मा और जगत में साम्य है। यह समानता जात और सिफ़त की है। परमात्मा का ज्ञान और परमात्मा की सत्ता दोनो ही अनादि है।

"इन्सालुन कामिल" के प्रणेता शेख़ **करीम जीली** का कहना है कि परमात्मा का स्वरूप इतना महान है कि उसके सामने सष्टि के अन्य पदार्थ नहीं के बराबर हैं। "परमात्मा ही एकमात्र सत्ता है"—इस सिद्धान्त को मानने के फलस्वरूप सूफी यह भी मानने लगे कि वह संसार के सब पदार्थों में विद्यमान है। उनके अनुसार सभी दश्य या अदश्य वस्तुओं का उद्‌गम वहीं है और उससे उनकी अलग सत्ता नहीं है। सूफी मानते हैं कि परमात्मा अपने स्वभाव में तर्क, ज्ञान, बुद्धि और कल्पना से परे और स्वतन्त्र है फिर भी वह केवल परम सत्ता ही नहीं, वरन् परम कल्याण भी है जिसमें अनुग्रह, क्षमा और करूणा है।

सूफी साधना की अवस्थाएँ

सूफियों का चरम लक्ष्य परमात्मा के साथ "एकमेव" होना है। "अल्—हक्क" के साथ पुनः एकत्व प्राप्त करना सूफी साधना का अन्तिम उद्देश्य है। सूफी साधना की चार अवस्थाएँ हैं। "शरीयत"

सूफी साधना की प्रथम अवस्था है। इसके पालन से मोहब्बत का आविर्भाव होता है और उसी मोहब्बत की प्रेरणा से सूफी—साधक अलौकिक प्रियतम की खोज में निकल पड़ता है। इस अवस्था में उसे मोमिन (प्रणयी) की संज्ञा मिलती है। सबसे पहले मोमिन को उन बातों का त्याग और पश्चाताप करना पड़ता है, जो अल्लाह के मार्ग में बाधक है। इन्हें "तोबा" कहा जाता है, उसे इन बाधाओं से लड़ना पड़ता है, जो "जहद" कहलाती है। जब वह अपने प्रयत्न में सफल हो जाता है तो तब उसे "सब्र" का सहारा लेना पड़ता है, अन्यथा उसमें गर्व का संचार हो जाता है और वह शैतान (माया) के फन्दे में फंस जाता है। अतः शैतान के भुलावे से बचने के लिए, उसे अल्लाह का शुक्र मानना पड़ता है। ईश्वर के आदेश (रिजाअ) पर चलने के लिए भय (खौफ़) का होना आवश्यक है। ईश्वर से भयभीत रहने के साथ—साथ, उसे ईश्वर में आस्था रखनी चाहिए।

सूफी साधक को जीविका के फेर में इधर—उधर भटकना (तवक्कुल) नहीं चाहिए। उसे तटस्थ होकर ईश्वर का ध्यान (रज़ा) करना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर ध्यान और साधना (फ़िक्र) से उसमें अल्लाह की मोहब्बत का आविर्भाव होता है। प्रीति उत्पन्न होने पर मोमिन सूफ़ी (सालिक) बन जाता है। मोमिन को तसव्वुफ के क्षेत्र में पदार्पण करने के लिये सामान्यतः तोबा, ज़हद, सब्र, शुक्र, रिज़ाअ, खौफ़, तवक्कुल, रज़ा, फिक्र और मोहब्बत का क्रमशः अनुष्ठान करना पड़ता है। कुछ लोग इन्हीं को मुकामात कहते हैं, किन्तु वास्तव में ये मुस्लिमों के मुकामात हैं, सूफियों के नहीं, क्योंकि सूफी मोहब्बत को अपना प्रेम प्रस्थान समझते हैं, लक्ष्य नहीं। **अल् हुज्वेरी** का कथन है कि परमात्मा के प्रति प्रत्येक मानव के हृदय में जो विकास होता है, वह सर्वप्रथम उसके लिये श्रद्धा के रूप में पाया जाता है। यही क्रमशः व्यापक बनता चला जाता है तथा प्रेमी साधक को उस समय तक शान्ति उपलब्ध नहीं होती जब तक कि उसे पा नहीं लेता। वह प्रत्येक सांसारिक विषयों की ओर अनासक्त हो जाता है। वह केवल प्रेमी के नियमों का परिपालन करके परमात्मा का पूर्ण परिचय प्राप्त करता है।

"तरीक़त" सूफी की प्रथम और साधक की द्वितीय अवस्था है। इसे तसव्वुफ की "शरीयत" भी कहा जाता है। तरीकत पर चलने से जिस स्थिति का आविर्भाव होता है, उसमें चिन्तन का पूरा—पूरा योग होता है। इस दशा में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह वासनात्मक न होकर, प्रज्ञात्मक होता है। प्रज्ञात्मक ज्ञान होने के कारण उसको किसी अनिष्ट का भय नहीं रह जाता, वह सत्य का अनुभव सुगमता से कर लेता है और "मारिफ़त" की अवस्था में प्रवेश कर जाता है।

"मारिफ़त" सूफी—साधना की वह अवस्था है जहाँ पहुँचते—पहुँचते मुरीद परमसत्ता के आभास के साथ—साथ उसके रहस्यों की कुंजी भी प्राप्त कर लेता है, इस अवस्था को "हाल" की अवस्था भी कहा जाता है। सूफी की संज्ञा "सालिक" से अब "आरिफ" हो जाती है। यह अवस्था अल्लाह की अनुकम्पा का प्रसाद है। अतः यह बिना शरीयत और तरीकत के व्याकरण के भी उत्पन्न हो सकती है।

सूफी साधक "हकीकत" की अवस्था में प्रवेश "मारिफत" की अवस्था के उपरान्त ही करता है। "हकीकत" वास्तव में साधना नहीं, साधक की अनुभूति की अवस्था है। इस अवस्था में आकर साधक ''अन लहक'' का उद्घोष करता है। परमात्मा का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर साधक ब्रह्ममय हो जाता है। यही "फ़ना" की स्थिति है। ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकरूपता से भी ऊपर साक्षात्कार का आनन्द प्राप्त करके मनुष्य पूर्ण बन जाता है। उसकी आत्मा ईश्वर में निवास करती है। यही सूफी का चरम लक्ष्य है। शेख़ निजामुद्दीन औलिया का सूफी साधना की प्रथम अवस्था

"शरीयत" में पूर्ण आस्था थी। वे अपने शिष्यों के जीवन को आध्यात्मिक उन्नति के उच्चतम स्तर तक पहुँचाने के लिये शरीयत के अनुसार संघर्ष करते थे। जो लोग आत्म सर्म्पण की स्थिति तक पहुँच जाते, उन्हें वह तरीक़त के बिन्दु तक ले जाते थे।

शैतान की अवधारणा

भारतीय वेदान्त के अनुसार जिसे "माया" कहते हैं, सूफीमत के अनुसार वह "शैतान" है। शैतान की चर्चा कुरान में की गई है, परन्तु सूफीवाद ने कुरान के शैतान का परिष्कार कर लिया है। कुरान में तो शैतान को खुदा की राह से इन्सान को भटकाने वाला बताया गया है, परन्तु सूफियों ने शैतान को अल्लाह के भक्तों तथा अल्लाह की आराधना करने वालों की परीक्षा लेने वाला कहा है। यदि कोई साधक बिना गुरु (पीर) के आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर होना चाहता है, तो मान लेना चाहिये कि वह अपना मार्ग प्रदर्शक शैतान को बनाये हुए है और उसकी तुलना उस पेड़ से की गयी है जो बागवान के ध्यान नहीं देने के कारण कोई फल नहीं देता अथवा कड़वा फल देता है। सूफियों ने शैतान की कल्पना विद्या—माया के रूप में नहीं की तथा माया का सत्स्वरुप इन्हें मान्य नहीं है। उन्होंने जहाँ कहीं भी शैतान की अवधारणा का उल्लेख किया, वहाँ केवल उन्होंने इन्द्रियगत विषय भोगों के आकर्षण तथा उनके दुष्प्रभाव का ही वर्णन किया है।

शैतान की कल्पना दो रूपों में हुई है। प्रथम शरीर या काया के अन्तर्गत वर्तमान "नफ्स" (वासनापूर्ण आत्मपक्ष) द्वितीय—वाह्य जगत की आकर्षण। इन दोनों के प्रति आकर्षित न होकर ही मानव अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है, क्योंकि संसार का सम्पूर्ण ऐश्वर्य तथा सुख मिथ्या है। असत् की ओर आकर्षित होने वाला पश्चाताप करता है और केवल सत् के मार्ग पर चलने वाला सालिक (साधक) शैतान से परे रहकर सुख का भागी होता है। सूफी आत्मा के दो भेद करते हैं, नफ्स और रूह। नफ्स निम्न कोटि का है तथा सभी कुप्रवत्तियों का स्थान है। रूह उद्वत्तियों का उद्गम स्थल है। नफ्स भावावेग से परिचालित होता है, परन्तु रूह विवेक द्वारा। इन दोनों का परस्पर संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। शरीर तथा जड़ जगत के नाना प्रलोभन अपना प्रभाव डालकर उन्हें वास्तविक जगत के ज्ञान प्राप्त करने से अवरूद्ध करते हैं।

परमात्मा ने "नफ्स" या शैतान को प्रयोजनार्थ बनाया है। यह आत्मा को बराबर आघात देता रहता है, जिससे वह परमात्मा को विस्मत न करने पाये। साधक "रूह" के द्वारा नफ्स पर नियंत्रण कर सकता है। साधक दिल को पवित्र करके परमात्मा की विभूतियों का ध्यान करते हुये क्रमशः उस अवस्था में पहुँच सकता है कि परमात्मा के स्मरण के सिवा उसकी आत्मा में और कुछ भी नहीं रह जाता। वह जिक्र (स्मरण) और ध्यान द्वारा ही संभव है। पैगम्बर ने मुज़ाहदत बल्—नफ्स (अपने जड़ आत्मा के विरूद्ध संघर्ष) को और संघर्षों से उच्च स्थान दिया है। जून—नून, अबू मजीद विस्मानी, मुहम्मद बिन अलीअल, तिरमिघी, जुनैद आदि बड़े—बड़े सूफी साधकों ने शैतान को जानने, उससे संघर्ष करने और उसके दमन करने पर बल दिया है। जुनैद ने तो यहाँ तक कहा है कि नफ्स द्वारा परिचालित व्यक्ति काफ़िर है, वह इस्लाम के विरूद्ध आचरण करने वाला है। नफ्स के दमन के लिये सूफी साधक मौन, उपवास, एकान्त सेवन का आश्रय लेता है।

फरीदुद्दीन मसूद गंजशकरने (बाबा फरीद) शैतान के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए, इससे सदैव बचने का प्रयास किया। वह धनवानों की संगति को बड़ी घणा की दष्टि से देखते थे। उन्होंने

अपने शिष्य सैय्यदी मौला को आज्ञा देते हुए कहा—मेरे एक परामर्श पर ध्यान देना। बादशाहों—अमीरों को अपना मित्र न बनाना। अपने निवास स्थान पर उनके आगमन को हानिकारक समझना। प्रत्येक उस दरवेश का अन्त बुरा होगा, जिसने बादशाहों और अमीरों को अपना मित्र बनाया।

ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन—प्रेम

ईश्वर की अभिव्यक्ति प्रेम का संकेत देती है। प्रेम पूर्ण सौन्दर्य के पहचानने की शक्ति तथा उस पर न्यौछावर होने की योग्यता है। प्रेम ही वह शक्ति है, जो जीव को उसके विरह की अनुभूति कराती है। प्रेम से ही प्रेरणा पाकर, जीव उस सत्ता में पुनः मिल जाने का प्रयास करता है, जिस सत्ता से वह सष्टि की प्रक्रिया में नियुक्त हो गया है। सूफियों ने दास्य भाव को काटकर, उसकी जगह प्रेम और रति को अंकित कर दिया। वस्तुतः प्रेम में वह गुण होता है कि वह प्रेमी और प्रेयसी के बीच के भेदों का अन्त करके, उसके मध्य एकता एवं अभिन्नता स्थापित कर देता है। आगे चलकर बाद की सदियों में प्रेम का लाक्षणिक वर्णन सूफी साहित्य का एक विशिष्ट गुण बन गया।

प्रेम के मूल कारण पर बल देना, जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है, शेख़ निजामुद्दीन औलिया की शिक्षाओं का एक विशेष गुण था। नैतिक आदर्शों में मानव—प्रेम एक आदर्श था, जिसे शेख़ निजामुद्दीन औलिया अपने शिष्यों के मस्तिष्क में बैठाते थे। उनका मानना था कि वह उन्हें प्रसन्न रखता है, जो मानव जाति के लिए उससे (अल्लाह) प्रेम करते हैं तथा वे लोग भी जो उसके लिए मानव जाति से प्रेम करते हैं। ईश्वर से प्रेम तथा उसकी आराधना करने का यही एक मात्र मार्ग है।

इब्न—उल्—अरबी कील भक्ति पद्धति का अर्थ ईश्वर भावना की आंतरिक अवस्था है। वे इस बात से पूर्णरूपेण अवगत थे कि यह पद्धति मानव जाति को बहुदेववाद की ओर ले जा सकती थी, जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इस भ्रम जाल से बचने के लिए, उन्होंने प्रेम के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया, जो सम्पूर्ण प्राणियों को एक सूत्र में बाँध देता है। उनके विचारानुसार, प्रेम ईश्वर की उपासना का उत्कृष्ट प्रतीक है। शेख़ निजामुद्दीन औलिया ने अपनी शिक्षाओं में कहा कि प्रेम वह मूल है, जिससे ईश्वर की प्राप्ति संभव होती है। रहस्यवादी साधक परमात्मा की प्राप्ति का साधन प्रेम मानते आये हैं। परमात्मा का भक्त उसके अनुग्रह को देखकर उससे प्रेम किये बिना नहीं रह सकता और जब वह प्रेम करने लगता है, तब वह उस (परमात्मा) के साथ अंतरंग हो जाता है।

राबिया ने प्रेम के दो भेद बतलाये हैं, सकाम और निष्काम। राबिया के बताये हुये दोनों भेदों की व्याख्या करते हुए अल्—गज़ाली ने कहा है कि सकाम प्रेम से उसका मतलब उस प्रेम से था, जिसमें तात्कालिक सुख और आनन्द की उपलब्धि के लिये परमात्मा से प्रेम किया जाय और उसका अनुग्रह प्राप्त किया जाये। दूसरे प्रकार के प्रेम से राबिया का मतलब परमात्मा के सौन्दर्य (जमाल) पर मुग्ध होना था। यही श्रेष्ठ प्रेम था। **रूमी** ने जोर देकर कहा है कि वही आदमी सब प्रकार से स्वतन्त्र है, जिसका परमात्मा के प्रति इस प्रकार का अनन्य प्रेम है कि उसकी समस्त इच्छाएँ परमात्मा की इच्छा के साथ एक हो गयी हैं। इच्छाओं के इस एकत्व में स्वातंत्र्य और पारतंत्र्य के द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं।

ख्वाज़ा मीर दर्द के अनुसार प्रेम ईश्वर का एक स्वर्गीय पुरस्कार होता है। वह हृदय को सुन्दर एवं विशुद्ध बनाता है तथा सांसारिक बुराइयाँ इसी से दूर करता है। एक आदमी परमात्मा

के प्रति मिलन व दास्य की अवस्था को केवल प्रेम के द्वारा ही पहुँच पाता है। यह ईश्वर के अतिरिक्त उसके हृदय से हर वस्तु को निकाल देता है तथा उसके साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करता है।

पीर और उसकी महत्ता

सूफ़ीमत में 'पीर' और 'फकीरों' की प्रतिष्ठा सबसे अधिक है। उनका विश्वास है कि जो ईश्वरीय प्रकाश दूतों में प्रकाशित होता है, वही पूर्ण पुरुषों और महात्माओं में भी होता है और वे ईश्वर के प्रतिरूप ही बन जाते हैं। सूफियों को जो मार्गदर्शन गुरु से मिलता है, वह किसी अन्य से संभव नहीं है। **ज़ामी** ने कहा था .... ए मेरे पथ प्रदर्शक, यदि संसार में मेरा कोई शुभेच्छु या उत्तम पथ पर चलने वाला है, तो वह आप ही हैं। **घूननून** ने कहा था कि सच्चा मुरीद वही है, जो पीर की आज्ञा का पालन ईश्वर की आज्ञा से भी अधिक तत्परता के साथ करता है।

सूफी गुरु — शिष्य परम्परा में पूर्ण विश्वास करते थे और इस पर आधारित इनका विशिष्ट संगठन था। पीर की अपनी विलायत (प्रदेश) होती थी। शैतान विध्न बाधाओं को खड़ी कर भक्त या साधक की परीक्षा लेता है। उन बाधाओं से बचाकर, उचित मार्ग दर्शन गुरु (पीर) ही कर सकता है। जिस प्रकार कबीर आदि निर्गुणोपासक ज्ञानमार्गी सन्तों ने गुरु की महिमा स्वीकार की है, उसी प्रकार सूफी भी गुरु का बड़ा महत्व स्वीकार करते हैं। सूफियों का उद्देश्य वस्ल (मिलन) अथवा फ़ना (ब्रह्म मिलन) और निर्वाण है, किन्तु इस मार्ग पर चलने के लिए सूफ़ीमत में पीर (गुरु) का होना आवश्यक माना गया है। पीर या शेख की पूजा का तसव्वुफ में इतना महत्व है कि जिसने किसी संत को अपना पीर नहीं बनाया, उसके बारे में यह समझा जाता है कि उसका गुरु शैतान है। पीर और मुर्शीद (शिष्य) के संबंध के बिना सूफियों में साधना का कोई अस्तित्व नहीं है।

हुज्वेरी ने पीरों तथा संतों के बारे में कहा है कि परमात्मा के विशेष कृपा पात्र ऐसे पीर अथवा सन्त हैं, जिन्हें उसने विशेष रुप से अपना लिया है और उन्हें अपने राज्य का अधिकारी चुना है और अपने कार्यों को प्रकट करने के लिए विशेषत्व प्रदान किया है **"फुतुहात फीरोज़शाही"** में फीरोजशाह ने लिखा है कि जहाँ कहीं उसने किसी सन्त या पीर की बात सुनी, वहाँ वह उसके दर्शन के लिए जाता था, जिससे कि वह उसके आशीर्वाद ग्रहण कर सके। जो साधक उसकी सहायता लिए बिना सूफी मार्ग पर अग्रसर होने की चेष्टा करता है, वह ढोंगी समझा जाता है। 'पीर' परमात्मा के राज्य में जो कुछ होता है, उसे वह देखता है और उसके अनजान में कोई बात नहीं होती। इतना ही नहीं, परमात्मा से भी अधिक उसे मानने के लिए कहा गया है। पीर या शेख ही वह केन्द्र बिन्दु है, जिसके चारों ओर सूफ़ीमत का यंत्र भ्रमण करता रहता है।

ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य तक शेख तथा मुरीद की कोई पद्धति या व्यवस्था नहीं थी। ख्वाज़ा मोइनुद्दीन चिश्ती ने आध्यात्मिक पथप्रदर्शक की खोज के लिए एक भ्रमणकारी सन्यासी के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ किया, अकस्मात् वे नीशापुर प्रान्त के एक छोटे से कस्बे हारून पहुँचे, जहाँ उन्हें यथोक्त रीति से ख्वाज़ा उस्मान हारून ने (चिश्ती सम्प्रदाय के प्रख्यात सूफी संत) दीक्षित किया और उन्हें भारत में जाकर बसने का आदेश दिया। भारत के सर्वसाधारण लोग पीर अथवा फक़ीर को श्रद्धा और आदर की दष्टि से देखते थे।

इश्क मज़ाज़ी और इश्क़ हक़ीक़ी

सूफीमत में प्रेम का अत्यधिक महत्व है। सूफी इश्क़ मज़ाज़ी (पार्थिव प्रेम) को इश्क़ हक़ीक़ी (आध्यात्मिक प्रेम) का सोपान मानते हैं। इसकी परम्परा अति प्राचीन है, ईसाई सन्त ईसा मसीह को दुल्हा और अपने को उनकी दुलहिन कहा करते थे। अफलातून ने शरीर—सम्पर्क रहित प्रेम की कल्पना करके नर—नारी के संबंध को पवित्रता के धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया था।

सूफ़ी साधक ईश्वर को निराकार भी मानते हैं और साकार भी। वे ईश्वर को मनुष्य की आत्मा और मानव—जीवन को उस आत्मा का आवरण मानते हैं। प्रायः प्रत्येक साधक ईश्वर की कल्पना परम सुन्दरी नारी के रूप में करता है जिस पर वह आसक्त होना चाहता है। सूफीमत में परमेश्वर साकार सौन्दर्य है और साधक साकार प्रेम सौन्दर्य से प्रेम और प्रेम से मुक्ति, यह सूफीमत के सिद्धान्त का निचोड़ है, इसी प्रेम की सिद्धि के लिए सूफियों ने इश्क़ मज़ाज़ी की भी छूट दी, क्योंकि इश्क़ मज़ाज़ी से भी इश्क़ हक़ीक़ी हासिल हो सकता है। हक़ीक़ी (आध्यात्मिक प्रेम) तक पहुँचाने के लिए पद्मावती और राजा रतनसेन का वरण किया।

सूफियों के अनुसार प्रेम अत्यधिक विरह विशिष्ट होता है। यह प्रेम—तत्व साधक को प्रेरणा देता है। इसी को पाकर वह उन्मुक्त हो उठता है। रूमी ने इस स्थिति का बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। प्रेम की ज्वाला ने ही मुझे प्रज्वलित किया है, उसी की मदिरा ने मुझे उन्मुक्त बनाया है। यही दिव्य—सौन्दर्यसाधक को सिद्धि के द्वार पर ले जाता है अर्थात् प्रेम सच्चे प्रेमी को कभी थकने नहीं देता, उसे वह नित्य नवीन शाश्वत सौन्दर्य की अनुभूति कराता रहता है और वह प्रत्येक पद पर नित्य नयी विभूति प्रदान करता है। प्रसिद्ध सूफी सन्त और दार्शनिक इब्नुल अरबी ने स्त्री—प्रेम को ईश्वरीय प्रेम का प्रतीक माना है। अल्—गज़ाली ने लिखा है कि स्त्री—पुरुष का प्रेम उस ईश्वर—मनुष्य प्रेम के लिये एक पुल मात्र है। ईश्वर की प्राप्ति के लिये ही इसकी उपयोगिता है, उसकी अनुभूति कर लेने के बाद, इसकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है।

"इश्क़ मज़ाज़ी" और "इश्क़ हक़ीक़ी" की पुष्टि अधिकतर फारसी साहित्य में होती है, जिसमें कहा गया है कि सांसारिक प्रेम के मार्ग पर चलकर, ईश्वरीय—प्रेम को प्राप्त किया जा सकता है। इब्नुल अरबी ने स्त्री प्रेम को ईश्वरीय प्रेम बताया है। उसके अनुसार लौकिक—प्रेम भी ईश्वरीय प्रेम की भाँति है। उसने नारी के प्रेम को ईश्वरीय प्रेम की तरह पवित्र माना है। मौलाना रूमी ने कहा है कि स्त्री, ईश्वरीय किरण है। वह निर्माता है, निर्मित नहीं। वह इस बात को भी स्वीकार करता है कि सूरत तथा रंग पर आधारित प्रेम अन्त में खोखला प्रमाणित होता है। **ज़ामी** ने अपने प्रसिद्ध प्रेमाख्यान "यूसुफ—जुलेखा" में कहा है कि प्रेम द्वारा ही अपने 'स्व' से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। युवावस्था में विचार सांसारिक प्रेम की ओर झुकते हैं। यही सांसारिक प्रेम, ईश्वरीय प्रेम में बदल जाता है। यह प्रारम्भिक वर्णमाला है, इसके बाद ही हम ईश्वरीय संसार को ग्रहण करते हैं और उसके सहारे उसका चिन्तन करते हैं। उसने यह बात स्वीकार की है कि इश्क़ मज़ाज़ी में और इश्क़ हक़ीक़ी में कोई वास्तविक अन्तर नहीं है। पहला दूसरे तक पहुँचने का स्वाभाविक सोपान भी बन सकता है।

आत्म निग्रह, चिन्तन आदि

तसव्वुफ़ अथवा सूफीमत में परम्परानुकूल एक गति का जन्म हुआ जिसका उद्देश्य ईश्वर के प्रति प्रेमपूर्ण भक्ति और स्वात्म को अनुशासित करना था। ईश्वर का सहज ज्ञान प्राप्त करने के लिए

हृदय तैयार करने हेतु मानव में आत्मनिग्रह तथा आत्म–अनुशासन आवश्यक है। जुनैद बगदादी, गज़ाली, शेख अब्दुल कादिर, ज़ीलानी, शेख शहाबुद्दीन सुहरावर्दी आत्म–अनुशासन पर विशेष बल देते थे। **अमीरहसन सिज्जी** कृत **"फवाएद–उल्–फुवाद"** एक ऐतिहासिक ग्रन्थ है, जो व्यावहारिक सूफीवाद पर आधारित है, इसमें आत्म चिन्तन, आत्म–विद्या संबंधी सूक्ष्मताएँ विद्यमान हैं। आध्यात्मिक सत्य की खोज करने वालों तथा सत्यज्ञान की बात करने वालों के लिये अकबर ने सन् 1575 ई॰ में एक इबादत खाना (प्रार्थना गह) का निर्माण कराया था। मानव समाज के सभी समस्याओं के प्रति प्रारम्भिक मुस्लिम रहस्य वादियों का दष्टिकोण शान्तिवादी तथा अहिंसावादी था। उनका मानना था कि मनुष्य को धैर्य तथा सहिष्णुता की प्रवत्ति को विकसित करना चाहिये। क्रोध प्रवत्ति को दबाना नहीं चाहिये, अपितु गलत काम करने वाले व्यक्ति को क्षमा करके उक्त प्रवत्ति को दूर करना चाहिये। आत्मालोचना मानव समाज के विभेदों को समाप्त करने का अच्छा मार्ग है। शेख़ निजामुद्दीन औलिया का इस संदर्भ में कहना है कि यदि दो व्यक्तियों में संघर्ष उत्पन्न हो तो, मैं अपने हृदय से बदले की प्रवत्ति को निकाल दूँगा, ऐसी अवस्था में शत्रुता की प्रवत्ति व कार्य स्वतः समाप्त हो जायेगा। सूफीमत आन्तरिक शुद्धता को धर्म का प्राण तत्व मानता है।

यदि मनुष्य अपने नफ़्स के प्रभाव में होकर विरोध की प्रवत्ति का प्रदर्शन करता है तो उसके साथ मानवीय व्यवहार का व्यवहार करना चाहिए। परन्तु यदि व्यक्ति नफ़्स का विरोध नफ़्स से करता है तो कभी भी संघर्ष का अन्त नहीं होगा।

मत्यु के उपरान्त मनुष्य परमात्मा के पास पुनः पहुँच सकते हैं, लेकिन सूफियों का चिन्तन यह है कि परमात्मा की कृपा के अभाव में यह संभव नहीं है। अतः साधकों की सबसे बड़ी साधना यह होती है कि वह अपने इस अ–सत् तत्व तथा सत्य प्रतीत होने वाले "अहं" के ऊपर विजय प्राप्त करे। यह "अहं" सबसे अधिक भ्रमकारी तथा सम्पूर्ण दुःखों का मूल है। इस पर विजय प्राप्त करने के लिये ज्ञान की उपलब्धि आवश्यक है। ज्ञान की प्राप्ति तथा परमात्मा की कृपा दष्टि के लिये परमात्मा से दुआ माँगते रहना चाहिये। सूफी का मुख्य कर्त्तव्य, उनकी दष्टि में, यह है कि वह परमात्मा के "एकत्व" का ध्यान, जिक्र (परमात्मा का स्मरण) और तरीका (सूफी मार्ग पर अग्रसर होना) में लगा रहे, क्योंकि इन्हीं के द्वारा अन्त में परमात्मा के साथ "एकमेव" होना संभव है।

परमात्मा सम्बन्धी प्रमुख सिद्धान्तों में "वहदतुल बुजुद" है। इस सिद्धान्त का विशेष स्थान रहा है। इसने सम्पूर्ण सूफी चिन्ताधारा को प्रभावित किया है। इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तक मुहीउद्दीन इब्नुल अराबी ने अपने आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की थी और कुरान तथा हदीसों के सहारे इसकी संगति इस्लाम के साथ बैठायी थी। यही कारण था कि इस सिद्धान्त का प्रभाव इस्लामी दुनिया और विशेष रूप से विभिन्न सूफी सम्प्रदायों पर व्यापक रहा।

इब्नुल अराबी का कहना है कि शाश्वत और दश्यमान वस्तुएँ, दोनों 'एक' के ही पूरक जैसे हैं और उनमें परस्पर अन्योन्याश्रित संबंध है। जीवन, सष्टिकर्त्ता की बाह्य अभिव्यक्ति है। चूंकि मानव की ज्ञान परिधि सीमित है, इसलिए सभी वस्तुएँ एक ही साथ उसके चिन्तन क्षेत्र में नहीं आ सकती, अतएव वह उस चैतन्य के साथ अंश को प्रकट कर सकता है। यह सत्य तो है, लेकिन वही एकमात्र सत्य नहीं है। अल्लाह ही अस्ल है और संसार उसकी छाया है और छाया तो वास्तविक की ही अभिव्यक्ति है, इसलिए संसार उसके अनुरूप है। उनका सिद्धान्त कहता है कि मनुष्य अथवा यह संसार परमात्मा के मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ है। मनुष्य उसके ज्ञान से

उत्पन्न होकर इस संसार में पदार्पण करता है और यहाँ के अनुभव को प्राप्त कर पुनः उसी में लौट जाता है। परमात्मा का ज्ञान और उसकी सत्ता दोनों ही अनादि है। वास्तव में मनुष्य परमात्मा के नाम और गुण में विश्वास करता है। अतएव मनुष्य के विश्वासों में वह अभिव्यक्त होता है। यह विश्वास ज्ञान और चिन्ता के सहारे ही टिका हुआ है। इसलिए वह ज्ञान के सहारे ही मनुष्य के निकट अभिव्यक्त होता है। सूफीमत में स्वतन्त्र और निरपेक्ष मनन को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जाता है। परन्तु इस्लाम में अध्यात्म चिन्तन के लिए कोई स्थान नहीं है। इस्लाम की आधार भावनामूलक बुद्धिवादिता है।

सूफी शब्द का उद्भव

सम्पूर्ण सूफीवाद की उत्पत्ति धर्म से है। **युसूफ हुसैन** के शब्दों में अगर यों कहें कि सूफीवाद का जन्म इस्लाम के हृदय से हुआ तो कोई अत्युक्ति न होगी। कादिरी सम्प्रदाय के संस्थापक शेख अब्दुल कादिर जीलानी का कहना है, 'किताब व सुन्नत (पैगम्बर के आचरण का पालन) को अपने सामने रखो।' चिन्तन मनन के साथ इन दोनों का अध्ययन करो और इन्हीं दोनों को कार्य विधान बनाओ। हजरत मुहम्मद के सिवा हमारा कोई नबीं नहीं है कि हम उसका पालन करें और कुरान के सिवा कोई किताब नहीं कि हम उस पर अमल करें। इसलिए इन दोनों की मर्यादाओं से बाहर न निकलो, वरना नष्ट हो जाऐगे। तुम्हारी मनोकामनाएँ और शैतान तुम्हें पथ–भ्रष्ट कर देगे। शान्ति व आनन्द **किताब** व **सुन्नत** के साथ है और विनाश **किताब** व **सुन्नत** के प्रतिकूल व्यवहार में।

ताराचन्द भी मानते हैं कि इसका मूल स्रोत **कुरान** व पैगम्बर इस्लाम का जीवन आचरण है। वे कहते हैं कि "हज़रत मुहम्मद एक सूफी थे और कुरान की आयतों में तसव्वुफ की आवाज़ सुनाई देती है।" यद्यपि सूफी शब्द का प्रयोग इस्लाम धर्म के रहस्यवादियों के लिए किया जाता है। फिर भी यह समझना गलत होगा कि अलग ही उनका कोई विशेष संगठित सम्प्रदाय था और उनका एक अलग ही सैद्धान्तिक मतवाद था। वे मुस्लिम समाज के अन्तर्गत थे और इस्लाम के मूलभूत सिद्धान्तों से अलग जाने की कल्पना भी नहीं कर सकते थे। परमात्मा की निकटता को हासिल करना सूफियों की साधना की सबसे बड़ी उपलब्धि है। **कुरान** में कहा गया है, 'तुम्हारा पालनहार कहता है, मुझे पुकारो मैं तुम्हारी दुआएँ कबूल करूँगा।'

आरम्भ से ही पैगम्बर के साथियों में कुछ लोग ऐसे थे जो संसार से विरक्त रहते थे और एक प्रकार से संयमी जीवन व्यतीत करते थे। जब प्रथम शताब्दी हिज़री इस्लाम ने तेजी से स्पेन से सिंध तक अपनी सत्ता स्थापित कर ली और नए–नए देश विजित होते चले गए तो भौतिक समद्धि उन्हें ईश्वर की ओर से विमुख कर रही थी। बहुत से लोगों ने जो बाह्य वैभव व धन–सम्पत्ति को इस्लाम के उन मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध समझते थे जिन पर एक सच्चा इस्लामी जीवन व्यतीत किया जा सकता था–आत्म त्याग एवं विरक्त जीवन बिताने के लिए सांसारिक जीवन को त्याग दिया।

प्रथम दो हिज़री शताब्दियों के सूफी–सन्त संयमी एवं कट्टर धार्मिक भावों वाले व्यक्ति थे जो **तोबा** (पश्चाताप) तथा **तवक्कुल** (ईश्वर निर्भरता) के सिद्धान्तों पर अधिक बल देते थे। सूफी दर्शन में एक शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ है कि परमात्मा की भक्ति पूरी तल्लीनता से की जाए। **हदीस** में इस शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है, 'एहसान यह है कि तुम इस तरह परमात्मा की भक्ति करो, मानों तुम उसे देख रहे हो। अगर तुम उसको नहीं देख रहे

हो तो वह तुमको देख रहा है।' तात्पर्य यह है कि **तसव्वुफ** (रहस्यवाद) अथवा सूफीमत का मूल स्रोत इस्लाम है।

तसव्वुफ तथा **सूफी** में ऐसे शब्द है जो यद्यपि मुस्लिम समाज में अत्यधिक प्रचालत है लेकिन इन शब्दों का कुरान व हदीस में कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इसका अर्थ यह नहीं है कि सूफियों के गुणों के लिए कोई शब्द कुरानी युग में नहीं था, बल्कि जिन अर्थों में **सूफी** या **तसव्वुफ** का प्रयोग वाद के युगों में हुआ है, कुरान में उस **एहसान** नाम से याद किया गया है।

सूफी शब्द की उत्पत्ति कई शब्दों — **सूफ** (फारसी में सूफियों को पश्मीना पोश अर्थात् ऊन पहनने वाला कहा जाता है जो अरबी शब्द सूफी का पर्याय है। **सफ़ा** (पवित्रता) शब्द से भी सूफी शब्द का निकलना स्वीकार किया जाता है। इसके अतिरिक्त **सफ़** अर्थात् ये सूफी अपने साहस, धैर्य और अपने उच्च चरित्र के कारण खुदा के सामने प्रथम पंक्ति (सफ़) में होते हैं, इसलिए सूफी कहलाए। **सोफिया** (ज्ञान) शब्द से भी सूफी शब्द का निकलना माना जाता है। **सुफ्फः** अरबी में चबूतरे को कहते हैं। पैगम्बर के समय मदीना में मस्जिद नबीं में किनारे की ओर एक चबूतरा था जिस पर बैठकर भक्त जन भक्ति चिन्तन व ईश्वर का गुणगान करते थे। इसलिए वे सूफी कहलाए।

तसव्वुफ या सूफीमत की कोई एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है। यह अल्लाह व बंदे के बीच एक ऐसा अनुभव है जिसे अनुभवकर्त्ता अभिव्यक्त करने की चेष्टा करने पर भी इसे पूर्णतः अभिव्यक्त करने में सफल नहीं हो पाता। अंग्रेजी भाषा का शब्द **mysticism** व हिन्दी **अध्यात्मवाद** या **रहस्यवाद** जिन अर्थों में आते हैं, तसव्वुफ से भी लगभग यही अर्थ है। प्रारम्भिक सूफी सन्तों के वैराग्य ने **तसव्वुफ** में परम्परानुकूल एक गति को जन्म दिया जिसका उद्देश्य ईश्वर के प्रति प्रेम पूर्ण भक्ति को अनुशासित करना था। भारत में सूफीमत का चिरस्वामी प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों में वे लोग थे जो इसके भिन्न–भिन्न चार उप सम्प्रदायों क्रमशः **चिश्ती, सुहरावर्दी,** कादिरी व नक्शबन्दी से सम्बन्ध रखते थे। यद्यपि **आइन** में **अबुलफज़ल** ने अपने समय के चौदह सम्प्रदायों का उल्लेख किया है जैसे—**चिश्ती, सुहरावर्दी तबीर्जी, तफूरी, कर्खी, सकती, जुनैर्दी, काज़रुनी, तूर्सी, फिरदौसी, जैर्दी, इयार्दी, अधमी** और **हुबैरी।**

युसुफ हुसैन मानते हैं कि सूफी धर्म का जन्म इस्लाम के पक्ष में हुआ और ये विदेशी विचारधारा और रस्मों से प्रभावित नहीं हुआ यद्यपि सूफी धर्म भारत में कई सौ वर्षों तक प्रचलित रहा लेकिन यह भारतीय विचारधारा और वातावरण से अछूता रहा। **ए.एल. श्रीवास्तव** इस विचारधारा से सहमत नहीं हैं और मानते हैं कि सूफी धर्म हिन्दू विचारधारा विश्वास व रीति रिवाजों से बहुत प्रभावित हुआ। उदाहरण के लिए एक इष्टदेव का विचार और आत्मा व परमात्मा के बीच प्रियतमा व प्रियतम जैसे सम्बन्ध की बात हिन्दू धर्म की अपनी विशेषता है जिसे कि भारत में सूफियों ने अपना लिया था। उनका कहना है कि भारतीय मुसलमान सूफियों ने जो शान्ति व अहिंसा के सिद्धान्त अपनाए थे हिन्दू धर्म व जैन धर्म की विशेषताएँ हैं और इनका सम्बन्ध भारत से है। इसके अतिरिक्त सन्यासियों की कुछ प्रथाएँ जैसे उपवास करना, शरीर को यातना देना, **चिल्लामाकूस** आदि हिन्दू व बौध धर्म से ली गई हैं। चिल्लामाकूस का अर्थ है कि अपने पैरों में रस्सी बाँधकर अपने शरीर को कुएँ में उल्टा लटकाना और इसी स्थिति में 48 रातों तक तपस्या करना। चिश्तीयों ने, जैसाकि **के०ए० निजामी** बताते हैं कि भारत में अपने सिलसिले के विकास के प्रारम्भिक चरणों में बहुत सी हिन्दू प्रथाएँ व रिवाज अपना लिये थे जैसे—आने वाले आगतों को जल देना; शेख

को झुककर प्रणाम करना, कमण्डल रखना व भक्त मण्डलियाँ (सभा) और **चिल्ला–ए–माकूस** हिन्दू व बौद्ध प्रथाओं से मिलती–जुलती है।

सूफियों के दो लक्ष्य थे– एक तो अपनी आध्यात्मिक उन्नति करना व दूसरा इस्लाम एवं मानवता की सेवा करना। ये सेवा केवल मुसलमानों तक ही सीमित न थी बल्कि सूफी विशेषकर निम्न जातियों के हिन्दुओं को इस्लाम का सन्देश देने को हमेशा तैयार रहते थे। ये मुस्लिम सूफी खानकाहों (गुफा) में रहते थे। इनकी ये खानकाह हिन्दुओं की विशेषकर निम्न जातियों की बस्ती के समीप हुआ करती थी। यह आम तौर पर मिट्टी की बनी होती थी और घास फूस से ढकी रहती थी। ये अधिकतर गहस्थ, जीवन व्यतीत करते थे आमतौर पर सर्वसाधारण की स्वेच्छा में दी गई भिक्षा पर ही जीवन व्यतीत करते थे। पर कुछ सूफी सन्त जैसे **सुहरावर्दी** सम्प्रदाय के सूफी राज्य से भेंट स्वीकारते थे। **श्रीवास्तव** लिखते हैं कि हिन्दुओं को प्रभावित करने के लिए व उन्हें इस्लाम स्वीकार करवाने के लिए सूफियों को जनभाषा सीखनी पड़ी।

चिश्ती सम्प्रदाय

मोइनुद्दीन चिश्ती

ख्वाजा अब्दुल चिश्ती द्वारा संचालित चिश्ती सम्प्रदाय को हिन्दुस्तान में ख्वाजा उस्मान हारुनी के एक शिष्य, ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती ने विस्तत किया। 1143 ई० में सीस्तान में ख्वाजा मोइनुद्दीन का जन्म हुआ। मुहम्मद गौरी के आक्रमण से कुछ समय पूर्व वे भारत आए व बहुत ख्याति प्राप्त की। वे **सुलतान –उल–हिन्द** (हिन्दुस्तान के आध्यात्मिक बादशाह) की उपाधि द्वारा सम्मानित हुए। उन्होंने इस्लामी देशों का दूर–दूर तक भ्रमण किया व नीशापुर प्रान्त के एक छोटे से कस्बे **हारुन** में पहुँचे जहाँ यथोचित रीति से ख्वाजा उस्मान हारुन, जो चिश्ती सम्प्रदाय के प्रख्यात सूफी संत थे, ने उन्हें दीक्षित किया और उन्हें भारत में जाकर बसने का आदेश दिया। हिन्दुस्तान आने से पहले वे अपने समकालीन सूफी–सन्तों के सत्संग में रहे।

1190 ई० में ख्वाजा हिन्दुस्तान पहुँचे। पहले वे लाहौर गए जो मुस्लिम विद्या का केन्द्र था। यहाँ से वे दिल्ली आए व फिर अजमेर गए। यहाँ इस समय पथ्वीराज शासन करता था। कुलीन पंडितों ने ख्वाजा को निर्वासित करने की माँग की क्योंकि जैसाकि **के०ए० निजामी** बताते हैं, उनके प्रभाव में वहाँ के निम्न श्रेणी के लोग लाने लगे थे। पर दंतकथा बताती है कि ख्वाजा के निकट पहुँचकर अजमेर के प्रधान पंडित रामदेव, जिसे राजा ने ख्वाजा के निर्वासन के आदेश के साथ भेजा था, उनके व्यक्तित्व से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपना शेष जीवन उनका भक्त बन कर बिताया।

ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी

1234 ई० ख्वाजा के निधन के पश्चात् उनके प्रधान खलीफा (आध्यात्मिक उत्तराधिकारी ख्वाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी) हुए। उन दिनों इल्तुतमिश दिल्ली का सुल्तान था। उसने ख्वाजा को महल में चलकर निवास करने को कहा परन्तु उन्होंने इस बात को स्वीकार न किया। सुल्तान ने उन्हें **शेख–उल–इस्लाम** का पद दिया पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। **सियारुल औलिया** से ज्ञात होता है कि चिश्ती सूफी संत संगीत के आध्यात्मिक मूल्य पर विश्वास रखते थे तथा दक्ष एवं निपुण संगीतज्ञों को आश्रय देते थे चाहे किसी जाति या धर्म से उनका सम्बन्ध क्यों

न होता। नए शेख–उल–इस्लाम द्वारा दिल्ली में ख्वाजा कुतुबुद्दीन की संगीत सभाओं का विरोध हुआ तो ख्वाजा ने दिल्ली छोड़ देने का फैसला किया पर दिल्ली की जनता की भक्ति व स्नेह ने उनको प्रभावित किया व उन्होंने दिल्ली में रहने का फैसला किया। इसके उपरान्त में शेख–उल–इस्लाम ने भी उनका विरोध करना बन्द कर दिया।

हमीदुद्दीन नागौरी

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के कई शिष्य और अनुयायी थे, जिन्होंने उनके आदेशों और उपदेशों का प्रचार किया। इनमें से एक प्रमुख शिष्य हमीदुद्दीन नागौरी थे। कहा जाता है कि कुतुबुद्दीन की दिल्ली विजय के पश्चात वहाँ हमीदुद्दीन जन्म लेने वाले प्रथम मुस्लिम नवजात शिशु थे। ख्वाजा के शिष्य बनते ही उनके जीवन में परिवर्तन आया व फिर वे इतने श्रेष्ठ सूफी बन गए कि ख्वाजा ने उन्हें **सुल्तान तारीकिन** (सन्यासियों के सुल्तान) की उपाधि प्रदान कर दी। वे अपनी पत्नी सहित नागौर के पास एक गाँव में कच्ची झोपड़ी में रहते थे और अपनी जीविका के लिए एक छोटे से भू–भाग में खेती करते थे। उनका जीवन साधारण ग्रामीण का था। वे अधिकारियों से किसी भी प्रकार की भेंट स्वीकार नहीं करते थे। वे लोगों के आध्यात्मिक गुणों को पहचान कर उनकी कद्र करते थे।

फरीदुद्दीन मसूद गंज–ए–शकर

ख्वाजा कुतुबुद्दीन के उत्तराधिकारी ख्वाजा फरीदुद्दीन गंज–ए–शकर थे, जो **बाबा फरीद** (1175-1265 ई०) के नाम से भी जाने जाते हैं। उन्होंने हाँसी और अजोधन में सूफी धर्म का प्रचार–कार्य किया और यह उन्हीं के प्रयत्न का फल था कि सूफियों का चिश्तिया सम्प्रदाय एक अखिल भारतीय सम्प्रदाय बन गया।

बाबा फरीद का जन्म मुल्तान के समीप 1175 ई० में हुआ था। वे छोटी आयु में ही शेख कुतुबुद्दीन के शिष्य हो गए थे और उपासना और अनुष्ठान जिनमें **चिल्ला–ए–माकूस** भी शामिल था, करने लगे थे। वे पहले हाँसी में बसे और फिर अजोधन चले आए। उन्होंने बहुत से खानकाह स्थापित किए। वे इतने जनप्रिय थे कि सदैव दर्शनार्थियों और शिष्यों से घिरे रहते थे। एकान्त पसन्द व प्रसिद्धि को नापसंद करने के कारण उन्होंने जानबूझ कर राजधानी से दूर रहने का फैसला किया।

वे धनवानों की संगति को बड़ी घणा की दष्टि से देखते थे और उनके साथ मेल–जोल रखने से बचते थे। **बरनी** से पता चलता है कि अपने एक शिष्य को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, 'बादशाहों और अमीरों को अपना मित्र न बनाना। अपने निवास स्थान पर उनके आगमन को हानिकारक समझना। हर उस दरवेश का अन्त बुरा होगा जिसने बादशाहों और अमीरों को अपना मित्र बनाया।

बाबा फरीद ने अपने प्रधान शिष्य शेख निजामुद्दीन औलिया को सम्बोधित करते हुए कहा, 'सूफीमार्ग का प्रमुख लक्ष्य हृदय को एकाग्र करना है जो जीविकोपार्जन के निषिद्ध साधनों और बादशाहों के संसर्ग से बचने से ही प्राप्त हो सकता है।' उन्होंने बल्बने, जो उनका बहुत बड़ा भक्त था, को एक पत्र में लिखा जिसका अभिप्राय था कि 'मानव को कोई वस्तु प्रदान करने की वास्तविक शक्ति केवल परमात्मा के पास है। यदि तुम उसे कोई वस्तु प्रदान करते हैं। तो सच यह है कि देने वाला अल्लाह है और उसके प्रतिनिधि होने के नाते तुम धन्यवाद के पात्र हो। यदि कुछ

देने में तुम असमर्थ रहे तो तुम इस मामले में असहाय हो। सम्भवतः अल्लाह ने तुम्हें ऐसा करने से रोक दिया हो।'

इस प्रकार बाबा फरीद ने ईश्वर भक्त के रूप में कठोर संयमी जीवन व्यतीत करते हुए 1265 ई० में अपना शरीर त्याग दिया। उन्हें **पाकपट्टन** में दफनाया गया।

निजामुद्दीन औलिया

बाबा फरीद के प्रधान शिष्य शेख निजामुद्दीन औलिया, जिनका जन्म बदायूँ में 1236 ई० में हुआ, उनके खलीफा हुए। 20 वर्ष की अवस्था में ही वे **अधोजन** में बाबा के शिष्य बन गए थे। 1258 ई० में वे दिल्ली लौट आए व कई वर्षों तक शहर के बीच में रहने के बाद वे **ग्यासपुर** गाँव में चले गए, जो दिल्ली से बहुत दूर न होते हुए भी शहर के शोर गुल से दूर था।

एक सूफी होने के नाते वे सुल्तानों के दरबार में जाना अपनी मर्यादा के खिलाफ समझते थे। यद्यपि उन्होंने सात सुल्तानों का शासनकाल देखा था, किन्तु वे कभी किसी के दरबार में कभी नहीं गए। सुल्तान अलाऊद्दीन ने एक बार शेख से भेंट करने का आग्रह किया तो उन्होंने संदेश भेजा :'मेरे मकान में दो द्वार हैं। यदि सुल्तान एक द्वार से प्रवेश करेगा तो मैं दूसरे से बाहर निकल जाऊँगा।' इस तरह वे एक विरक्त जीवन जीने में विश्वास करते थे।

फवाएद–उल–फुवाद से ज्ञात होता है कि स्वतन्त्र दष्टिकोण के साथ–साथ संगीत में भी उनकी सोच थी व उनके एक शिष्य **मौलाना फखरुद्दीन जर्रादी** ने संगीत को वैधानिक सिद्ध करने के लिए एक पुस्तिका संकलित की, जिसमें हर प्रकार के धार्मिक तर्क–वितर्क प्रस्तुत किए गए। बंगाल की एक विजय यात्रा से लौटते हुए निजामुद्दीन तुगलक ने उन्हें ग्यासपुर छोड़ने का आदेश भेजा क्योंकि बहुत अधिक संख्या में लोग उनसे मिलने–जुलने जाया करते थे, जिससे सरकारी काम से आए लोगों को ठहरने के लिए स्थान नहीं मिलता था तो परम्परा से वह विदित होता है कि शेख ने कहा, 'हुनोज दिल्ली दूर अस्त' (अभी दिल्ली दूर है)। सुल्तान की राजधानी पहुँचने से पहले ही मत्यु हो गई। 1325 ई. में अपने स्वर्गवास तक शेख वहीं रहे। वे **महबूबे-इलाही** (ईश्वर के प्रियतम) के नाम से याद किए जाते हैं। उनके व्यक्तित्व तथा विस्तत धार्मिक दष्टिकोण ने हिन्दुस्तान में चिश्ती सम्प्रदाय की लोकप्रियता को सुदढ़ किया है अपने शिष्यों के जीवन को आध्यात्मिक उन्नति के शिखर तक पहुँचाने के लिए शरीयत के अनुसार जीवन व्यतीत करने पर ज़ोर देते थे।

अमीर हसन सिज्जी ने अपने ग्रन्थ **फवाएद-उल-फुवाद** में शेख निजामुद्दीन औलिया के वार्तालापों को संग्रहीत किया है। यह व्यवहारिक सूचीवाद की एक पुस्तक है जिसमें आत्म विद्या संबंधी सूक्ष्मताएं मौजूद हैं। वे ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रेम पर बल देते थे। उनका मानना था कि मनुष्य को मानव ह्रदय को शांति पहुँचानी चाहिए क्योंकि मानव ह्रदय भगवत् रहस्यों का निवास स्थान है। कयामत के दिन मानव ह्रदय को आराम देने के मूल्य से अधिक किसी दूसरे काम को मूल्यवान न समझा जाएगा। वे अपने शिष्यों के मानव प्रेम की भौतिक शिक्षा देते थे। उनके उपदेशों को उनके शिष्यों ने देश के विभिन्न भागों में पहुँचाया। **शेख सिराजुद्दीन उस्मानी** जिन्हें उनके आध्यात्मिक गुरु ने **आईना-ए-हिन्द** (हिन्दुस्तान का दर्पण) की उपाधि दी, इस संदेश को बंगाल ले गए तथा उन्हें बंगाल का आध्यात्मिक शासन प्रदान किया गया। हिन्दुस्तान के पूर्वी क्षेत्रों में उन्होंने अपने गुरु के कार्य को ज़ारी रखा। उनके पुत्र ने अपना–अपना सम्पूर्ण जीवन दरिद्रों और पद दलित लोगों के बीच रहकर बिताया। उन्होंने इस्लाम की समानता तथा भ्रातभाव के संदेशों का प्रतिपादन

किया। इन सूफियों ने हमेशा शासकों को उदार नीतियों का अनुसरण करने व सामाजिक व पारस्परिक वैमनस्य को दूर कर आपसी एकता रखने की शिक्षा दी।

ये सूफी सन्त आध्यात्मिक उन्नति के लिए जीवन के नैतिक दष्टिकोण का त्याग करने के लिए तैयार न थे। उन्होंने जान लिया था कि शरीर मिट्टी का है। यही कारण है कि वे अपने शिष्यों से न्याय तथा परोपकार के आचरण करने का आग्रह करते थे।

अकबर के शासनकाल में चिश्ती सिलसिला एक बार फिर प्रमुख हो उठा। सम्राट अकबर फतेहपुर सीकरी में स्थित शेख **सलीम चिश्ती** का परम भक्त था। 18 वीं शताब्दी के दौरान शेख **कलीमुल्लाह** और उनके शिष्य शेख **निजामुद्दीन चिश्ती** प्रमुख हस्तियों के रूप में उभरे।

दिल्ली के शेख नासिरुद्दीन चिराग

दिल्ली के चिराग के नाम से सर्वसाधारण में विख्यात शेख नासिरुद्दीन महमूद चिराग चिश्तीया सम्प्रदाय के अन्तिम महान सन्त थे, जिन्होंने कि अखिल भारतीय प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उनके पूर्वज मध्य एशिया से आकर लाहोर में बस गये थे। लेकिन उनके पितामह अयोध्या चले आये थे। यहीं महमूद का जन्म हुआ था। महमूद जब केवल नौ वर्ष के बालक ही थे तभी उनके पिता याहिया की मत्यु हो गयी। लेकिन परिवार सम्पन्न था इसलिए उनकी माता ने उन्हें अच्छी शिक्षा–दीक्षा दी। जब वे 25 वर्ष के हुए तो उन्होंने सूफी बनने का निश्चय किया; और उस प्रकार के जीवन की तैयार के लिए वे कठोर अध्ययन और अनुशासित जीवन व्यतीत करने लगे। वे लगभग सारा दिन ही अध्ययन, नमाज और नगर के बाहर आम के बगीचे में एक मकबरे में समाधिस्थ होकर काट देते थे। पूरे दिन में से केवल दोपहर में ही कुछ समय के लिए सोते थे। उन्होंने वर्षों इस प्रकार का कठोर जीवन व्यतीत किया। लगभग 45 वर्ष की आयु में वे शेख निजामुद्दीन औलिया से भेंट करने दिल्ली आये और उनके शिष्य बन गये। वे दिल्ली में ही एक अलग मकान में बसे गये। यहीं निजामुद्दीन औलिया ने उन्हें चिश्तिया सम्प्रदाय में दीक्षित किया और अपना संरक्षण प्रदान किया।

शेख नासिरुद्दीन ने अपने गुरु द्वारा निश्चित उच्चस्तरीय जीवन व्यतीत किया, और आजीवन निर्धनता अपनाकर सन्यासी की तरह रहे। वे सुल्तानों और उनके दरबारों से बचते रहे। निजामुद्दीन औलिया ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी (खलीफा) नियुक्त किया; और उन्होंने दिल्ली में औलिया की परम्पराएँ यथावत रखीं। शेख नासिरुद्दीन के बहुत–से शिष्य और अनुयायी बन गये। लेकिन वे जानबूझकर दरबार में जाने से बचते रहे। पर कुतुबुद्दीन मुबारकशाह (1316-20 ई.) से उनका संघर्ष हो ही गया। कुतुबुद्दीन मुबारक शाह चाहता था कि वे अपनी नमाज पढ़ने को मीरी मस्जिद में आयें। लेकिन शेख ने वहाँ जाने से इनकार कर दिया, और वे पास ही की एक मस्जिद में नमाज पढ़ते रहे। उनके भाग्य से यह विपत्ति शीघ्र ही टल गई, क्योंकि सुल्तान के कृपापात्र खुसरो ने उसकी हत्या कर दी, और स्वयं नासिरुद्दीन के नाम से सुल्तान बन बैठा। मुहम्मद बिन तुगलक के शासनकाल में भी कुछ परेशानी उत्पन्न हो गई थी। सुल्तान सूफियों को अपनी सेवा में लेकर उनसे अपने आदेश पालन करवाना चाहता था। बहुत–से सूफी भयभीत होकर झुक गये, लेकिन शेख नासिरुद्दीन ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया और अपने सौभाग्य से सुरक्षित लौट आये। शेख को भट्टा अभियान से समय भी बाध्य होकर सुल्तान से भेंट करनी पड़ी। जब छावनी में ही मुहम्मद तुगलक की मत्यु हो गयी तब फीरोज तुगलक को गद्दी पर बिठाने में शेख नासिरुद्दीन ने अन्य प्रमुख उलेमाओं का साथ दिया।

शेख नासिरुद्दीन अपना प्रचार–कार्य करते रहे, पर वे फीरोज तुगलक और उसकी जीवन–पद्धति से सन्तुष्ट नहीं थे। कहा जाता है कि शेख के जीवन के अन्तिम–समय में उनके चेहरे पर शोकपूर्ण उदासी–सी छा गयी थी। इच्छा कारण सभी ओर लोगों का दुखी जीवन था। लेकिन फिर भी शेख अपने शिष्यों और उन अनेक विद्यार्थियों के बीच प्रसन्न बने रहते थे जो उनसे शिक्षा ग्रहण करने आते थे। उनके दुखी होने का एक अन्य कारण यह भी था कि उनके पास सदैव लोगों की भीड़ लगी रहती थी। उन्हें अपनी उपासना तथा अध्ययन करने और नमाज पढ़ने का बहुत ही कम समय मिल पाता था। उनकी मत्यु 1336 ई. में हो गयी। यह चिश्ती सिलसिले में अन्तिम महान सन्त थे, जिन्होंने कि अखिल भारतीय ख्याति प्राप्त की थी।

शेख सलीम चिश्ती

फतेहपुर सीकरी के शेख सलीम चिश्ती 16 वीं सदी के प्रसिद्ध चिश्ती सूफियों में से थे। लेकिन वे निजामुद्दीन औलिया, नासिरुद्दीन चिराग–ए–दिल्ली और अन्य पहले के सूफी सन्तों की ऊँचाई तक न पहुँच सके। वे अकबर महान के समकालीन थे और उनका आश्रम–सीकरी की पहाड़ी की एक गुफा में था। कहा जाता है कि शाहजादा जहाँगीर शेख के आशीर्वाद से ही हुआ था; और इसीलिए अकबर उसे शेखू बाबा कहा करता था। शेख सलीम चिश्ती ने मुसलमान सूफियों के रिवाज के अनुसार विवाह भी किया था, और उनके सन्तानें भी थीं। यह ध्यान देने योग्य है कि शेख निजामुद्दीन औलिया को छोड़कर चिश्ती सम्प्रदाय के सभी प्रसिद्ध सूफियों ने गहस्थ जीवन अपनाया था; और यह भी अजीब–सी बात है कि इनमें से अधिकांश के पुत्र अयोग्य निकले थे। पर इसके विपरीत, शेख सलीम के पुत्रों और पौत्रों ने अकबर के राज्यकाल में और उसके उत्तराधिकारियों के समय में राजकीय सेवा में उच्च पदों को प्राप्त किया था। शेख सलीम ने अपने चिश्तिया सम्प्रदाय की परम्पराओं को बनाये रखा और बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। उनकी मत्यु अकबर के जीवन–काल में ही हो गयी; और उन्हें फतेहपुर सीकरी की प्रसिद्ध जामी मस्जिद के आंगन में दफना दिया गया। उनकी कब्र पर एक सुन्दर मकबरा भी बना दिया गया। यह सीकरी में मुगल स्थापत्य का कस एक रत्न समझा जाता है; और केवल सैलानी यात्री ही नहीं, बल्कि दूर–दूर के देशों से श्रद्धालु लोग भी इसके दर्शन करने आते हैं।

चिश्ती सूफियों का जीवन

चिश्ती सम्प्रदाय के सन्त सादगी और निर्धनता में आस्था रखते थे। वे व्यक्तिगत सम्पत्ति को अपने आध्यात्मिक जीवन के विकास में बाधक मानते थे। यद्यपि उनमें से कइयों ने गहस्थ जीवन अपनाया था और उनकी सन्तानें भी थीं, फिर भी उनमें से बहुत ही थोड़ों के पास अपने निवास–स्थान थे। साधारणतया वे राज्य से कोई वजीफा नहीं लेते थे, अपितु धनीमानी लोग स्वेच्छा से कुछ दान में दे देते थे उसी से अपना जीवन व्यतीत करते थे। कभी–कभी उन पर कर्ज भी हो जाते थे। कहा जाता है कि शेख फरीद गंज–ए–शिकार भूखों मरते थे, पर किसी से भोजन व धन नहीं मांगते थे। इसी प्रकार, यह भी कहा जाता है कि शेख निजामुद्दीन औलिया ने एक बार कहा था कि एक दफा उन्हें एक दिन और रात भूखा रहना पड़ा था; और दूसरी दफा वे तीन दिन तक भूखों रहे थे। चिश्ती सूफी सन्त निम्न इच्छाओं के दमन के लिए उपवास किया करते थे। उनके वस्त्र भी बहुत मामूली हुआ करते थे। अधिकांश सूफी सन्तों के गहस्थ जीवन सुखमय होते थे, यद्यपि उनमें से कुछ एक से अधिक पत्नियाँ रखते थे। लेकिन निजामुद्दीन औलिया आजीवन अविवाहित रहे। ये सूफी सनत अपनी सूफी साधना में और दूसरे लोगों की समस्याएं सुलझाने

में इतने व्यस्त रहते थे कि वे अपने बच्चों के पालन–पोषण की ओर बहुत ही कम ध्यान दे पाते थे। इसका परिणाम यह होता था कि उनके पुत्र उनका अनुसरण नहीं कर पाते थे और सांसारिक लोग बनकर रह जाते थे। **खालिक अहमद निजामी** लिखते हैं कि "भारत के प्रारम्भिक किसी भी सूफी सनत के पुत्र बौद्धिक या आध्यात्मिक रूप से अपने पिता की मशाल जलाये न रख सके। अगर शेख कुतुबुद्दीन बख्तियार का इकलौता पुत्र अपने पिता के अयोग्य था, तो शेख फरीद का एक पौत्र पियक्कड़ था, और शेख नजीबुद्दीन का एक पौत्र आवारा था। उनमें सांसारिक बुद्धि तो होती थी पर उनमें आध्यात्मिक नैतिक चरित्र का पूर्णतया अभाव रहता था।"

शिष्यों का जीवन बदलने तथा उनमें भक्ति भावना को उत्पन्न करने के लिए उन्हें व्यवहारिक सूफी सन्तों की शिक्षाएं देकर सन्तोष प्राप्त करते थे। इसके लिए उन्होंने कोई धार्मिक ग्रन्थ नहीं लिखे। परन्तु ख्वाजा गेसू दराज चिश्ती सन्तों की प्रथा के विपरीत तसव्वुफ के विषयों के एक महान लेखक थे।

सिद्धान्त

(1) चिश्ती सिलसिला में चिल्ल का प्रचलन था इससे तात्पर्य है कि साधक 40 दिनों तक किसी मस्जिद अथवा बन्द कमरे में अपना समय व्यतीत करता था। इस समय में वह बहुत थोड़ा भोजन करता था और अपना सारा समय प्रार्थना व ध्यान में लगाता था। वह इस समय में बहुत कम बातचीत करता था। वह **कलमा** पर बहुत जोर देता था और जोर से चिल्लाते हुए बहुत जोर से शरीर के ऊपरी भाग व सिर को हिलाता था। वे रंगीन वस्त्र धारण करते थे उनके शरीर पर बड़े–बड़े बाल होते थे और वे अली को परमात्मा व मुहम्मद के बराबर मानते थे।

(2) चिश्ती सिलसिला में दीक्षित होने वाले शिष्य को गुरु कुछ नियम बताता था जिनका पालन करना शिष्य के लिए आवश्यक होता था। उसके लिए यह आवश्यक था कि समस्त जीवन उसे परमात्मा का ध्यान रख के बिताना होगा और उसकी निन्द्रा मत्यु के साथ ही है।

(3) उसे **फकीरी** का जीवन बिताना पड़ता था। फकीरी का अर्थ था उपवास, सन्तुष्टी, परमात्मा का स्मरण व प्रायश्चित इन चारों का पालन शिष्य के लिए आवश्यक था।

(4) शिष्य के लिए आवश्यक था कि अपने मुर्शीद (गुरु) के नाम का प्रतिदिन स्मरण करे।

(5) गुरु अपने शिष्य को कोई पवित्र नाम बताता था जिसे वह किसी दरगाह में जाकर 40 दिन तक उपवास करते हुए जपता था। इस अवस्था में वह भूत, भविष्य तथा वर्तमान को देखता था। समस्त जगत उसके लिए प्रत्यक्ष हो जाता था।

(6) इस सम्प्रदाय में संगीत को प्रधानता थी और साधक संगीत सुनकर भावुक अवस्था में पहुंच जाता था। संगीत से प्रेम भावना उत्पन्न होती थी जैसा कि **यूसूफ हुसैन** कहते हैं "सूफी सन्तों ने इस्लाम विरोधी संगीत के औचित्य को सिद्ध किया। चिश्तियों को संगीत सभाओं (सभा) को उचित करने का ये उपाय खोज निकाला गया कि एक सूफी ईश्वर का प्रेम होता है। इस प्रकार भगवत सम्बन्ध के कारण वह अन्य लोगों से भिन्न है जो केवल दास होते हैं।" वे मानते थे कि केवल संगीत प्रेम को उत्पन्न करता है अतः संगीत उन लोगों के लिए एक वैद्य की भांति है जो दूर दष्टिता रखते हैं। शेख मोइनुद्दीन चिश्ती कहा करते थे कि संगीत आत्मा का भोजन है।

(7) चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी साधक सदैव राजनैतिक गतिविधियों के प्रति उदासीन थे। निजामी के अनुसार – "दिल्ली सल्तनत की प्रशासनिक संस्थाओं के निर्माण कार्य में इन साधकों ने शासक तथा अमीर वर्ग को कोई सहयोग नहीं दिया। पर राजनीति से अलग रहकर भी उनके ह्रदय में दिल्ली नगर के प्रति आकर्षण था।

(8) चिश्ती सूफी साधकों का प्रमुख सिद्धान्त मानव समाज की सेवा था। मोइनुद्दीन चिश्ती कहते थे कि गरीबों के कष्ट को दूर करना, असहायों की सहायता करना, भूखे को भोजन देना सूफी साधकों का परम कर्त्तव्य है। वे शासकों से कहते थे कि उनका कर्त्तव्य है कि प्रजा की सेवा करना। यदि कोई वद्धा बिना रोटी के सोती है तो शासक को कयामत के दिन अल्लाह के समक्ष इसका उत्तर देना होगा।

चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी साधक इस्लाम की रूढ़ीवादी विचारधारा को त्यागकर हिन्दू–मुसलमान का सम्बन्ध करवाना चाहते थे। भारतीय समाज को ये उनकी सबसे बड़ी देन है। उन्होंने मुस्लिम शासकों की धर्म परिवर्तन की नीति का विरोध किया और उसे अनावश्यक बताया।

सुहरावर्दी सिलसिला

शेख बहाऊद्दीन जकारीया जिन्हें हिन्दुस्तान में सुहरावर्दी सम्प्रदाय के मार्गदर्शक कहा जाता है उनके आध्यात्मिक गुरु शेख शिहाबुद्दीन ने उन्हें मुल्तान को अपने कार्यों का केन्द्र बनाने का आदेश दिया।

शेख बहाऊद्दीन अपने विचारों में विश्वासों में बहुत कट्टर थे।

फबायद उल फुवाद से पता चलता है कि वे बचपन से ही भ्रदु स्वभाव के थे। इसलिए इनका नाम बहाऊद्दीन अथवा **देवदूत** रखा गया। चिश्ती सम्प्रदाय के सूफी सन्तों से उनके सम्बन्ध बहुत मैत्रीपूर्ण थे।

बाबा फरीद उन्हें उनके आध्यात्मिक गुणों से प्रभावित होकर शेख उल इस्लाम के नाम से पुकारते थे। **निजामी** बताते हैं कि इनकी अधिकांश शिक्षा खुराशान, बुखारा तथा मदीना में हुई। पैगम्बर मुहम्मद के मकबरे में रहकर उन्होंने कई वर्षों ध्यान व आराधना में व्यतीत किए। फिर वे बगदाद जाकर शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी के शिष्य हो गए और उन्हीं के आदेशानुसार भारत में आकर उन्होंने सुहरावर्दी सम्प्रदाय का प्रचार किया।

बहाऊद्दीन अपने समय के बहुत प्रभावशाली सूफी सन्त थे। चिश्तियों की तरह वे निर्धनता में शरीर को यातनाएं देने में विश्वास नहीं करते थे। वे एक सन्तुलित एवं आरामदायक जीवन व्यतीत करते थे। जितना वे आत्मा वे बुद्धि की चिन्ता करते थे उतना ही अपने शरीर का भी ध्यान रखते थे। बहाऊद्दीन उपवासों में विश्वास नहीं करते थे। पर उन्होंने इस्लाम के बाहरी आडम्बरों को दूर करने पर जोर दिया। वे इस्लाम की पुरानी पद्धतियों को ही स्वीकार करते थे। धन से उन्हें नफरत न थी। वास्तव में उन्होंने धन संग्रह किया। वे अपने समय के राजनैतिक मामलों में भी भाग लेते थे। इसलिए ये स्वाभाविक ही था कि बहुत से लोग विशेषकर सम्पन्न व्यक्ति उनके अनुयायी बन गए।

शेख बहाऊद्दीन के सात पुत्र थे। उनके पुत्र सद्रुद्दीन आरिफ ने मुल्तान में उनकी मत्यु के बाद उनका स्थान ग्रहण किया। बहाऊद्दीन के पश्चात सुहरावर्दी सूफियों ने वंशानुगत उ त्तराधिकार का नियम अपना लिया। इस प्रकार भारत में सुहरावर्दी सम्प्रदाय का प्रचार प्रारम्भ हो गया।

धार्मिक व राजनैतिक मामलों में सद्रुद्दीन का मत अपने पिता से भिन्न था और वे धन संचय को अपने आध्यात्मिक विकास में बाधा मानते थे। अपने पिता से सम्पत्ति का जो भाग उन्हें मिला उसमें से बहुत सा उन्होंने दान कर दिया व खानकाहों के जीवन में सादगी पूर्ण जीवन की व्यवस्था की। 1285 में इनकी मत्यु हो गई।

शेख सद्रुद्दीन की मत्यु के बाद सोहरावर्दी सम्प्रदाय के उत्तराधिकारी उनके पुत्र रुकनुद्दीन अबुल फतह हुए। इस सिलसिला में उनका वही स्थान था जो चिश्ती सिलसिला में निजामुद्दीन औलिया को प्राप्त है। **बरनी** इनकी प्रशंसा करते हुए लिखता है कि सिन्ध में इनके विचारों को इतना अधिक प्रचार हुआ कि अनेक उलेमाओं ने इनका शिष्य होना स्वीकार कर लिया।

रूकनुद्दीन ने जलालुदीन बुखारी को अपना खलीफा बनाया। इन्होने दूर–दूर तक इस्लामी देशों का भ्रमण किया और इस्लामी सूफी सन्तों के सत्संग से लाभ उठाया। और उच्छ को अपना केन्द्र बनाया। सुल्तान मोहम्मद तुगलक ने इन्हें **शेख-उल-इस्लाम** नियुक्त किया। किन्तु इन्होंने अपने आप को इस उत्तरदायित्व से मुक्त कर लिया और हज के लिए मक्का चले गए। **अ़फीफ** अपनी **तारीख-ए-फिरोजशाही** में लिखता है कि फिरोज तुगलक जलालुद्दीन बुखारी का बड़ा आदर सत्कार किया करता था। वे जब कभी दिल्ली आते तो उनके स्वागत के लिए सुल्तान नगर के बाहर तक जाता। जब वे दिल्ली होते तो सरकारी अतिथि होते थे व उन्हें पूरा सम्मान दिया जाता था।

सिद्धान्त

सुहरावर्दी सिलसिले में दीक्षित होने वाले शिष्य को मुर्रीद (गुरु) के आदेश से अपने छोटे–छोटे पापों के लिए प्रायश्चित् करता था। इस सम्प्रदाय में नमाज पढ़ने व रोजा रखने पर जोर दिया जाता था। इस सम्प्रदाय के सूफी साधक अपने को रंग बिरंगे कपड़ों से ढ़के रहते थे। जिससे अभिप्राय यह था कि परमात्मा ने अनेक प्रकार के जीव जन्तु बनाए हैं। ये लोग अनेक रंगों के हार भी पहनते थे। गुलबन्द धारण करते थे, हाथ में सोटा, सिर पर काला तागा, और हाथ में तबीज धारण करते थे। वे सींगा लेकर चलते थे और भावुक होने पर उसे बजाते रहते थे। इस सम्प्रदाय के सूफी–साधक दाहिने हाथ के उपरी हिस्से पर जलते हुए कपड़े से छाप लगाते थे। वे माँस खाते थे अपने सिर, मुंछ व आंखो की भंवों को मुडँवा लेते थे। वे दाहिनी और एक चोटी छोड़ देते थे। वे स्थायी रूप से एक जगह नहीं रहते थे और भ्रमण करते रहते थे।

इस सम्प्रदाय का दष्टिकोण राजनीति के प्रति चिश्ती साधकों से बिल्कुल भिन्न था। में शासक वर्ग से सम्पर्क रखते थे। उनकी खानकांए भी चिश्तियों से बिल्कुल भिन्न होती थी जिसमें शासक व अमीर वर्ग के लिए अलग–अलग स्थान बने रहते थे। वे कलन्दरों व अन्य फकीरों को अपनी खानकाओं में प्रवेश नहीं करने देते थे। मिलने वालों के लिए एक निश्चित समय था। उनकी खानकाह में खाने–पीने की चीजें व अन्य वस्तुएँ काफी मात्रा में उपलब्ध रहती थी।

वे धन को आध्यात्मिक विकास में बाधक नहीं मानते थे। निजामी के अनुसार बहाऊद्दीन जकारिया मध्ययुगीन सूफी साधकों में सबसे अधिक धनी थे संकट के समय सुल्तान उनसे कार्ज लेते थे। उनका मानना था कि धन, शरीर में काले तिल की भांति हैं जो बुरी दष्टि से शरीर की रक्षा करता है। उनका कहन था कि धन सग्रह बुरा नहीं बल्कि उसका दुरूपयोग बुरा है।

चिश्ती सम्प्रदाय के साधक **फकीरी** पर जोर देते थे जबकि सुहरावर्दी सम्प्रदाय के साधक सुखमय

जीवन पर। जीवन में उपवास, शरीर को कष्ट देकर आध्यात्मिक साधना को इन लोगों ने अनावश्यक बताया। इस सम्प्रदाय के सूफी गहस्थ जीवन व्यतीत करते थे और अपने परिवार की अच्छी देख भाल करते थे। बहाऊद्दीन ने अपने पुत्रों की शिक्षा, की और विशेष ध्यान दिया और उन्हे पढ़ाने के लिए अध्यापक लगा रखे थे।

शेख शर्फद्दीन महिमा मुनैरी सुहरावर्दी सम्प्रदाय की उपशाखा **'फिरदौसी'** सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते थे। सुहरावर्दी सम्प्रदाय के विपरित उन्होंने 12 वर्ष तक कठोर तपस्या एवं वैराग्य के उपरान्त सिद्धी प्राप्त की और राजग्रह को अपना केन्द्र बनाया। वे केवल एक व्यवहारिक पथ पदर्शक ही न थे अपितु सैदान्तिक पथ पर भी एक निपुण वक्ता थे। उन्होंने वहदत–उल–वूजूद का इस्लामी सिद्धान्तों से सम्बंध करने का प्रयत्न किया। उनका परमात्मा के प्रति दष्टिकोण इस्लामी सिद्धान्तों पर आधारित था। परमात्मा जगत का प्रकाश है। उसका मनुष्य के साथ सम्बंध, ज्ञान व आत्मशक्ति से सम्भव है। क्योंकि कुरान में भी कहा गया है कि ईश्वर तुम्हारे साथ है। वे मानते थे कि ईश्वर से साक्षात्कार हो जाने पर भी मनुष्य व परमात्मा के बीच सम्बंध नहीं बदल जाते। परमात्मा से मिलन का तात्पर्य एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से मिलन नहीं है। मनुष्य, मनुष्य रहता है और ईश्वर, ईश्वर। ईश्वर का समीप्य या उससे दूरी मनुष्य के ज्ञान या अज्ञान पर तथा उसकी ईश्वर के प्रति गहरी भक्ति पर निर्भर होती है। उसे केवल जागत आत्मा के लोग की प्राप्त कर सकते हैं। इसमें बुद्धि काम नहीं आती। वे एक विचारक होने के साथ मानवता की सेवा पर भी जोर देते थे।

इतिहास का यह वह युग है जबकि **वहदत-उल-वजूद** के सिद्धान्त ने जिस प्रकार उसकी व्याख्या शेख **मुहीउद्दीन इब्नुल अराबी** (1145-1240 ई॰) ने ही थी। हिन्दुस्तान के सूफियों में अपना स्थान बना लिया था। **इब्नुल-अराबी** की शिक्षाओं का साधारणतया उन कट्टर उलेमा ने खंडन किया जिन्हें उनकी असाधारण जाटे लता तथा असमत्वित विरोधें में सूफी ब्रह्मवाद के लिए एक महान् खतरा अनुभव हो रहा था। उनकी पद्धति प्रत्यक्ष रूप से अद्वैतवी है, यद्यपि वे अपने विचारों की पुष्टि कुशन के मूलपाठ द्वारा करते हैं। इब्नुल–अराबी ने हक और खलिक (सष्टिकर्त्ता और सष्टि) की अभिन्नता पर बर दिया। उने मतानुसार ईश्वर संपूर्ण अनेकताओं के पीछे एकता का नाम है और समस्त प्रत्यक्ष अथवा दश्य वस्तुओं के पीछे वही वास्तविकता है। ईश्वर के अतिरिक्त कुछ नहीं है, उनके सिवाय कोई अस्तित्व नहीं है। जबकि सभी वस्तुओं का निष्कर्ष एक ही है तो 'वहाँ का प्रश्न ही नहीं उठता है। इब्नुल–अराबी द्वारा प्रस्तुत बहदत–उल–वजूद की धारणा का सांराश यह है कि भगवान सर्वव्यापी है और सब से उसी की झलक है। उससे कुछ भी अलग नहीं है। सभी मनुष्य समान है।

इब्न–उल–अराबी की भक्ति–पद्धति का अर्थ ईश्वर भावना की आंतरिक अवस्था है। वे इस बात से पूर्णरूपेण अवगत थे कि यह पद्धति मानव–जाति को बहुदेववाद की ओर ले जा सकती थी; जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इस भ्रम–जाल से बचने के लिए उन्होंने प्रेम के सिद्धांत पर बल दिया जो सम्पूर्ण प्राणियों को एक सूत्र में बाँध देता है। उनके विचारानुसार प्रेम ईश्वर की उपासना का उत्कृष्ट प्रतीक है। 'फूसूस–उल–हिकाम' और फुतुहाने मक्किया' में इब्ने–उल–अराबी ने कुछ बहुत महत्वपूर्ण सूफी ब्रह्मवाद के सिद्धांतों की व्याख्या की है जिसका मुस्लिम विचार धारा पर अधिक प्रभाव पड़ा। प्रतिक्रिया के रूप में इमाम इब्ने तैमिया तथा इमाम जहाबी ने 'वहदत–उल–वजूद' के सिद्धांत का घोर विरोध किया और उसे अस्वीकार कर दिया तथा इसी प्रकार की प्रतिक्रिया भारतवर्ष में भी हुई जैसा कि बाद में हम देखेंगे।

शैख शर्फुद्दीन यहिया मनैरी ने, अपने मक्तूबात में, इस्लामी 'तौहीद' की सूफी सिद्धांत सम्बन्धी जटिलताओं पर तर्कसंगत विचार किया है तथा बहुत ही स्पष्ट रूप से यह बताया है कि दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञेय (इल्म) और इसके साथ–साथ (शुहुद) ईश्वर की एकता के सिद्धांत के स्तर में दास, दास रहता है और ईश्वर, ईश्वर। (फना) आत्मा का परमात्मा में तीन होने की उनकी इस प्रकार व्याख्या है कि उपासक चेतनावस्था में एक छाया का अनुभव करता है जिसमें वह अपने आपको ईश्वर में लीन अनुभव करता है – जो अपने आपको प्रकाश (तजल्ली) के रूप में प्रत्यक्ष करता है। ईश्वर से मिलन, एक शरीर का दूसरे शरीर से, एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व से अथवा एक तथ्य का दूसरे तथ्य से तादात्म्य की भाँति नहीं है; इसके विपरीत, यह एक काल्पनिक संपर्क है तथा ईश्वर के अतिरिक्त संसार में जो कुछ भी है उससे एक प्रकार की पथक्ता एवं सम्बन्ध–विच्छेद है। ईश्वर से दूरी अथवा नैकट्य का अनुभव केवल हमारे अज्ञान अथवा ज्ञान पर आधारित है। दूसरे शब्दों में, जो उसे कम जानता है उससे वह व्यक्ति जो उसे अधिक जानता है, उसके अधिक निकट होता है। एक शरीर का दूसरे शरीर से तादात्म्य वास्तविक नहीं हे। यह केवल उसी स्थिति में वास्तविक हो सकता है कि जिस वस्तु से उसे मिलाया जाय, जिसे वह समझ सके। एक वस्तु का दूसरी वस्तु से तादात्म्य समझने के लिये उसकी परस्परिक पवित्रता बड़ा महत्व रखती है। जितना ही वह उत्तम होगी उतना ही अधिक समझने के योग्य होगी होगी। तत्सम का निष्कर्ष कुरान के इस पद्य में निहित है– कि वह तुम्हारे साथ है केवल दूरदर्शी व्यक्ति ही इसका अनुभव कर सकते हैं। मानव तर्क से यह परे हैं।

हमें इस बात का अनुभव होता है कि शैख शर्फुद्दीन यहिया मनैरी द्वारा अपने मक्तूबात में तौहीद (अद्वैतवाद) पर प्रकट किये गये विचारों और काल्पनिक सम्बन्ध या उससे तादात्म्य का सीधा प्रभाव परवर्ती शैख अहमद सरहिंदी के– जो साधारणतया मुजद्दिद के नाम से प्रसिद्ध हैं– द्वारा गहीत हुआ है। शैख शर्फुद्दीन यहिया मनैरी के समान उन्होंने भी अपने विचारों तथा सूफीवाद के सिद्धांतों को प्रकट करने के लिए मक्तूबाद के ढंग को अपनाया। दोनों सूफी संतों के विचारों की समानता स्पष्ट है जिसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता।

शैख शर्फुद्दीन यहिया मनैरी न केवल एक उच्चकोटि के कल्पनाशील और विचारक थे, अपितु अपने शिष्यों के लिए एक व्यावहारिक शिक्षक भी थे। वे एक सिद्धहस्त लेखक थे जैसा कि शैख अब्दुल हकमुहद्दिस जैसे एक महान् लेखक ने प्रमाणित किया है। अपने मक्तूबात और मलफूजात के अतिरिक्त उन्होंने ईश्वर के भक्तों के मार्ग–दर्शनार्थ अनेक ग्रन्थ संकलित किये। 'फवाइद–उल–मुरीदीन', 'इर्शादे–तालीबीन' तथा 'राहत–उल–कुलूब' का यहाँ पर उल्लेख किया जा सकता है।

एक व्यवहारिक सूफी संत के रूप में, शैख शर्फुद्दीन यहिया मनैरी, अपने से पूर्व के सूफियों की भाँति, संतवादी अनुशासन के एक अंग के रूप में, मानवता की सेवा पर विशेष रूप से बल देते थे। मलिक खिज्र को लिखे गये पत्र में वे लिखते–'इस अंधकारपूर्ण संसार में जरूरतमंदों की लेखनी के द्वारा सेवा करना परमावश्यक है। प्रार्थनाएँ, उपवास तथा स्वेच्छा से उपासना, जहाँ तक उनका सम्बन्ध है–अच्छी है; किन्तु ये इतनी लाभदायक नहीं हैं जिससे दूसरों को प्रसन्न किया जा सके।

एक दूसरे पत्र में वे लिखते हैं, बादशाहों, सामंतों, धनवानों एवं साधनसंपन्न लोगों के लिए ईश्वर तक पहुंचने का निकटतम मार्ग, दरिद्रों की सहायता करना तथा पद–दलितों के हेतु मदद का हाथ बढ़ाना है। एक संत ने कहा है कि इष्टदेव तक पहुंचने के अनेक मार्ग हैं; परन्तु सबसे छोटा मार्ग पीड़ितों को तसल्ली देना और लोगों के दिलों को संतोष देना है। उस संत से किसी ने

एक राजा की अच्छाइयों का वर्णन किया तो रातभर प्रार्थनाएँ करने के लिए जागता तथा दिन को व्रती रहता। यह सुनकर उस संत ने कहा,'वह अपने कर्त्तव्य की ओर से पराङ्मुख है, क्योंकि वह दूसरों का काम करता है। जब उस संत से इस कथन का तात्पर्य पूछा गया तो उसने कहा, 'एक बादशाह का वास्तविक कार्य अपनी प्रजा का पेट पालना, नंगों का पोषण करना, लोगों के बुझे हुए दिलों में जान डालना और जरूरतमंदों की सहायता करना है। जहाँ तक प्रार्थनाओं, व्रतों और स्वेच्छा से पूजा का सम्बन्ध है, दर्वेश लोग इस काम को बहुत अचछी तरह से कर सकते हैं।'

मूल रूप से इन सूफियों के ही कारण यह था कि दिल्ली सल्तनत के अधःपतन के उपरान्त, मुस्लिम समाज आध्यात्मिक एवं नैतिक रूप से संगठित हो गया और देश के विभिन्न भागों में अनेक राजवंशों की आधारशिला रखी गयी। शासक तथा शासित वर्ग के बीच की खाई को, एक तरफ तो इन सूफी संतों ने और दूसरी तरफ हिन्दू भक्तों ने किसी हद तक पाट दिया।

चिश्ती संप्रदाय के एक सूफी सन्त, शैख अबुल कुद्दूस गंगोहा (मत्यु 1537 ई॰) ने सिकन्दर लोदी को और बाद में बाबर को, जबकि उसने उत्तरी भारत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था, न्याय करने तथा लोगों की स्थिति सुधारने के लिए सावधान किया। वे 'वहदत–उल–वजूद' सिद्धांत के समर्थक थे; जो इस समय तक सूफी विचार–धारा का एक अंग बन चुका था। इससे अधिक, जलालुद्दीन रूमी, हाफिज तथा जामी की कविताओं ने, जिसमें भारतीय मुसलमानों के लिए एक विशेष प्रकार का आकर्षण था, गूढ़ होते हुए भी, देश के शिक्षित समाज में 'वहदत–उल–वजूद' के विचार को लोकप्रिय बनाने में बड़ी हद तक सहायता की।

चिश्ती संत सादगी, गरीबी, नम्रता एवं ईश्वर के प्रति निःस्वार्थ भक्ति के जीवन पर काफी ज़ोर देते थे। गरीबी की उनकी अवधारणा इस हद तक मजबूत थी कि वे पक्के घरों में नहीं अपितु मिट्टी से निर्मित एवं फूस की छत वाले घरों में रहते थे, एवं पैबंददार वस्त्र पहनते थे। वे और उनके परिवार कभी–कभी तो कई कई दिनों तक बिना भोजन के ही रह जाते थे। वे समझते थे कि इन्द्रियों का नियंत्रण आध्यात्मिक जीवन के लिए आवश्यक है। इसी प्रयोजन से वे तपोभ्यास करते थे, जैसे उपवास रखना, सांस रोकना (प्राणायाम) आदि। तपों के जरिए वे आत्मदमन करते थे। वे संसार का त्याग करने की वकालत करते थे जिससे उनका तात्पर्य होता था धन, सरकारी सेवा एवं चरित्र भ्रष्ट स्त्रियों की संगति का त्याग। इसका अर्थ समाज से अलग होना नहीं था। मुईनुद्दीन चिश्ती के लिए ईश्वर के प्रति सबसे अधिक भक्ति विपत्ति में फंसे लोगों का उद्धार करने, असहाय लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करने एवं भूखों को खिलाने में निहित थी। निजामुद्दीन औलिया के अनुसार अनिवार्य प्रार्थनाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण लोगों को कल्याण करना था। निज़ामुद्दीन औलिया के अलावा शेष सभी चिश्ती संत अपने परिवार के साथ रहते थे। इस प्रकार, संतों के लिए विवाहित जीवन तक तक स्वीकार्य था जब तक कि वह उनके आध्यात्मिक जीवन को बाधित न करता हो।

चिश्ती लोग आम तौर पर लोगों को चार श्रेणियों में विभाजित करते थे। इनमें से दूसरों को उपदेश देनेवाले रहस्यवादी लोग उच्चतम श्रेणी में आते थे और उनके बाद शिष्य होते थे। शासक एवं विद्वान लोग तीसरी श्रेणी में रखे जाते थे, एवं आम लोग जो न तो ज्ञानी होते थे और न ही आध्यात्मिक उन्नति की इच्छा रखते थे, चौथी श्रेणी में आते थे। शिष्यों से चिश्ती संत किसी व्यवसाय से अपना जीविकोपार्जन करने की वकालत करते थे। कृषि एवं व्यापार भी स्वीकार्य था, किन्तु उन्हें अपने दैनिक आवश्यकताओं से अधिक धन संग्रह करने की मनाही थी। व्यापार में ईमानदारी

और सदाचार पर बल दिया जाता था। पारिवारिक जिम्मेदारी स्वीकार की जाती थी, किन्तु इसके कारण आध्यात्मिक प्रगति में बाधा उपस्थित हो यह स्वीकार्य नहीं था। सहनशीलता, क्रोध न करने अथवा दूसरों को कष्ट न पहुंचाने जैसे मूल्यों एवं प्रेम और सहिष्णुता अथवा जहां तक सम्भव हो, हिंसा को रोकने की नीति को काफी महत्त्व दिया जाता था, यद्यपि इसे अहिंसा की नीति नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वह तो सरकार के रवैये पर निर्भर करती थी।

चिश्ती लोग धन, धार्मिक विश्वासों, पारिवारिक हैसियत आदि के आधार पर लोगों के बीच कोई भेदभाव नहीं करते थे। एक ऐसे सयम में जब तुर्क लोग भाईचारे की इस्लामी अवधारणा को काफी हद तक भूल चुके थे एवं धर्मांतरितों समेत जनसाधारण को हेय दष्टि से देखते थे तब सूफियों के भेदभावहीन रवैये ने न केवल सूफियों को लोकप्रियता दिलाई, अपितु सामाजिक तनावों को कम करने में सहायता भी की। इस प्रकार, निज़ामुद्दीन औलिया के जमातखाने के दरवाज़े सहानुभूति, सहायता और सलाह हेतु लोगों के लिए हमेशा खुले रहते थे। यद्यपि सूफी संतों का मुख्य सरोकार मुसलमानों का दुख दूर करने से था, किन्तु ऐसा भी नहीं था कि वे अपने स्नेह और लगाव के दायरे से हिन्दुओं को बाहर रखते थे। मुईनुद्दीन चिश्ती के शिष्य हमीदुद्दीन नागौरी हिन्दू की भावनाओं का इतना अधिक ध्यान रखते थे कि वे शाकाहारी बन गए। यही नहीं वे अपने शिष्यों को मांसाहार का त्याग करने के लिए निरंतर सलाह देते रहते थे।

चिश्ती संत मुक्त रूप से हिन्दू और जैन योगियों से मिलते–जुलते थे एवं विभिन्न विषयों पर, विशेषकर योगाभ्यासों पर, उनसे बातचीत करते थे। स्वैच्छिक धर्मांतरण का स्वागत करते हुए भी वे समझते थे कि धर्म–परिवर्तन में उपदेश की नहीं प्रत्युत उदाहरण की भूमिका प्रमुख होती है। फिर भी चिश्ती संत हिन्दू धर्म की शक्ति से पूर्णतः अवगत थे। एक बार एक सूफी संत ने कहाः

"ओ, तुममें से जो लोग हिन्दू की मूर्तिपूजा का उपहास करते हैं वे उससे यह भी सीखें कि पूजा कैसे की जाती है।"

एक बार अपने मित्र कवि अमीर खुसरों के साथ अपनी खुली छत पर टहलते हुए निज़ामुद्दीन औलिया ने हिन्दुओं के एक समूह को पूजा करते हुए देखा। उनके भक्ति–भाव से अत्यंत प्रभावित होकर औलिया ने खुसरों को कहाः "हरेक समुदाय का अपना मार्ग और धर्म होता है, एवं अपनी अलग पूजा–पद्धति होती है।"

इसी व्यापक सहिष्णुता के कारण चिश्तियों को अधिसंख्यक गैर–मुस्लिम आबादी वाली गंगा घाटी में सफलता प्राप्त हुई।

परन्तु सूफ़ी सिलसिलों में ग़रीबी के प्रति दष्टिकोण को लेकर एवं ग़ैर–मुसलमानों के प्रति सहिष्णुता की हद को लेकर मतवैभिन्न था। कश्मीर के कूब्राविया सिलसिले ने अपने समर्थकों को हिन्दू मंदिरों को ध्वस्त और अपवित्र करने के लिए प्रोत्साहित किया। साथ ही, उन्होंने हिन्दुओं के साथ मधुर संबंध भी रखे।

सुहरावर्दी

एक ही रहस्वादी पथ पर चलते हुए भी सुहरावर्दी महत्त्वपूर्ण पहलुओं में चिश्तियों से भिन्न था। इस प्रकार, बहाउद्दीन जकरिया जो भारत में सुहरवर्दी सिलसिले के संस्थापक थे, उपवास अथवा आत्म दमन में विश्वास नहीं करते थे, और भोजन एवं वस्त्र के विचार से आम जीवन व्यतीत करने का पक्ष लेते थे। वे आध्यात्मिक जीवन के लिए गरीबी को आवश्यक नहीं मानते थे। चिश्ती

लोग इक्ता के रूप में गांवों का अनुदान अथवा संतों एवं उनका खानकाहों के अनुरक्षण हेतु अनुदान ग्रहण करने से इंकार करते थे और केवल अयावित (फुतूह) अथवा अकृष्य भूमि (इहया) स्वीकार करते थे जहां वे स्वयं श्रम कर सकते थे, किन्तु सुहरवर्दी लोग शाही अनुदान स्वीकार करते थे। इस प्रकार, बहाउद्दीन ज़करिया एक धनवान व्यक्ति थे एवं ऐशो–आराम का जीवन जीते थे। वे अपने पास के धन को यह तर्क देकर उचित ठहराते थे कि इस धन में उन्हें अपने इर्द–गिर्द जमा होनेवाले गरीबों की सेवा बेहतर ढंग से करने के योग्य बनाया है। रूढ़िवादी उलमा के संबंध में बहाउद्दीन जकरिया धर्म के सभी बाह्य रूपों, जैसे नमाज़, रोजा आदि, का पालन करने की सलाह देते थे। उन्होंने रहस्यवाद के साथ विद्वता (इल्म) के संयोजन की वकालत की। उन्होंने संगीतात्मक संगमों (समां) को अस्वीकार नहीं किया, किन्तु उनमें कभी–कभी ही शामिल होते थे। इसके बावजूद बहाउद्दीन जकरिया के प्रति रूढ़िवादी उलमा की शत्रुता कम नहीं हुई। ज़करिया की मत्यु के बाद डेढ़ सदी तक उनके उत्तराधिकारी पंजाब और सिंध में अग्रणी भूमिका निभाते रहे। आगे चलकर सुहरवर्दियों ने गुजरात, बंगाल और कश्मीर में अपना प्रभाव फैलाया। सुहरवर्दी लोग चिश्तियों द्वारा अपनाई गई कुछ हिन्दू प्रथाओं, जेसे शेख, के सामने नतमस्तक होना, आगंतुकों को पानी पेश करना, सूफ़ी सिलसिले के नए सदस्य का मुंडन करना, आदि का विरोध करते थे। वे धर्मांतरण कराने के लिए भी काफी उत्सुक रहते थे। इस प्रकार, सुहरवर्दी संत शेख, जमालुद्दीन ने, जो बंगाल में बस गए थे, बलात धर्मांतरण कराने एवं पांडुआ के निकट देवतल्ला में अपना खानकाह बनाने के उद्देश्य से एक हिन्दू मंदिर को ध्वस्त कराने में कोई संकोच नहीं किया।

राज्य या सरकार के प्रति दष्टिकोण को लेकर भी चिश्तियों और सुहरवर्दियों के बीच एक बड़ा अंतर था। कहा जाता है कि चिश्ती लोग स्वयं को सुल्तानों, राजनीति और सरकारी सेवा से अलग रखने में विश्वास रखते थे क्योंकि सरकारी सेवा 'केवल ईश्वर के लिए जीने' के आदर्श का एकनिष्ठ पालन करने के मार्ग से सूफ़ी को 'भटकाती' है। यह भी कहा जाता है कि इमाम गज़ाली जैसे मध्यकालीन विचारक राज्य की समस्त आय को प्रतिबंधित स्रोतों से आई हुई समझते थे जिसके कारण सेवा के लिए इन स्रोतों से किया गया भुगतान अवैध था; एवं राजदरबार तथा सरकार की समस्त जीवन–शैली इस्लाम की सच्ची भावना से मेल नहीं खाती थी। अतः इमाम गज़ाली ने कहा हैः "किसी को न तो उनके बने रहने की इच्छा करनी चाहिए और न ही उनकी प्रशंसा करनी चाहिए, न ही उनके क्रियाकलापों के बारे में पूछताछ करनी चाहिए, न ही उनके सहयोगियों के साथ संपर्क रखना चाहिए।"

किन्तु इस विषय पर इस्लामी परंपरा में एकरूपता नहीं थी। यद्यपि कुछ रूढ़िवादी उलमा ने भी प्रथम चार ख़लीफ़ाओं के शासन के बाद उत्पन्न सरकार के कुछ मूलतः ग़ैर–इस्लामी पहलुओं की ओर संकेत किया, किन्तु उन्होंने एवं कुछ सूफियों ने स्वयं ही बल दिया कि विश्व के शासकगण सर्वशक्तिमान ईश्वर के चुने हुए व्यक्ति है एवं किसी भी स्थिति में उनके प्रति अनादर दर्शाना अथवा उनके आदेशों की अवज्ञा करना शरीयत में उचित अथवा अनुमा नहीं है। उन्होंने इस परंपरा को भी उद्धत किया कि पैगंबर ने कहा था : "जो कोई भी सुल्तान की आज्ञा–पालन करता है वह खुदा की आज्ञा–पालन करता है एवं जो कोई भी खुदा की आज्ञा–पालन करता है वह मोक्ष (मुक्ति) प्राप्त करता है।"

अतः सुहरवर्दी सूफ़ियों ने सरकारी सेवा को अस्वीकार नहीं किया। इस सिलसिले के संस्थापक शिहाबुद्दीन सुहरवर्दी का खलीफा के साथ घनिष्ठ संपर्क था, उन्होंने राजदरबार के संरक्षण में

बगदाद में अपने मत का प्रचार किया, तथा वे सरकारी सेवा में बने रहे। भारत में सुहरवर्दी सिलसिला के संस्थापक बहाउद्दीन जकरिया ने इस परंपरा को स्वीकार किया एवं तर्क दिया कि राजदरबारों में जाने के संतों को सुल्तान के माध्यम से गरीब लोगों की शिकायतें दूर कराकर उनकी सहायता करने का अवसर मिलता है। उन्होनें यह भी महसूस किया कि ऐसा कोई कारण नहीं है कि सुल्तानों और उनके सहयोगियों को संतों के आध्यात्मिक साहचर्य और लाभ से वंचित रखा जाए।

सुहरवर्दी संतों ने राजनीति में भी सक्रिय भाग लिया। इस प्रकार, बहाउद्दीन ज़करिया ने इल्तुतमिश का खुलकर पक्ष लिया एवं जब सुल्तान ने कुबाचा को भगाकर सिंध को अपनी सल्तनत में शामिल करना चाहा, तो उन्होंने सुल्तान को आमन्त्रित किया यद्यपि शेख को कुबाचा से पूर्ण सहायता और समर्थन प्राप्त हुआ था।

सरकार और राजनीति के प्रति सुहरवर्दी संतों के दष्टिकोण की व्याख्या इस परिप्रेक्ष्य में नहीं की जा सकती है कि आरंभिक तुर्क सुल्तानों को अपनी सत्ता मज़बूत करने एवं एक एकीकृत तथा संघनिय राज्य व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से धार्मिक वर्गों के सहयोग और समर्थन की आवश्यकता थी, क्योंकि यह तर्क चिश्तियों पर भी पर भी उतना ही लागू होता है जितना की सुहावर्दियों पर। जैसा कि हम उल्लेख कर चुके है, रूढ़िवादी उलमा तत्त्व एवं कई सूफी लोग सरकार के प्रति अपने दष्टिकोण में उभयभावी थे। इस बारे में वे दो विरोधी दष्टिकोण रखते थे। उनमें से अधिकांश लोगों के लिए राज्य या सरकार एक अपरिहार्य बुराई थी। उसके बावजूद वे सुल्तानों से न्याय एवं गरीबों की रक्षा की अपेक्षा करते थे। एक चिश्ती संत ने पैगंबर को यह कहते हुए उद्धत किया कि "यदि कोई स्त्री किसी राज्य के किसी भी शहर में बिना कुछ खाए सो जाती है तो वह क़यामत के दिन शासक का गुलूबन्द पकड़ेगी और ऐसा दिन निश्चित रूप से आएगा।''

इस प्रकार, चिश्ती लोग भी शासक के परोपकारी और कल्याणकारी होने की अपेक्षा करते थे। ऐसी स्थिति में सरकार के प्रति उनका रवैया शत्रुतापूर्ण होना सम्भव नहीं था। कुछ आधुनिक इतिहासकारों का यह विचार भ्रान्तिपूर्ण है कि चिश्ती जनसाधारण के प्रतिनिधि थे, एवं शासक वर्ग को वे शोषक वर्ग के रूप में देखते थे जिनके साथ सम्बंध रखने का अर्थ शोषक वर्ग के रूप में सम्बन्ध रखना था, इसमें संदेह नहीं कि चिश्ती संतों ने जनसाधारण से घनिष्ठ सम्बंध बनाने का प्रयास किया था किन्तु उनको जनसाधारण का उस सीमा तक ही प्रतिनिधि माना जा सकता है जितना कि राजकीय पद्धारी उलमा को। मध्य एशिया के सूफियों के विपरीत जो विभिन्न व्यवसायिक वर्गों से आये थे, जैसे — अत्तार (सुगंध और दवाओं का कापति), हल्लाज (धुनिया), क़स्साब (कसाई), हद्दाद (लोहार), आदि। भारत में अधिकांश सूफी उलमा वर्ग से आए थे। शायद नसीरुदीन चिराग ही जिनके पिता पश्माना शालों के व्यापारी थे, एकमात्र अपवाद थे। गांव के अनुदान अस्वीकार करते हुए चिश्ती लोग मुख्य रूप से अयाचित अनुदानों अथवु फुतूह पर निर्भर थे। इसका मुख्य स्रोत निश्चय ही अमीर समूह था किन्तु इसमें व्यापारियें का भी योगदान रहता था। व्यापारी समुदाय एक महत्त्वपूर्ण स्रोत था और अधिकांश खानकाह महत्त्वपूर्ण व्यापार मार्गों पर या उनके निकट स्थित होते थे। किन्तु शासक द्वारा शत्रुता अथवा विरोध का रवैया अपनाने की स्थिति में इनमें से कोई भी वर्ग उन्हें फुतूह प्रदान नहीं करता। आम तौर पर शासकगण सूफियों का स्वागत करते थे क्योंकि वे समझते थे कि उनका आशीर्वाद एवं लोगों पर उनका प्रभाव न केवल उनकी अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाएगा, अपितु उनकी स्थिति को भी वैधता प्रदान करेगा। साथ

ही, सूफियों में सामाजिक सद्भावना स्थापित करने की शक्ति निहित थी। वे जनसाधारण के असंतोष एवं सामाजिक तनावों को कम करने के साधन थे।

लगता है सूफी संत सरकारी सेवा एवं राज्य के उतने विरोधी नहीं थे जितना कि कभी–कभी दर्शाया गया है। सरकारी सेवा एवं शासकों के साथ संपर्क रखने पर प्रतिबंध पूर्ण रूप से केवल उन्हीं शिष्यों पर लागू होते थे जिन्हें आध्यात्मिक प्राधिकार के विशिष्ट चिन्ह दिए जाते थे और जिन्हें सूफी मार्ग के अनुयायियों का नेतत्व करना होता था। साधारण शिष्यों पर सरकारी सेवा न करने के लिए उतनी कठोर पाबंदी नहीं लगाई जाती थी। शेख नसीरूद्दीन चिराग देहली ने कहा था कि सरकारी सेवा मनन–चिंतन के लिए आवश्यक रूप से बाधा नहीं होती। चिश्मी संतों ने सबसे अधिक श्रम पर बल दिया जिसमें, जैसा कि हमने देखा है, शिल्प एवं कृषि को वरीयता दी गई।

इस प्रकार, चिश्तीयों ने एक और सरकार और शासक वर्गों से एक निश्चित दूरी बनाए रखने की नीति अपनाई और साथ ही ऐसी स्थितियां पैदा करने की कोशिश भी की जिनमें सरकार अधिक मानवीय ढंग से कार्य करने में सम्भव हो। दोनों के बीच स्वार्थों का कोई मौलिक टकराव नहीं था, यद्यपि दष्टिकोण में तो अंतर था ही। सरकार का उचित रूप से कार्य–संचालन करते रहना शांतिपूर्वक रहस्यवाद के पथ पर अग्रसर होने वाले सूफियों की सुविधा के लिये आवश्यक था, एवं सद्भावना पैदा करने के सूफी प्रयासों द्वारा राज्य एवं मुस्लिम समाज के सुदढ़ीकरण की प्रक्रिया सरकार के लिये लाभप्रद थी।

भिन्न–भिन्न धर्मों के लोगों के बीच सहिष्णुता के पक्ष में चिश्तियों द्वारा की गई वकालत, धार्मिक विश्वासों के आधार पर भेदभाव किए बिना सभी लोगों के लिए अपने खानकाहों के दरवाज़े खोले रखना, सबों के प्रति उनका कल्याणकारी दष्टिकोण, हिन्दू एवं जैन योगियों के साथ उनका संपर्क, एवं अपनी बातचीत तथा अपने संगीत संगमों में हिन्दवी का प्रयोग– इन सबों ने दो प्रमुख समुदायों, हिन्दुओं और मुसलमानों, के बीच अधिक मेलजोल का वातावरण तैयार किया। इसने कुछ हद तक तुर्क शासन एवं कुछ तुर्क योद्धाओं और कुछ रूढ़िवादी उलेमा द्वारा की गई इस्लाम की व्याख्या के अपेक्षाकृत कठोर पक्षों को मदुल बनाने में भी सहायता की। किन्तु यह मानना कि वे सामजिक और सांस्कृतिक क्रांति के वाहक थे, अतिशयोक्तिपूर्ण है जैसा कि कुछ आधुनिक विद्वानों ने तर्क दिया है। ऐसी क्रांति के लिए समाज में संरचनात्मक बदलाव आवश्यक था जो शायद ही संभव था और जो किसी भी हालत में संतों की सामर्थ्य से बाहर था। देश के विभिन्न भागों में भ्रमणशील संतों समेत सभी सूफी संत अपने–अपने मार्गों पर चलते थे जो कभी उदार होते थे, तो कभी रूढ़िवादी ओर कभी दोनों का समन्वय होते थे। आवश्यकता इस बात की है कि उनका अध्ययन इनमें सामान्य लक्ष्णों का ढूंढे बिना ही किया जाये, यद्यपि यह कहना गलत न होगा कि कुल मिलाकर कुछ अपवादों को छोड़कर सूफियों ने अनुदार मार्ग के बजाय उदार मार्ग ही अपनाया।

सूफी विचारधारा के कुछ नकारात्मक पक्षों को भी नज़रअंदाज़ नहीं किया जाना चाहिए। संत के प्रति अत्यधिक श्रद्धा की परम्परा ने अनेक भक्तों को मूर्तिपूजा की हद तक ला खड़ा किया। विशेषकर किसी संत के देहांत के बाद उसकी दरगाह लगभग पूजा–स्थल अथवा पूजा की वस्तु बन जाती थी। संत की इच्छाओं का निर्विवाद पालन कभी–कभी चापलूसी का वातावरण पैदा कर देता था। इसीलिए कुछ भ्रमणशील संत अथवा कलंदर ख़ानक़ाहों के सख्त विरोधी थे।

अत्यधिक किताबी ज्ञान के साथ–साथ सूफियों ने ऐसे दर्शन की भी भर्त्सना की जिसे उन्होंने

विवेकवाद अथवा बुद्धिवाद के समकक्ष माना। रूढ़िवादी उलमा एवं सूफियों ने दार्शनिकों में प्राकृतिक वैज्ञानिकों को भी शामिल किया। निज़ामुद्दीन औलिया के जीवन–वत्तांत लेखक के अनुसार इस संत ने एक बार यह किस्सा सुनाया कि किस प्रकार एक दार्शनिक अपनी किताबें लेकर खलीफा के पास पहुंचा और उसे बताया कि अंतरिक्ष की गति तीन प्रकार की थी – प्राकृतिक, ऐच्दिक और अनैच्दिक। यदि किसी पत्थर को हवा में उछाला जाए तो यह निश्चित रूप से जमीन पर गिरेगा, अतः ऐसी गति प्राकृतिक है। अनैच्छिक गति मनुष्य के नियंत्रण के परे होती है। ऐसे तर्क के आधार पर दार्शनिक ने कहा कि अंतरिक्ष की गति अनैच्छिक है। इसका खंडन करने के लिए शेख शिहाबुद्दीन सुहरवर्दी खलीफा के पास भागते हुए पहुंचे। उन्होंने जौर देकर कहा कि अंतरिक्षीय गतियों की अनैच्छिक प्रकृति दैवी आदेश के तहत कार्यशील देवदूतों (फ़रिश्तों) की चमत्कारिक गतिविधियों के कारण है। इसके बाद उन्होंने अंतरिक्ष को घुमानेवाले फरिश्तों की अलौकिक झलक दिख़ानी शुरू की।

इस प्रकार, सूफियों के प्रभाव से चमत्कारों को प्रोत्साहन मिला तथा विज्ञान और वैज्ञानिकों पर संदेह बढ़ा। इन्हीं प्रतिकूल परिस्थितियों में मध्य और पश्चिम एशिया में दर्शन और प्राकृतिक विज्ञानों का विकास हुआ और बाद की सदियों के दौरान भारत में उनका विकास हुआ।

दक्षिण भारत में सूफ़ीमत

दक्षिण भारत में सूफीमत के विकास के बारे में पूरी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है फिर भी मध्यकालीन दक्षिणी ऐतिहासिक स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि मुस्लिम शासकों की विजयों के पूर्व ही प्रख्यात सूफ़ी वहाँ पर कार्यशील थे तथा काफी हद तक सामाजिक एवं धार्मिक तौर से जनता को प्रभावित भी कर रहे थे। प्रो॰ ख़ालिक अहमद निजामी के विचार में **दक्षिण में** चिश्ती–सिलसिले की नींव **शेख़ बुरहान हीन ग़रीब** ने रखी थी जो निज़ामुद्दीन औलिया के शिष्य थे। उन्होंने **दौलताबाद** को अपना स्थायी निवास स्थान बनाया था। इसी तरह **हाजी रूमी** ने **बीजापुर** में खानक़ाह स्थापित की थी। हालाँकि शेख बुरहान और उनके समकालीन सूफी संतों और साथियों ने चिश्तिया सिलसिले की स्थापना की तथा दक्षिण भारत की जनता को चिश्ती परंपराओं से अवगत कराया, फिर भी यह कहना कठिन है कि किसी विशेष सूफ़ी साधक को दक्षिण भारत में सूफ़ीमत के प्रचार–प्रसार का श्रेय प्राप्त है।

शेख़ हुसैनी गेसूदराज़ के पहुँचने के बाद चिश्ती–सिलसिले को दक्षिण में जो प्रोत्साहन तथा स्थायी महत्त्व मिला वह बेजोड़ है। यह उन्हीं के प्रयत्नों का परिणाम था कि सूफ़ीमत को एक पूर्ण विकसित सिलसिले का रूप मिला जैसे उत्तरी भारत में बाबा फ़रीद तथा औलिया जैसे संतों ने प्रदान किया। शेख़ गेसूदराज एक महान साधक होने के साथ ही शरीयत और तरीक़त के जाने–माने ज्ञाता थे तथा उन्हीं की कार्यशीलता से गुलबर्गा में इस्लामी ज्ञान के प्रसार के लिए एक विशाल मदरसा स्थापित हुआ। लगभग दो शताब्दियों में उनके नेतत्व में गुलबर्गा चिश्ती–सिलसिले का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। शायद वे पहले सूफ़ी साधक थे जिन्होंने काफी हद तक अपने पूर्वजों के नकशे–कमद पर दक्षिण के कई प्रांतों में सूफ़ी साधना तथा मानवतावदी परंपराओं का प्रचार किया। किंतु जिस समय चिश्ती–सिलसिला लोकप्रियता के चरम शिखर पर था उनका देहांत हो गया। यह उनके प्रभाव का ही असर था कि बहमनी के कई शासकों ने उदार नीतियों का अनुसरण करते हुए सामाजिक तथा पारस्परिक वैमनस्य को दूर करते हुए आपसी एकता पर जोर दिया। दक्षिण भारत और बीजापुर से सूफ़ी खानक़ाह भी हर वर्ग के लिए खुले थे। कभी–कभार तो रोगियों–सूफ़ियों

के बीच पारस्परिक वार्तालाप के भी प्रमाण मिलते हैं। निज़ामी के अनुसार संपूर्ण सूफ़ी–आंदोलन ने बहमनी राज्य को नैतिक शक्ति प्रदान करने का कार्य ही नहीं किया अपितु उनके उत्तराधिकारियों ने जनता के आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास को पुष्ट करने के लिए सामाजिक विचारों के निर्माण का नया वातावरण भी निर्मित किया, जिससे कि सूफ़ीमत का सास्कृतिक निखार सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक मूल्यों के साथ प्रस्तुत हो सका।

इसका प्रधान कारण भी यही था कि अकबर, जहाँगीर आदि मुग़ल सम्राट पीरों के परम भक्त थे। शाहजहाँ का पुत्र दाराशिकोह तो मुसलिम और हिंदू परंपराओं का अच्छा ज्ञाता था। ऐसे प्रमाण आज भी उपलब्ध हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि उसने सूफ़ीमत और वेदांत का अध्ययन किया था। साथ ही दोनों मातों के गूढ़ सिद्धांतों की विवेचना की थी और बताया था कि उनमें कोई तात्विक अंतर नहीं है। बहादुरशाह सम्राट होते हुए भी किसी संत से कम नहीं था। उसकी अनेक कविताओं में सूफ़ीमत के उच्च तथा उदार विचारों की सुन्दर व्याख्या है।

कादिरी सिलसिला

मध्य एशिया में इस्लाम धर्म के फैलाने में कादरी सम्प्रदाय ने विशेष रूप से एक यंत्र की भाँति काम किया। हिन्दुस्तान में इसका प्रभाव बहुत देर में पहुँचा। शाह नियामतुल्ला और मख्दूम मुहम्मद जीलानी सबसे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस सम्प्रदाय से इस देश को परिचित कराया। वे 15वीं शताब्दी के लगभग हुए। मख्दूम मुहम्मद जीलानी ने उच्च में निवास किया जो (नगर) पहले ही से सुहरावर्दी सिलसिले के कार्य–कलापों का एक केन्द्र बन चुका था। उनके उत्तराधिकारी उनके पुत्र, मख्दूम अब्दुल कादिर हुए। उनके प्रपौत्र, शैख हमीद गंज बख्श उच्च कोटि के सूफी थे। वे पैनी अर्न्तदष्टि के व्यक्ति थे। उनके दो पुत्र थे, अब्दुल कादरि और शैख मूसा; जो अपने पिता के देहांत के पश्चात् आगरे चले आये। शैख मूसा ने सम्राट् अकबर द्वारा भेंट किया गया एक पंजसदी जात का मंसब स्वीकार कर लिया था। शैख अब्दुल कादिर एक स्वतंत्र स्वभाव वाले व्यक्ति थे। सरकारी नौकरी के लिए उन्हें कोई चिन्ता न थी। फतहपुर सीकरी के दीवाने–आम में वे अपने प्रार्थनाएँ किया करते थे और जब अकबर ने उनसे यह काम अपने घर में जाकर करने को कहा तो उन्होंने उत्तर में कहा, 'मेरे बादशाह, यह तुम्हारा राज्य नहीं है कि तुम्हें आदेश जारी करना चाहिए।' अकबर ने उनकी जागीर निरस्त कर दी, जिस पर अब्दुल कादिर वापस उच्छ चले गये। (आइन–ए–अकबरी, मुन्तखबुत्त–तवारीख)

कादरी सम्प्रदाय के अन्य प्रख्यात सूफी सन्त थे– शैख दाऊद किर्मानी और शैख अब्दुल मआली कादरी लाहौरी। शैख अब्दुल हक मुहद्दिस ने, जो पहले मक्का में शैख अली मुत्तकी के शिष्य बन चुके थे, शैख मूसा गीलानी से दीक्षा ली जिनके विषय में उन्होंने अपनी पुस्तक 'अख्बारूल अखियार' में सविस्तार वत्तांत दिया है।

राजकुमार दारा शिकोह कादिरी सम्प्रदाय का प्रमुख अनुयायी था। वह शाहजहाँ के साथ लाहौर स्थित कादिर सम्प्रदाय के संत मियां भीर (1550-1635 ई॰) के दर्शन के लिए प्रस्तुत हुआ। वह उनके व्यक्तित्व से काफी प्रभावित हुआ था। शेख की मत्यु के बाद दारा उनके शिष्य मुल्ला शांह बदख्शी का शिष्य बना। **मुल्ला शांह** ने इस मत का प्रचार कश्मीर प्रदेश में किया। कई शताब्दियों से सूफी इस प्रयत्न में लगे हुए थे कि मुस्लिम व हिन्दू रहस्यवाद के बीच कोई सम्बन्ध

कायम हो। इसकी प्राप्ति दारा शिकोह (म॰ 1659) की रचना में हुई यद्यपि उसने कादिरी परम्परा में दीक्षा तो ली थी लेकिन उसका दष्टिकोण उन विचारों से भी कहीं अधिक व्यापक था और उसकी संस्कृत, हिन्दू पौराणिक कथाओं, हिन्दू ज्ञान व वेदांत में भी रुचि थी। आध्यात्मिक विचारों में एकता लाने के लिए वह हिन्दू व मुस्लिम रहस्यवादियों, पंडितों व ईसाई मिशनरियों से भी मिलता था।

उसके प्रारम्भिक ग्रन्थ हैं **सफीनत-उल-औलिया** (जिसमें विभिन्न परम्पराओं के सूफियों के जीवन वत लिख हैं, **सकीनत उल औलिया** जिसमें भारत की कादिरी परम्परा के सूफियों के जीवनवत हैं तथा **तरीकत-उल-हकीकत** (जिसमें आध्यत्मिक मार्ग के विभिन्न चरणों का वर्ण है)। दारा शिकोह की देख–रेख में दो संस्कृत ग्रन्थों **भगवतगीता** व **योग वशिष्ठ** का फारसीं में अनुवार किया गया। दाराशिकोह ने स्वयं भी कुछ पड़ितों की सहायता से 52 उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया व इसे **सिर्रए अकबर** (The Great Secret) का नाम दिया। उसी के अनुवाद के माध्यम से 18वीं शताब्दी में यूरोप में उपनिषदों की जानकारी हुई।

कादिरी परम्परा में एक उल्लेखनीय नाम **अब्दुल-हक-मुहद्दिस देहलवी** (म॰ 1642 ई॰) का भी है। उनकी सूची विचारधारा अकबर द्वारा कही जाने वाले मुस्लिम विरोधी नीति के परिणामस्वरूप अवनत हुए इस्लाम धर्म को पुनजीवित करने के आन्दोलन का एक अंग थी। इस दष्टि से वे शेख अहमद सरहिन्दी के समान थे लेकिन उन्होंने समझौते का सिद्धान्त अपनााया जो सरहिन्दी की विचारधारा के विपरीत था। उन्होंने शरीयत को प्रधानता देने का आग्रह किया लेकिन **वहदत-उल-वजूद** का सीधा खंडन नहीं किया। केवल उन लोगों की आलोचना की जो अनिवार्य धार्मिक कार्यों में ढील दिए जाने की वकालत करते थे।

शेख अब्दुल हक की प्रतिष्ठा उनकी उस रचना से बढ़ी जिसमें उन्होंने इस्लाम की परम्पराओं की क्षेष्ठता स्थापित की है। उनके ग्रन्थ **मदारिज-उन-नुबुव्वा** में मुहम्मद की श्रेष्ठता स्थापित की गई है। उन्होंने जहाँगीर के लिए सुन्नी सिद्धान्तों के विषय में भी एक ग्रन्थ लिखा जिसका नाम नूरिया–ए–सुल्तानिया है। इस ग्रन्थ की रचना इस आशा से की गई थी कि जहांगीर अकबर की नीतियों को बदल देगा व शरिया को फिर से शक्तिशाली बनाएगा पर शहजाहा खुर्रम के साथ उनके संबंध होने के कारण जहांगीर से उनके सम्बन्ध अच्छे नहीं रह सके। शाहजहां के गद्दी पर बैठने पर उनको फिर से शाही कृपा प्राप्त हो गई।

कादिरी सम्प्रदाय के सूफ़ी अपनी टोपी में गुलाब का फूल लगाए रहते है। इस सम्प्रदाय में संगीत को कोई स्थान न मिल सका। ये लोग हरे रंग की पगड़ी बांधते हैं। गेरुआ रंग भी चलता है। इस सम्प्रदाय की विशेषता यह है कि उसने मूल इस्लाम से अपना निकट संबंध बनाए रखा। इसलिए मुसलमानों में इसका अत्यधिक स्वागत हुआ।

इस सम्प्रदाय में परमात्मा को याद करने के चार तरीके बताए गए है — यक जरबीं, दो जरबी, सह जरबी, व चहार जरबीं। साधक की आवाज ऐसी होनी चाहिए कि सोने वालों की नींद में बाधा न पड़े। अब्दुल कादिर जिलानी के सात तौर बताए हैं। जिक्र के समय साधक अल्लाह के 7 नामों का उच्चारण करता है। केवल इतना ही नहीं, इसमें रंग व प्रार्थना का भी वर्णन किया गया है।

नवशाही सम्प्रदाय

कादिरी सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही **नवशाही** सम्प्रदाय है। यह उपसम्प्रदाय शाह मारूफ चिश्ती कादिरी

के नाम के साथ जुड़ा हुआ है। कादिरी सम्प्रदाय में संगीत का स्थान नहीं है लेकिन नवशाही सम्प्रदाय के लोग मेल–जोल स्थापित करनें में संगीत का सहारा लेते है। ये बड़ी तेजी से अपना सिर एक ओर घुमाते हैं।

कादिरी सम्प्रदाय में कोई सन्त ऐसे भी हैं जो भिन्न पेशे वालों के विशेष सन्त माने जो हैं जैसे हस्सू तेलियों के, शेख मूसा लोहारों, के, अली रंगरेज रंगरेज़ों के लोकप्रिय सन्त है।

नक्शबन्दी सिलसिला

अकबर के शासन काल के समय तक वहदत–उल–वजूद का सिद्धांत मुस्लमानों में सूफी ब्रह्मवाद का एक अंग बन गया था। अकबर ने खुले आम इस्लाम की रूढिवादिता की ओर से अपना मुँह फेर लिया था और उसने इस्लाम के सिद्धांतों और शरीयत से संबंधित समस्त प्रश्नों की टिप्पणी की। ऐसा प्रतीत होता था कि वहदत उल–वजूद के मानने वाले और अकबर के ज्ञानवाद द्वारा भारत में रूढ़िवादी इस्लाम के विरुद्ध चुनौती को स्वीकार करना नक्शबन्दी संप्रदाय के सूफियों के भाग्य में बंधा था।

नक्शबन्दी संप्रदाय दूर–दूर तक फैला हुआ था, तुर्की तो इसका विशेष केंद्र था। 'ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्दी इस संप्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। बहाउदीन तरह–तरह के चित्र बनाते थे। ये चित्र अध्यात्मिक तत्त्वों सें संबंधित थे। उस प्रकार की आकृतियों में बहाउद्दीन रंग भरा करते थे। इसलिए उनके अनुयायी नक्शबंदी कहलाए।

इस संप्रदाय के साधकों से कई प्रकार के मत प्रकट किए हैं। किसी का कहना है कि आत्मा फिर दूसरा शरीर धारण करे संसार में लौट आती है। कोई परमात्मा में ध्यान करने पर जोर देता है। उनकी विश्वास है कि दूसरे के बलिदान के द्वारा किसी अन्य के जीवन को बढ़ाया जा सकता है। नक्शबंदी संप्रदाय में ज़िक्र की प्रक्रियाओं के बहुत से प्रकार हैं। जिक्र का उद्देश्य आध्यात्मिक शक्ति की प्राप्ति भी बताया जाता है। इस शक्ति की प्राप्ति के लिए कहा जाता है कि सादक जिकर एकांत सेवन परमात्मा का ध्यान व तत्सुफ का आश्रय देता है। इस संप्रदाय के सादक हाथ में घड़ी रखना पसंद करते हैं। उनके शरीर के बाल बिखरे हुए हैं व हवा में उड़ते रहते हैं। वे नुकीले पत्थरों को रोदते–रोदते बेहोश होकर गिर जाते हैं।

भारत में इस संप्रदाय का आरंभ ख्वाजा **बाकी-बल्ला-बेरंठा** द्वारा माना जाता है। वैसे नक्शबंदी संप्रदाय का भारत में प्रभाव विस्तार **अहमद सर हिंदी** के द्वारा हुआ था। ये संप्रदाय इस्लाम की कट्टरता का विरोधी था और प्राणीमात्र की एकता पर बल देता था।

अहमद ने कई सुधारात्मक कार्य किए। इनका सबसे बड़ा एक कार्य यह है कि ये सूफियों के सिद्धांत को बहुत दूर से इस्लाम के मौलिक सिद्धांतों के पास ले आए। धर्म में जो नयी–नयी बातें दाखित हो गई थी उनका उन्होने उन्मूलन कर दिया। सूफियों की उदारता को वे वही तक सहन करने को तैयार थे जहां तक वे **कुरान** व **सुन्नत** से दूर न हों। संगीत को उन्होंने धर्म के विरुद्ध बताया। भावविष्ट अवस्था में नाच उठने को उन्होंने इस्लाम के विरुद्ध कहा और बादशाह अथवा पीर के सामने साष्टांग करने को भी उन्होंने अनुचित बताया। संतों की मजार पर दीप जलाने तथा उनकी पूजा आदि को भी धर्म के विरुद्ध कहा।

इस संप्रदाय के अनुयायी भारत चीन व तुर्कीस्तान, जावा आदि में मिलते हैं। नक्शबंदी शाखा का प्रभाव अधिकतर शिक्षितों पर पड़ा। यह संप्रदाय आठ सिद्धांतों पर आधारित था जिनका पालन

प्रत्येक शिष्य को करना पड़ता है।

1 श्वास में चैतन्य (ईश्वर का स्मरण करना) 2 चरणों पर दष्टि 3 यात्रा 4 एकांतवास 5 ईश्वरीय स्मति 6 ईश्वरीय ध्यान 7 आत्म विस्मति 8 ईश्वर के प्रति एकांत गमन

इस संप्रदाय के सूफी मानते हैं कि मनुष्य को अपनी सुरक्षा तीन प्रकार से करनी चाहिए :

1. विभिन्न इच्छाओं से रक्षा।
2. संसार से रक्षित होकर ईश्वर की ओर एकाग्र होना।
3. हृदय की अशुद्धता से रक्षा करना।

इस संप्रदाय ने शरीयत के पालन पर जोर दिया व दढ़ता से हर प्रकार के धर्म पाखंड का जिसने कि इस्लामी सिद्धांत को दूषित कर दिया था, का खंडन किया। अहमद सरहिन्दी जो कि मुजद्दिद के नाम से प्रसिद्ध हैं, ने वहदत–उल–वजूद के सिद्धांत पर हमला किया। सुधारक को एक प्रभावशाली चरित्र मिला था। अपने शिष्यों व अनुयायी के बीच उन्होंने प्रचार किया कि ईश्वर को जिसने संसार की रचना की उसकी ही सष्टि रचना के स्वरूप में नहीं देखी जा सकती। उन्होंने वहदत–उल–वजूद की आलोचना की जिसके अनुसार वास्तविक सत्ता एक है जिसे हम ईश्वर की सत्ता कहते हैं। में दश्यमान जगत उसी सत्ता की अभिव्यक्ति है परम सत्ता एक है, पदार्थ उसकी अभिव्यक्ति मात्र है। सम्पूर्ण सष्टि का वही उदगम स्थल है और उसी में वह समा जाती है। सरहिन्दी ने वहदत–उल–वंजूद के स्थान पर शुहूद का सिद्धान्त प्रति पादित किया जिसके अनुसार परमात्मा इतना महान है कि उसके सामने सष्टि के पदार्थ नहीं के बराबर है। सष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ उसकी पूर्णता के कारण है। सष्टि बर्फ के समान है और तेज स्वरूप ईश्वर जल के समान है, जो बर्फ का मूल है। उसी जमी हुई वस्तु का नामकरण बर्फ हुआ पर जल ही उसका वास्तविक नाम है। उनके विचारानुसार वहदत–उल–वजूद एक बाहरी नही अपितु आत्मिक अनुभव है। एक सूफी को ऐसा प्रतीत होता है कि वह ईश्वर का प्रतीक है किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं। अत्यन्त दिव्योन्माद की अवस्था मे वह पूर्ण रूप से अपनी उपास्थ वस्तु खो बैठता है और ऐसा अनुभव करने लगता है मानो उसकी आत्मा उसमे बिल्कुल तन्मेय हो गई है। आत्मा की इस तल्लीनता का अनुभव क्षणिक होता है जिसके उपरान्त एक सूफी पुनः दासता की स्थिति में लौट आता है। यह उसके आध्यात्मिक जीवन का सबसे बड़ा कल्याण है जो वह एक अति उत्तम ईश्वर पर विश्वास रखता है।

इस्लामी शिक्षाओं के अनुसार उनका विश्वास यह है कि ईश्वर हर वस्तु में है और वह हमारी नाड़ी से भी अधिक निकट है दासता की स्थिति को केवल उस अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है जबकि एक व्यक्ति पूर्ण रूप से हर प्रकार से सांसरिक बन्धनों से विमुख हो जाता है। ईश्वर तथा मनुष्य का सम्बन्ध वैसा ही जैसा कि एक स्वामी व दास का अस्तित्व के रहस्यों के अनुभव करने का एक मात्र मार्ग शरीयत के नियमों का अनुसरण करना है जिसके बिना ये सम्भव है कि एक सूफी उस उद्देश्य से विचलित हो जाए जिसकी खोज में वह है। सूफीवाद के सिद्धान्तों तथा रूढिवादी इस्लामी शिक्षाओं को एक स्वर में लाने के अनेक प्रयासों के कारण शेख अहमद सरोहन्दी को मुजद्दिद अर्थात् इस्लाम की शिक्षाओं में नवीनता पैदा करने वाला तथा सुधारक कहा जाता है।

औरंगजेंब मुजद्दिद के पुत्र ख्वाजा मोहम्मद मासूम के शिष्य थे। नक्शबन्दी सम्प्रदाय के एक अन्य सन्त शाहवली उल्ला हुए जिन्होंने एक लेख में यह दावा किया कि ईश्वर ने उन्हें विरोधी मतों के बीच सहयोग स्थापित करने के लिए नियुक्त किया थ। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों व सूफीयों

के मतों के बीच एक समन्वय स्थापित किया। उन्हें ये भली–भाँती अनुभव हो गया था कि सूफीवाद तीव्र धार्मिक अनुभव पर आधारित है और इसके निचोड़ को एक तर्क के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। जब कभी भी इसे वास्तविक सिद्ध करने की कोशिश की गई तभी भ्रम उत्पन्न कर दिया गये। उनका कहना था कि ये विचार करना कि यहाँ केवल एक ही वास्तविकता है जो अंसख्य रूपों में प्रकट होती है या एक से अधिक रूप में प्रकट होती है तो यह वैसा ही समझना है कि उसके द्वारा उत्पन्न किया गया सम्पूर्ण भूत सम्प्रदाय ईश्वर के नामें व गुणों का प्रतीक है। दोनों अवस्थाओं में कोई अन्तर है तो ये महत्वहीन है तथा उसे छोड़ा जा सकता है। शाहवली उल का मत था कि इन दोनों सिद्धान्तों के बीच कोई सारभूत भिन्नता नहीं है। उन्होंने अकबर व मुजद्दिद के सिद्धान्तों में समझौता करवाने का प्रयास किया। उन्होंने कहा कि दोनों का मूल रूप से विश्वास था कि ईश्वर ही वास्तविक तत्व है और वही एक मात्र स्थायी है और यही इस्लाम का सारभूत सिद्धान्त है।

ख्वाजा मीर दर्द नक्शबंदी सम्प्रदाय के एक–दूसरे महान सूफी सन्त व शांहवली उल्ला के समकालीन थे जिन्होंने अपने आन्तरिक अनुभव के प्रकाश के आधार पर वहदत उल वजूद के सिद्धान्त की आलोचना की। आध्यात्मिक उन्होंने इस सिद्धान्त का समर्थन किया क्योंकि उनके अनुसार ये सिद्धान्त एक सूफी को लौकिक जीवन के बन्धनों को तोड़ने में मदद देता है। जिसका सम्बन्ध ईश्वर से नहीं होती है। उन्होंने अपने सूफीवाद सम्बंधी सिद्धान्त हजरत मोहम्मद की शिक्षाओं पर आधारित ईश्वर ज्ञान के नाम प्रकट किया है। वे अपने गूंद विचारों के लिए कुशन से प्रेरणा लेते हैं। उनके अनुसार जो लोग इस मार्ग का अनुसरण करेंगे। तथा वे अपने आपकों समझ लेंगे व साथ ही साथ ईश्वर को भी प्राप्त कर लेंगे। इन लोगों को सच्चे अद्वैतवादी के नाम से पुकारना चाहिए क्योंकि ईश्वरीय दर्शन के बाद भी ये ईश्वर दास ही रहते हैं। ये ईश्वर की दासता ही है जिसके परिणाम स्वरूप उसकी निकटता प्राप्त होती है जो परम सुख की पराकाष्ठा है। उन्होंने अपना सूफीवाद संबंधी सिद्धान्त (इल्में–इलाही–मोहम्मद) के नाम से प्रकट किया। वे कहा करते थे ना तो मैं एक सूफी हूँ कि तवस्वुफ में एक नये अध्याय का उद्घाटन कर सकू। न ही मैं एक मुल्ला हूँ कि वाद–विवाद, तर्क–वितर्क कर सकू। मैं मोहम्मद का उपासक हूँ और उसकी शुद्ध प्रेम मदिरा से उन्मुक्त हूँ।' वे अपने आप को ईश्वर का एक दास व एक प्रेमी दोनों समझते थे। उन्होंने प्रेम को शरीयत के द्वारा आधारित सीमाओं के आधीन करके विधान व प्रेम के झगड़े का अन्त कर दिया। उनके अनुसार एक आदमी परमात्मा के प्रति मिलन, दास्थ व निकटता की स्थिति को केवल प्रेम के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है। देश के लगभग सब भोगों में सूफियों ने अपनी खानकाहें स्थापित कर ली थी।

17वीं शताब्दी के अन्त तक सूफी अनुशासन खानकाओं द्वारा उन्नति करता रहा जिसके उपरान्त इसकों अवनति का संचार हो गया। परन्तु इस पर भी 18वीं शताब्दी में इनमें से कुछ खानकाहें आध्यात्मिक उन्नति का केन्द्र बनी हुई थी। उदाहरण स्वरूप मीर दर्द की खानकाह एक ऐसा ही केन्द्र थी। दूसरे स्थानों की भांती हिन्दूस्तान के सूफी भी कुरान की शिक्षाओं को रहस्यमय महत्त्व देते थे। वे इस्लाम के नियमों द्वारा निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत जीवन की एक योजना प्रतिपादित करते थे जिसे वे ईश्वरीय निकटता प्राप्त करने का अन्तिम सच्चा मार्ग समझते थे।

कुल मिलाकर सूफी मत की इस समय लगभग 200 शाखाएं हैं जो अपने–अपने प्रवक्ताओं के नाम पर चल रही हैं। इनमें वे भी हैं जो शरीयत को आधार मानकर आगे बढ़ी है और वो भी है जो शरीयत को आधार ना मान कर अपने ही बनाए हुए सिद्धान्तों पर आगे बढ़ रही है। अधिकांश

सूफी सम्प्रदाय अब भी इस्लामी मूलाधारा से जुड़े हुए है। जिन्हें सामान्य मुसलमानों ने इस्लाम की दष्टि से मान्यता दे रखी है। सामान्य रूप से सूफी सम्प्रदायों में अब वह प्रगति व उन्नति दिखाई नहीं देती जो कुछ शताब्दियों पहले थी। सामान्य रूप से सूफी व पीर कहलाने वाले जन आध्यात्मिक व नैतिक अवनति के शिकार हैं। विपत्ति के अवसर पर मजारों से दुआ मांगने की हद तक मुसलमानों की इनमें रुचि रह गई है।"

मुजाद्दिद शेख अहमद सरहिंदी

मुसलमानों का यह विश्वास है कि मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित इस्लाम में धर्म सम्बन्धी अंतिम संहिता उपलब्ध है और ईश्वर द्वारा उससे पूर्व समय पर भेजे गए एक सौ चौबीस पैगंबरों में से वह अंतिम (खामित–उन–नबीस) था। इसलिए किसी नए धर्म की आशा नहीं की जा सकती और नए पैगंबर द्वारा किसी उम्मत (राष्ट्र अथवा राज्य) वे स्थापित करने की भी आशा नहीं की जा सकती। किन्तु आध्यात्मिक ह्रास और धार्मिक संकट के समय इस्लाम को सुधारने और इसमें पुरातन पवित्रता लाने के लिए ईश्वर "मुजद्दिदों" को भेजेगा। कहते हैं कि मुहम्मद ने स्वयं कई भविष्य–वाणियां की ओर आश्वासन दिए। मुहम्मद की मत्यु के बाद लगभग प्रत्येक शताब्दी में मुजद्दिद पैदा हुए जिनके सम्बन्ध में मुसलमानों ने इस्लाम के उद्धारक होने का दावा किया।

महदी तथा मुजद्दिद में अंतर बिल्कुल स्पष्ट है। महदी का अर्थ हैं 'पुनः स्थापक' 'सुखदायी' अथवा 'समर्थक' और मुजद्दिद से अभिप्राय 'पुनरुद्धारक' अथवा 'नवीकर्ता' है। परम्पराओं के अनुसार महदी उस समय प्रकट होगा जब संसार में इस्लाम अंतिम श्वासों पर होगा। वह इस धर्म के गौरव को पुनः स्थापित करेगा। पुनरुद्धार का कार्य इस्लाम को अज्ञानता से बचाना है जो इसे लपेट सकती है अर्थात् इस्लाम को गैर इस्लामी तत्वों से मुक्त करना है। पुनुरुद्धार का अर्थ दूसरे धर्मों के साथ समझौता अथवा संश्लेषण उत्पन्न करना नहीं हैं। इसलिए जो व्यक्ति इस्लामी सिद्धांतों की कीमत पर मुस्लिम समाज के कल्याण का कर्यक्रम बनाता है वह मुजद्दिद नहीं है; वह एक समाज सुधारक हो सकता है।

दूसरी सहस्राब्दी के आरम्भ के साथ इस्लाम के पुनरुद्धारक सम्बन्धी प्रश्न पर मुस्लिम समाज में फिर चर्चा होने लगी। भारत में इस्लाम की स्थिति कभी भी इतनी खराब नहीं थी जितनी अब थी। भारत में रूढ़िवादी इस्लाम के लिए ऐसे संकटमय समय में इस धर्म के एक नवीकर्ता मुजद्दिद अलफ–इ–सानी शेख अहमद सरहिंदीं ने जन्म लिया। मुजद्दिद ने स्वयं एक सुधारक की आवश्यकता का अनुभव किया और इसका उत्तरदायित्व भी उसी के कंधों पर आ पड़ा। इसके समर्थन में मुसलमान कई परम्पराएं तथा प्रसिद्ध संतों की भविष्यवाणियां उद्धत करते हैं। उसने अपने माता–पिता के कई स्वप्नों के अनुसार भी एक महान धार्मिक नेत का आगमन होने वाला था और वह निर्धारित व्यक्ति शेख अहमद ही था।

जीवन चरित्र

शेख अहमद सरहिंद के स्थान पर 1563 ई॰ शुक्रवार को आधी रात के समय पैदा हुआ। उसका परिवार अध्यात्मिक महानता के लिए ख्यात था और वह इस्लाम के दिव्तीय खलीफा उमर का वंशज था। स्वयं शेख अहमद को अपने वंश पर गर्व था। उसका पिता अब्दुल अहद एक श्रद्धावात संत तथा प्रसिद्ध रहस्यवादी था। उसने रहस्यवादी प्रशिक्षण शेख अब्दुल कुद्दुस गंगोंही चिशती से प्राप्त किया था। शेख अबदूल कुद्दूस की मत्यु के बाद अब्दुल अहमद शेख रुकनुद्दीन

ने शेख अब्दुल अहद को कादिरिया तथा चिशतिया धर्म संघों के खिरका (एक चोगा) से सम्मानित किया।

शेख अहमद ने अपनी प्रारंभिक शिक्षा घर से ही प्राप्त की और सब से अधिक प्रेरणा भी अपने पिता से ही पाई शेख अहमद को चिशतिया तथा कादिरया धर्मसंघों में दीक्षित किया गया और खिलाफत प्राप्त की इन दोनों में प्राप्त कर ली। अपने पिता की मत्यु के बाद शेख अहमद दिल्ली गया और नकशबंदिया धर्मसंघ में सम्मिलित हो गया और शीघ्र ही काबुल के ख्वाजा मुहम्मद बाकी बिल्लाह से खिलाफत प्राप्त की जिसने भारत में इस धर्मसंघ को स्थापित किया था। शेख अहमद ख्याति और पवित्रता में अपने गुरु से अगे निकल गया और एक नए धर्मसंघ मुजद्दिदिया की स्थानापना की जो नक्शबंदिया धमंसंघ का ही उपविभाजन था। कहते हैं कि ख्वाजा वकी विल्लाह को (किसी देवी संदेश द्वारा) भारत में जाकर एक बहुत महान व्यक्ति अर्थात् शेख अहमद को प्रशिक्षित करने का निदेश हुआ और वह उपरोक्त के सम्मुख एक शिष्य की तरह बैठता था।

मुजद्दिदद सरहिंदी ने इस्लाम को सशक्त करने और इस्लामी विचारों और व्यवहारों के अनुसार एक सच्चा इस्लामी राज्य स्थापित करने का कार्य चालीस वर्ष की आयु में आरम्भ किया। उसने मुगल साम्राज्य के अमीरों वजीरों तथा सम्राट के निकटवर्ती लोगों के साथ विस्तत पत्र व्यवहार किया। उसने देश के सभी भागों तथा बाहर के ख्याति प्राप्त व्यक्तियों पर इस्लाम को विनाश से बचाने के लिए ठोस यत्न करने की आवश्यकता पर बल देने का प्रयास किया। उसकी कृति मंखतूबात को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने अकबर तथा जहांगीर के सभी प्रमुख दरबारियों को पत्र लिखे। उसने ख़ान ख़ाना, खान–इ–आज़म, खान–ए–जहान, सिंकदर खान लोधी, महाबत, ख़ान, मुरतज़ा ख़ान, किलिज ख़ान जब्बारी ख़ान सदर जहान पर तरवियात ख़ान, इस्लाम ख़ान, कसिम ख़ान तथा अन्य व्यक्तियों को इस्लाम की दयनीय दशा तथा असावधानी की स्थिति में सामने आने वाले खतरों को स्पष्ट करते हुए कई पत्र लिखे, जिनमें उन्हें रूढ़िवादी इस्लाम में आमंत्रित किया गया और उत्तरदायित्व संभालने की प्रार्थना की गई और उच्चतम धार्मिक आनन्द का आश्वासन दिया गया। उसके बार–बार उनके इस कर्त्तव्य पर बल दिया कि उनके अपने सामाजिक क्षेत्रों में क्रांति लाई जाए और सम्राट के मन में परिवर्तन लाने के लिए उसे प्रभावित किया जाए। मुजद्दिदद इस पूर्वधारणा के अनुसार कार्य करते थे कि "शरीयत तलवार की परिछाई के अधीन है" उसका यह दढ़ विश्वास था कि सम्राट आत्मा थी और शेष लोग उसके शरीर की तरह थे। यदि आत्मा पवित्र हो तो शरीर भी उचित स्थिति में रहता है। यदि आत्मा में कोई विकार आ जाए तो शरीर पर उसका प्रभाव पड़ता है। अतः सम्राट के सुधारने का तरीका जनता को सही दिशा की ओर ले जाना है"। जहांगीर के सिंहासन पर बैठने से पूर्व की घटनाओं, उसके स्थान पर खुसरों को सिंहासन पर बिठाने के षड़यंत्र, शेख फरीद बुखारी नुरतान खान, जिसे शेख अहमद से सबसे अधिक पत्र लिखे थे, द्वारा सलीम के पक्ष में निभाई गई विशेष भूमिका के स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। यह बात असभंव नहीं है कि हिन्दुस्तान की मसनद के समर्थन के उपलक्ष में जहांगीर से इस्लाम की रक्षा करने के लिए लिया गया वचन मुजाद्दिदद सरहिंदी की गतिविधियों का ही परिणाम हो। जहांगीर के सिंहासन पर बैठने का समाचार सुनकर मुजाद्दिदद गदगद हो उठा था।

अकबर की मत्यु पर रूढ़िवादियों ने सुख का सांस ली। किन्तु वे इस पर ही संतुष्ट नहीं थे। मुजद्दिदद, जहांगीर को पूरी तरह परिवर्तित करके मुस्लिम हितों की रक्षा के लिए राज्य में रूढ़िवादी

इस्लामी नीति लागू करवाना चाहते थे। इन आंदोलन को अधिक बलपूर्वक चलाया गया। मुजद्दिद में लाला वेग को लिखा, यदि (जहांगीर के) शासन के आरम्भ में ही इस्लाम को उचित स्थान मिल जाए और मुसलमानों को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो जाए तो बहुत अच्छा है। किन्तु यदि (इस्लाम और मुसलमानों का पुनरुत्थान करने में) विलम्ब की गई हो मुसलमानों के लिए यह कार्य बहुत कठिन हो जाएगा। सदर जहान को आशीर्वाद देने और अकबर के शासन काल में धार्मिक पतन पर दुख प्रकट करने के बाद मुजद्दिद कहता है, "अब जब कि साम्राज्य में परिवर्तन आया है (अर्थात् अकबर का शासनकाल समाप्त हो गया है) और अन्य धर्मों द्वारा (इस्लाम का) विरोध समाप्त हो गया है, इस्लाम के महान व्यक्तियों, उलमा तथा मंत्रियों के लिए यह आवश्यक है कि शरीयत के कानूनों को पूरी सावधानी और शक्ति से लागू करें। पहले अवसर पर ही इस्लाम के उन नियमों को स्थापित करना चाहिए जिनकी उपेक्षा होती रही है क्योंकि विलम्ब में कोई सुरक्षा नहीं है। खान जहान को पत्र लिखते हुए वह कहता है, "जब सम्राट आपकी बात सुनता है और आपके विचारों को महत्त्व देता है तो आपकों इस सुन्दर अवसर से लाभ उठाना चाहिए (उचित समय पर) अहल–इ–सुन्नत वा जमात के अनुकूल इस्लाम का सन्देश उसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से देना चाहिए। अवसर मिलने पर इस्लाम के नियमों को स्पष्ट करना चाहिए। आपको सदा उचित अवसर का ध्यान रखना चाहिए, और धार्मिक मामलों पर बातचीत चलने प इस्लाम की पवित्रता का समर्थन करना चाहिए और अन्य धर्मों का खंडन करना चाहिए। शेख फरीद बुखारी से उसने आग्रह करते हुए कहा, "अब जब कि सम्राट को काफिरों से कोई सहानुभूति नहीं है, भूतकाल में आरम्भ की गई रीतियों को समाप्त कर देना चाहिए क्योंकि मुसलमानों के लिए वे बहुत निंदनीय है। प्रत्येक मुसलमान का यह कर्त्तव्य है कि वह काफिरों की रीतियों की बुराइयों के सम्बन्ध में सम्राट को सूचित करे और उन्हें दूर करने का यत्न करे क्योंकि संभव है कि सम्राट को काफिरों के नवाचारों की बुराइयो का ज्ञान ही न हो। यदि आप उचित समझें तो इस्लाम के कुछ उलमा को सूचित करें ताकि वे आकर काफिरों की बुराइयों को स्पष्ट करें। मुजद्दिद द्वारा एक और लाभदायक विधि यह अपनाई जाती थी कि वह अपने कई शिष्यों को सुधार तथा धर्मातंरण के कार्य के लिए अभिकर्त्ता (खलीफा) के तौर पर प्रशिक्षित करता था। वह उन्हें देश के भिन्न भागों में तथा विदेशों में भी सच्चे इस्लाम के प्रचार तथा प्रसार के लिए तथा लोगों को पवित्र पैगम्बर के उदाहरण का अनुकरण करने के लिए प्रेरित करने हेतु भेजता था। दूसरे शब्दों में भारत में इस्लाम धर्म का सच्ची भावना से प्रचार किया गया और इस्लाम के इतिहास में पहली बार विधिवत् ढ़ग से तबलीग का कार्य किया गया। मुजद्दिद ने साम्राज्यवादियों में रूढ़िवादी इस्लाम का कार्य करने के लिए शेख फरीद बुखारी तथा मिरन सदर जहान के निमंत्रण पर मुजद्दिद/स्वयं भी कई बार आगरा गया।

मुजद्दिद अलफ–इ–सानी की गतिविधियों का प्रभाव भारत के प्रत्येक कोने में अनुभव किया गया। जहांगीर ने भी उस के सम्बन्ध में सुना और उसे दरबार में बुलाया। तुजुक–इ–जहांगीरी में शेख सरहिंदी के विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि शेख के सम्बन्ध में उसे बहुत प्रतिकूल रिपोर्ट दी गई। किन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँगीर ही पहला अथवा केवल एक ऐसा व्यक्ति नहीं था जो शेख अहमद को बुरा समझता था। शेखअब्दुल हक मुहद्दिस देहलवी जैसे धर्मशास्त्रियों ने भी मुजद्दिद के विचारों के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया था। वस्तुतः इस सहस्राब्दी के मुजद्दिद के सम्बन्ध में ऐसे सामान्य सन्देह बना हुआ था। मुजद्दिद को स्वयं इसका ज्ञान था और उसने इसे दूर करने के कई यत्न किये। मुजद्दिद का अत्यधिक विवादस्पद पत्र–जिसका जहांगीर ने तुजुक में भी उल्लेख किया है – वह था जिसमें मुजद्दिद ने इस्लाम के प्रथम खलीफा अबु बक्र

के साथ समानता का दावा किया बल्कि अपने आपकों उससे महान बताया। मुजद्दिद के पत्र आंतरिक मन (बातिन) के प्रशिक्षण से सम्बन्धित स्हस्यवादी शब्दावली से परिपूर्ण हैं और इस्लामी रहस्यवाद से अनभिज्ञ व्यक्ति उनको भली–भांति समझ नहीं सकते। उनका वास्तविक अभिप्राय यह था कि उसे अबु वक्र की महानता को देखने को गौरव था, न कि वह उसके साथ समानता का दावा कर रहा था अथवा अपने आपको उससे महान बता रहा था। दारा शुकोह ने अपनी कृति सफीनत–उल–औलिया में शेख अहमद के लिए प्रशंसात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। दारा ने भी मुजद्दिद के विरुद्ध इस आरोप का उल्लेख किया है किन्तु साथ ही उसने यह भी लिखा है कि एक बार राजकुमार खुर्रम का उस्ताद शेख मीरक सरहिंद गया और शेख अहमद से प्रश्न किया। शेख अहमद ने आरोप का खंडन किया और कथित पत्र प्रस्तुत किया। शेख मीरक इस सम्बन्ध में पूर्णतया सन्तुष्ट होकर वापस लौटा।

जहांगीर के साथ साक्षात्कार के समय जब मुजद्दिद से उपयुक्त आरोपों के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया तो उसने नकारात्मक उत्तरदिया और इसकी व्याख्या करते हुए यह उदाहरण दिया, "यदि आप किसी साधारण व्यक्ति को सेवार्थ बुलाएँ और उसे भेदपूर्ण बातें बतायें तो निश्चित रूप से वह व्यक्ति पंज–हज़ारी उमरा की पंक्ति को पार करके आपके पास पहुंच जाएगा। तत्पश्चात् वह अपने स्थान पर लौट जाएगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह व्यक्ति ओहदा में पंज–हजारियों से ऊंचा हो जाएगा। किन्तु जहांगीर उसके उत्तरों से सन्तुष्ट नहीं था और शेख को ग्वालियर के किले में बन्द करने के लिए उसे अनिराए सिंह दालान को सौंप दिया गया। शेख अहमद का जीवनी लेखक शेख बदरुद्दीन सरिहिन्दी कहता है कि शिया चुगलखोरों और शराखेणें लोगों ने जहांगीर के कान पहले ही भर दिये थे। जब मुजद्दिद जहांगीर के सभी आरोपों का सन्तोषजनक उत्तर दे चुका था तो उन्होंने इस बात पर उकसाया कि वह उसे रस्नी सिजदाह करने के लिए आदेश दे। शेख अहमद ने ऐसा करने से इनकार कर दिया। दरबारी शिष्टाचार की इस उपेक्षा के कारण सम्राट क्रुद्ध हुआ। रोजत–उल–कय्यूमिया, जो अपेक्षाकृत बाद की कृति है, के लेखक ने शेख अहमद के बन्दीकरण के अधिक स्पष्ट कारण बताए हैं। उसके मतानुसार जहांगीर के दरबार में ईरानियों का प्रभुत्व था और वह शेख अहमद की शिया विरोधी गतिविधियों के कारण उसका विरोधी था। प्रधान मन्त्री आसफ् खान जो नूरजहाँ का भाई था और शिया था, ने जहांगीर को उमड़ते हुए रूढ़िवादी आन्दोलन के प्रति सतर्क किया था जो साम्राज्य को धक्का पहुँचा सकता थां उसने सम्राट को यह परामर्श दिया था कि सैनिकों को शेख के शिष्यों से मिलने ने दिया जाए और यदि उसे फांसी न दी जाए तो कम से कम बन्दी अवश्य बना लिया जाए। मुजद्दिद के विरुद्ध लगाए गए आरोप दरबार में सिद्ध न हो सके। जब आसफ खान ने सम्राट से आग्रह किया कि वह शेख ने सिजदाह की मांग करे, जिसके इनकार करने पर उसे बन्दी बनाया गया। यह सत्य है कि शेख अहमद शियावाद की बहुत निंदा करता था और शियाओं को मूर्तिपूजकों से भी बुरा समझता था। हो सकता है कि इस बात में भी कुछ वज़न हो।

मुजद्दिद ने करावास का समय बहुत धैर्य से व्यतीत किया जैसा कि वहां से लिखे गए उसके पत्रों से प्रतीत होता है। उसक समर्थकों ने सम्राट से मिल कर उसे रिहा करवाने का यत्न किया किन्तु वे सफल न हुए। इससे यह ज्ञात होता है कि मुजाद्दिद की कैद और रिहाई में एक से अधिक पक्ष रुचि रखते थे। तथापि एक वर्ष के बाद उसे रिहा कर दिया गया और सम्मानार्थ एक चोगा और खर्च के लिए एक हजार रुपये दिए गए। उसको साम्राज्यिक शिविर में रहने अथवा वहाँ से चले जाने की भी छूट दी गई। मुजद्दिद ने वहां ठहरना पसन्द किया। मुजाद्दिद के पत्रों ये यह संकेत प्राप्त होता है कि वह सम्राट के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने का सदैव इच्छुक

रहता था और जिन व्यक्तियों को ऐसा विशेषाधिकार प्राप्त था उनसे आग्रह करता था कि वह सम्राट को रूढ़िवादी इस्लाम की ओर आकर्षिक करें। मुजद्दिद को सम्राट से मिलने के कई अवसर प्राप्त हुए और उसने उनका पूरा लाभ उठाया। अपने पुत्रों, ख्वाजा मुहम्मद सैय्यद तथा ख्वाजा मुहम्मद को पत्र लिखते हुए वह कहता है, "इन दिनों परिस्थितियां अनुकूल हैं। असाधारण बैठकें हो रही हैं। ईश्वर की कृपा से मैंने धार्मिक मामलों तथा इस्लामी सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में ढील से काम नहीं लिया।" जिस बात पर विशेष बैठकों तथा अंतरंग में बल दिया गया उसी का प्रचार इन महत्वपूर्ण विवादों में किया गया। यदि मुझे इनमें से एक बैठक का भी पूरा विवरण देना हो तो इसके लिए एक पुस्तक की आवश्यकता होगी। विशेषतया इस रात्रि को.....सम्राट ने मेरी बात धैर्य से सुनी..... और भगवान की दया से उनका यह भाव बना रहा और उसने किसी प्रकार की प्रतिकूलता और कड़वाहट नहीं दिखाई। मुजद्दिद लगभग तीन वर्ष साम्राज्यिक शिविर के साथ घूमता रहा। जहांगीर ने अपने शासनकाल के 18वें वर्ष में उसे 2000 रुपये प्रदान करके सम्मानित किया। **रौजत-उल-कय्यूमियाह** का लेखक यहां तक कहता है कि तत्पश्चात् शेख अपने शेष जीवन के लिए सम्राट का विशेष सलाहकार बना गया। किन्तु यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि सम्राट ने मुअद्दिद सरहिन्दी से परामर्श अवश्य प्राप्त किया जैसा कि उपरोक्त द्वारा पूर्वोक्त को लिखे गए पत्र से स्पष्ट होता है। जहांगीर द्वारा कभी–कभी धार्मिक कट्टरता तथा हिन्दू विरोधी भावनाओं और नीति का प्रकटीकरण मुजद्दिद के प्रभाव का ही परिणाम कहा जा सकता है।

मुजद्दिद सरहिन्दी ने 63 वर्ष की आयु में (पैगम्बर की भी यही आयु थीं 1624 ई॰ मंगलवार की प्रातः को आँखे मूंद ली। अपने बेटों और शिष्यों को उसके अन्तिम शब्द थे; "शरीयत को अपने दांतों से मजबूती से पकड़ कर रखो" उसको सरहिंद में दफ़नाया गया जहाँ उसके उर्स (वरसी) पर विश्व भर के हजारों मुसलमान इकट्ठे होते हैं।

अपने पिता के जीवनकाल में शेख अहमद ने एक से अधिक बार आगरा की यात्रा की। अकबर के समय आंगरा धार्मिक गतिविधियों का केन्द्र था और तत्कालीन विद्ववान दरबार की शोभा बढ़ाते थे। यहां वह अकबर के दरबार के दो प्रभावशाली व्यक्तियों, अबुल फज़ल और फैजी, जो रूढ़िवादी इस्लाम के विरुद्ध थे, के सम्पर्क में आया। कहते हैं कि अबुल फज़ल शेख अहमद की उपलब्धियों से बहुत प्रभावित हुआ और उसक मन में उसके लिए बहुत आदर था। बरहानपुर के मुल्ला मुहम्मद हाशिम किशमी के अनुसार एक दिन शेख अहमद अबुल फज़ल के पास बैठा था। अबुल फज़ल, ने दार्शनिकों की इतनी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की कि इससे इस्लाम के उलमा पर अप्रत्यक्ष प्रहार होता था। शेख अहमद इसको सहने न कर सका। उसने निवेदन किया कि इमामा गजाली ने अपने एक भाषण में यह बताया कि ज्योतिष तथा चिकित्सा आदि जैसे लाभदायक शास्त्रों, जिनमें निपुण होने का दर्शनिक दावा करते हैं, को वस्तुतः उन्होंने भूतकाल के पैगम्बरों के कथनों और कृतियों से ही प्राप्त किया और गणित आदि जैसे शास्त्र जो उनके मस्तिष्क की उपज थे, बहुम कम क्रियात्मक महत्त्व रखते थे। यह सुनकर अबुल फज़ल क्रुद्ध होकर बोला, "गजाली ने बेतुकी बात कही।" इस टिप्पणी पर शेख अहमद को ठेस लगी और वह ये शब्द कह कर चला गया, "यदि आप विद्ववानों की संगति की रुचि रखते हैं तो अपको ऐसे अशिष्ट शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।" इसके बाद शेख अहमद अबुल फजल के पास नहीं गया जब तक कि उसने स्वयं उसे बुलवा कर खेद प्रकट नहीं किया था। शेख अहमद शेख फैज़ी को भी मिला और कहते हैं कि उसने उत्तरोक्त की सावात–इ–उल–इलहाम, कुरान को टीका लिखने में सहायता की।

शेख अब्दुल हक मुहद्दिस दहलवी का नाम शेख सरहिन्दी के समकालीन व्यक्तियों में से विशेष तौर पर उल्लेखनीय है। वह मुजद्दिद का गुरुभाई था और ख्वाजा मुहम्मद बकी बिल्लाह उसे नक्शबंदी सम्प्रदाय में लाया था। वह ख्वाजा के आध्यात्मिक मण्डल का प्रमुख और निष्ठावान व्यक्ति था। उसने नक्शबंदी संप्रदाय पर निबन्ध (रिसाला) लिखा और उच्चतम आध्यात्मिक उत्थान के लिए इसे सर्वोच्चतम संप्रदाय बनाया। यह बात महत्त्वपूर्ण है कि इन दोनों आध्यात्मिक गुरुओं, जो एक ही पीर के मुरीद थे, के शिष्य विरोधी गुटों में विभक्त थे। भारतीय इस्लाम के जर्जित ढ़ांचे के लिए यह बात और भी दुर्भाग्यपूर्ण थी कि उस व्यक्ति का नियमित रूप से विरोध किया जाता था, जिसने इस्लाम को पुनः प्राचीन गौरव प्रदान करने का दायित्व सम्भाला हुआ था। शेख अब्दुल हक ने मुजाद्दिद अलफ़–इ–सानी के मकतूबात के खण्डन के लिए एक और निबन्ध लिखा। किन्तु शेख अहमद और अब्दुल हक का झगड़ा केवल धार्मिक था और इस्लाम के मूल सिद्धान्तों से सम्बन्धित था। यह व्यक्तिगत नहीं था और न ही इसके पीछे विरोधी को नीचा दिखाने की भावना थी। तज़किर–इ–अदामिया का लेखक शेख अब्दुल खासिक कहता है, "एक दिन मैं (शेख अब्दुल खालिक) अब्दुल हक के पास गया। बात शेख अहमद की आध्यात्मिक महानता (करामात) पर चल पड़ी। शेख अब्दुल हक ने मुजाद्दिद की किसी बड़ाई को स्वीकार करने से इनकार किया। मैंने कहा कि इस्लाम के मुख्य समर्थकों के प्रति अनिष्ठा भी भावना रखना उचित नहीं है; हमें निर्णय कुरान पर छोड़ देना चाहिए। हमें स्नान आदि करके पवित्र पुस्तक खोलनी चाहिए। (इसे खोलने के बाद) जो श्लोक प्रथम पष्ठ पर आता है उसे शेख अहमद का फल मान लिया जाए।" वह आगे कहता है कि फल शेख अहमद के पक्ष में था और उसके बाद अब्दुल हक ने उसका विरोध करना छोड़ दिया। शेख नुरुल हक ने शेख अहमद सरहिन्दी के जीवन पर एक परिशिष्ट जोड़ दिया जिसे उसके पिता शेख अब्दुल हक ने अपनी कृति **अखबर-उल-अखियार** में छोड़ दिया। था। शेख नूरूल हक यह भी कहता है कि बाद के वर्षों में उसके पिता को मुजद्दिद के सम्बन्ध में अपने पहले विचारों पर खेद था। वह शेख अब्दुल हक द्वारा ख्वाजा हिसामुद्दीन को लिखे गए एक पत्र को उद्धत करता है जिसमें यह लिखा था कि उसके मन में उसके प्रति कोई दुर्भावना नहीं थी और वह उसके प्रति आकर्षक महसूस करता था। यह सत्य है कि बाद में उनमें समझौता हो गया और शेष सारा जीवन उनमें मैत्री–भावना बनी रही। ग्वालियर के किले में बन्दी रहते समय शेख अहमद ने अब्दुल हक को एक पत्र लिखा जिसमें उसने उत्तरोक्त द्वारा दर्शायी गई सहानुभूति तथा प्रोत्साहन के लिए आभार प्रदर्शित किया।

मुजद्दिद की शिक्षाएं

इस्लाम के मुजद्दिद के रूप में शेख अहमद के स्थान को उचित रूप से तब तक नहीं आंका जा सकता जब तक कि उसकी धार्मिक गतिविधियों को दष्टि में न रखा जाए। एक निपुण चिकित्सक की तरह उसने उन रोगों की जड़ तक पहुँचने का यत्न किया जो रूढ़िवादी इस्लाम को खोखला कर रहे थे और उसने इस्लाम को इन रोगों से मुक्त करने का प्रत्येक सम्भव यत्न किया।

मुजद्दिद के मतानुसार शरीयत का मुख्य स्रोत **उलमा-इ-सू** अथवा संसार में लिप्त सन्त जो फिक या न्यायशास्त्र को ही समस्त धार्मिक ज्ञान समझते थे। मुजद्दिद के मतानुसार "इस युग में शरीयत में जो ढील तथा अनियमितता आई है और इस्लाम के विकास और प्रसार में जो बाधा आई है वह उलमा–इ–सू के कारण अैर उनकी अक्षमता के कारण ही है।" उनके विचार में उलमा कुरान तथा हदीस को इस तरह उद्धता करते थे जैसे शैतान धर्मग्रन्थ पढ़ रहा हो। इस बात

में सन्देह नहीं है कि जो बात वह कहते थे उसे वे धर्मग्रन्थों के आधार पर सिद्ध करने का बहाना करते थे; किन्तु कठिनाई यह थी कि वे इनका अर्थनिर्णय मनमाने ढंग से करते थे। उलमा कुरान और हदीस की भाषा के साथ खिलवाड़ करते हुए उनका अर्थ स्थिति तथा अपने स्वामियों की आवश्यकताओं के अनुसार करते थे। उलमा ने इस्लाम में लाए गए नवाचार को नया नाम–**विद्दन-इ-हसना** दिया जिसका अर्थ है कि यद्यपि यह एक नवाचार है किन्तु पापपूर्ण नहीं है। इन आड़ में कुरान और शरीयत के मनगड़ंत अर्थ को अथवा किसी उद्देश्यपूर्ण अर्थ को स्वीकार्य मान लिया जाता था। मुजद्दिद ने इस बुराई के विरुद्ध नियमित रूप से अभियान चलाया औ उसके मखतूबात में इससे सम्बन्धी कई सन्दर्भ उपलब्ध हैं। ख्वाजा मुफ्ती अब्दुर रहमान काबुली के लिखे गए एक पत्र में वह इस प्रकार तर्क देता है – "वे कहते हैं कि विद्दत (नवाचार) दो प्रकार की है" – अच्छी और बुरी इस नम्र फकीर को इन दोनों में कुछ अच्छा अथवा ईश्वरीय दिखाई नहीं देता; सिवाए अंधकार अथवा गन्दगी के कुछ दिखाई नहीं देता। पैगम्बर कहता है, "मेरे धर्म में लाई गई कोई भी नई बात निन्दनीय है।" जब किसी बात की पहले से ही निन्दा की गई है तो वह लाभदायक कैसे हो सकती है? नवाचारों के सम्बन्ध में पैगम्बर ने हमें पहले ही चेतावनी दी है क्योंकि (इस्लाम में लाई गई) कोई भी नई बात बिद्दत है और प्रत्येक बिद्दत विपथ प्रदर्शन है। इसलिए नवाचार में अच्छाई का क्या अर्थ है?" मुजद्दिद ने सिद्धान्त शून्य मुल्लाओं की बड़ी आलोचना की। उसने इस्लाम धर्म के उपदेशकों को इस गैर इस्लामी प्रवति के विरुद्ध और तथाकथित तर्कसंगत अर्थनिर्णय की बुराइयों के विरुद्ध चेतावनी दी। उसने उनसे आग्रह किया कि वे कुरान और हदीस का वही अर्थ समझें जो पुराने समय के धार्मिक मुखियाओं ने समझा और अपने कार्यों द्वारा पूर्व उदाहरणों के रूप में स्थापित किया। जब जहांगीर ने शेख फरीद बुखारी को यह आदेश दिया कि धार्मिक मामलों में उसे परामर्श देने के लिए चार पवित्र तथा विद्वान मुल्लाओं को नियुक्त किया जाए तो शेख अहमद इस सामाचार को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु उसने छुपे हुए खतरे को भी एक दम भांप लिया। कानून सम्बन्धी कुछ बातों पर उलमा की असहमति तथा झगड़ों के कारण की अकबर के मन में शरीयत का आदर कम हो गया था। मुजाद्दिद को यह आशंका थी कि फिर वही बात होगी और इस्लाम को इससे हानि होगी। इसलिए उसने शेख फरीद को लिखा कि चार व्यक्तियों की बजाय एक ही सक्षम व्यक्ति को नियुक्त किया जाये नहीं तो अब तक की उपलब्धि मिट्टी में मिल जायेगी।

तसव्वुफ (रहस्यवादी अनुभव अथवा ईश्वर को प्रत्यक्ष ज्ञान) ने मुस्लिम समाज के मन में घर कर लिया था। इस्लाम की अद्वैतवादी, वैयक्तिक तथा अनुभवातीत धारणा के स्थान पर सर्वेश्वरवादी धारणा को प्रतिस्थापित कर दिया गया था। इसलिए कई उदारवादी सूफियों ने यह घोषणा की कि तरीकत शरीयत से पथक थी–तरीकत वास्तविक वस्तु थी और शरीयत उसकी परछाई थी। इसके परिणामस्वरूप शरीयत द्वारा बताए गये अथवा पैगम्बर द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान से ईश्वर को प्राप्त करने के लिए बताए गए मार्ग के अनुकूल न चलने से भी आध्यात्मिक समागम में आयोग्यता नहीं आती थी। इसलिए मुजद्दिद के मतानुसार सूफियों ने **तसव्वफ** की आड़ में लोगों को पथभ्रष्ट किया। वे अपने आपकों धार्मिक नियमों से मुक्त मानते थे। शेख अहमद इस्लाम के रहस्यवादियों में प्रथम तथा महानतम था जिसके तौहीद अर्थात् **वहदत-इ-वुजूद** अथवा **तवहीद-इ-वुजूदी** (अस्तित्व का ऐक्यू) की सर्वेश्वरवादी धारणा की स्पष्ट रूप से कड़ा विरोध किया। मुजद्दिद में इस बात पर बल दिया कि सहज ज्ञान अथवा रहस्वादी अनुभव (**कशफ-व-शुहूद**) से ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता – इसके लिए इस्लाम का तथा **उलेमा-इ-जाहिर** का अथवा आधिकारिक इस्लाम के धर्मशास्त्रियों द्वारा बताए गए मार्ग का आश्रय लेना पड़ता है। मुजद्दिद द्वारा प्रस्तुत तौहीद की

अवधारणा इस प्रकार है। "पवित्र ईश्वर स्वयं विद्यमान है। शेष सभी वस्तुएं उसकी कृतियां हैं। ईश्वर अपने अस्तित्व (जात) तथा गुणों (सिफत) में अकेला है और इनमें से किसी में भी उसकी सहभागिता नहीं है; भले ही यह वुजूदी अथवा गैरवजूदी (विद्यमान अथवा अविद्यमान) हो, न नाम में और न ही साम्य में।" परिणामतः मुजाद्दिद ने ईश्वर के अस्तित्व और गुणों का वर्णन अधिकारिक इस्लाम के धर्मशास्त्रियों की तरह किया। मुजाद्दिद सरहिन्दी ने इस्लामी रहस्यवादी को एक दष्टिकोण प्रदान किया और इसे पुनः इसके अनुमानित मुल धर्म में लाने का यत्न किया।

शिया लोगों को भारत के मुस्लिम समाज में स्थायी तथा प्रमुख स्थान प्राप्त हो गया। नूरजहाँ जो कि ईरान की थी, के शासनकाल में भारत में ईरानी का प्रभाव तीव्र गति से बढ़ रहा था। मुजद्दिद शिया लोगों को विधर्मी मानता था और उनकी कड़ी आलोचना करता था। शिया धर्म के विस्तार को रोकने के लिए उसने अपनी समस्त शक्ति का प्रयोग किया। उसने मुसलमानों से पैगम्बर के साथियों में हुए उन झगड़ों को भुलाने का आग्रह किया जिनके कारण इस्लाम में मतभेद उत्पन्न हुआ था। मुजद्दिद ने **"रद्द-इ-खाफिज'** अथवा "शियाधर्म का खण्डन" नामक एक पुस्तक लिखी जिसकी भारत में तथा विदेशों में विस्तत चर्चा हुई। अपने मकतूबात में भी उसने इन समस्याओं की विस्तापूर्वक चर्चा की है। मुजद्दिद ने शिया धर्मशास्त्रियों से खुला वाद–विवाद भी किया और उनके सिद्धान्तों को खोखला सिद्ध करने का यत्न किया।

मुजाद्दिद ने गैर सुन्नियों के प्रति सामान्यतया तथा गैर मुसलमान के प्रति विशेषतया घणा का प्रचार किया। रूढ़िवादी इस्लाम धर्म से बाहर के किसी व्यक्ति के प्रति उसके मन में कोई सहानुभूति नहीं थी और सहनशीलता को वह अप्रत्यक्ष रूप से प्रशंसात्मक समझता था। पवित्र सुन्नी के रूप में शेख सरहिंदी का विश्वास था कि शरीयत का सर्वथा अनुपालन ही स्वर्ग का एक मात्र मार्ग था। उसके मतानुसार नक्शबंदी मत सूफीमत का सही रूप था जो शरीयत के अनुकूल था। उसकी दष्टि में संसारिक प्रेम और निजात (मोक्ष) की प्राप्ति दो भिन्न बातें थी। इसलिए मोक्ष प्राप्त करेन के सांसारिक बन्धनों को त्यागना आवश्यक था।

मुजद्दिद सरहिन्दी का उद्देश्य, जो सत्रहवीं शताब्दी के मुस्लिम समाज के धार्मिक तथा राजनीतिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, निश्चित रूप से सफल सिद्ध हुआ। वह अकबर के कार्य को समाप्त करने और उसके उत्तराधिकारियों को रूढ़िवादी इस्लाम के विचारों की और प्रवत करने में सफल सिद्ध हुआ। निस्संदेह एक जहांगीर औरंगजेब बनने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। औरंगजेब की बढ़ती हुई रूढ़िवादिता अध्ययन का एक रुचिकार विषय है। अकबर का पुत्र तथा उत्तराधिकारी एक बैल के वध को इस्लाम के लिए एक लाभ मानता था। शेख सरहिंदी भारत में रूढ़िवादी इस्लाम के धार्मिक एवं राजनीतिक सुधार आन्दोलन का जन्मदाता था। वह मुस्लिम अमीरों वज़ीरों और उच्चतर श्रेणियों के दष्टिकोण में परिवर्तन लाने के श्रेय का अधिकारी है। इस विचारधारा का अन्तः प्रवेश उच्चतर वर्ग तथा अकबर के उत्तराधिकारियों के गैर सुन्नियों और गैर मुसलमानों के प्रति परिवर्तित दष्टिकोण के कारण जनसाधारण के निम्नतर वर्ग में अन्तःप्रवेश हुआ। इस तरह उसने अपने पीछे सांप्रदायिक घणा, धार्मिक कड़वाहट तथा कट्टरता को ही छोड़ा। मूजाद्दिद द्वारा प्रचारित असहनशीलता तथा प्रतिक्रिया के कारण ही शिया–सुन्नी तथा हिंदू–मुस्लिम सांप्रदायिक झगड़े बढ़ने लगे। मुजद्दिद की उललकार कि 'मुहम्मद के पास वापिस चलो' ने सूफी उत्साह को तो बढ़ावा दिया किन्तु इसे मुहम्मद की ओर वापस न ले सकी।

शाहजहां के अधीन रूढ़िवादी का पुनः स्थापन तथा पुर्नजीवन भरत में नए जीवन का संचार करने

का कार्य शेख अहमद सरहिन्दी ने प्रारम्भ किया जिसकी मत्यु के बाद उसे बेटों और खलीफों ने इसे जारी रखा। **बादशहनाहा** से पता चलता है कि शाहजहाँ के सम्राट् बनने पर भारत में रूढ़िवादी इस्लाम को बहुत प्रोत्साहन मिला। शाहजहाँ मुजद्दिद के प्रशंसकों में से था। जब जहांगीर ने मुजद्दिद सरहिन्दी को दरबार में बुलाया तो शाहजहाँ को भय था कि मुजद्दिद द्वारा दरबारी शिष्टाचार का पालन न करने के कारण हानि पहुँच सकती है इसलिए उसने शेख अहमद से विनय की कि वह सम्राट् के आगे सिज़दा करे क्योंकि ऐसा करना मुस्लिम विधि के अनुकूल था। किन्तु मुजद्दिद ने इस सुझाव को अस्वीकार कर दिया और ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य को **सिज़दा** करने पर सहमत न हुआ।

शाहजहाँ के सिंहासन पर बैठने से भारतीय इस्लाम ने रूढ़िवादी सुधार आन्दोलन का भविष्य उज्जवल हो गया। शाहजहाँ को अपने युग का मुजद्दिद माना जाता था। उसका समस्त जीवन इस तथ्य का एक उदाहरण था। शाहजहाँ ने इस्लाम को पवित्र करने और इसे शरीयत के अनुकूल बनाने का भरसक प्रयत्न किया तथापि वह बुद्धिमान था और एक मुसलमान की अंतःकरण के कारण सिंहासन को जोखिम में नहीं डालना चाहता था। प्रशासन का रंग रूप बदल गया और अकबर का उदारवादी भावना निश्चित रूप से उतार पर थी। शाहजहाँ जहांगीर और औरगंजेब के मध्य में खड़ा था और रूढ़िवादी तब तक चैन नहीं लेने वाले थे जब तक कि भोर सिंहासन पर उनका धार्मिक प्रतिरूपी विराजमान नहीं हो जाता था।

ख्वाजा मुहम्मद मासूम की गतिविधियाँ

ख्वाजा मुहम्मद मासूम (107-1079 हिजरी) शेख अहमद सरहिंदी का तीसरा बेटा था और सभी भाइयों में से अधिक होनहार तथा समझदार था। बचपन में ही उसमें महानता के चिन्ह दिखाई देते थे। शेख अहमद ने अपनी मत्यु (1032 हिजरी) से एक वर्ष पूर्व ख्वाजा मुहम्मद मासूम को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था। ख्वाजा मुहम्मद मासूम अपने पिता की नीति पर चलता रहा और राज्य तथा समाज में ख्याति प्राप्त व्यक्तियों को पत्र लिखता रहा। उसने भारत के बाहर के शासकों को भी पत्र लिखे।

औरंगजेब ख्वाजा मुहम्मद मासूम के संपर्क में उस समय आया जब वह राजकुमार था। राजकुमार ख्वाजा का शिष्य बन गया। कंधार पर चढ़ाई करते समय औरगंजेब ने अपनी सफलता के लिए ख्वाजा मासूम को प्रार्थना करने के लिए लिखा। ख्वाजा मासूम ने उसे उत्तर में लिखा कि यह अभियान शुभ था और यह लड़ाई शिया विधर्मियों के विरुद्ध और अल्लाह के मार्ग पर चलने के पक्ष में थी। उसने आगे उसे जिहाद के गुणों और महत्त्व के संबंध में भी बताया।

सिंहासन पर बैठने के बाद औरंगजेब ने ख्वाजा मुहम्मद मासूम को यह इच्छा प्रकट की कि वह इस्लामी रीतियों के अनुसार अध्यात्मिक दीक्षा जिसे सुलूक कहते थे, लेना चाहता था अर्थात् यह एक प्रकार की अध्यात्मिक यात्रा करना चाहता था। संभवतया ख्वाजा वद्धावस्था तथा अस्वस्थ होने के कारण औरंगजेब की इस प्रार्थना को स्वीकार नहीं कर सकता था। इसलिए उसने अपने पुत्र ख्वाजा मुहम्मद सैफउद्दीन (1049-1096 हिजरी) को इस उद्देश्य के लिए भेजा। औरगंजेब ने इस कृपा के लिए ख्वाजा मासूम को धन्यवाद देते हुए पत्र लिखा जिसके उत्तर में ख्वाजा ने उसे लिखा — 'ईश्वर की असीम कृपा है कि इस नम्र फकीर के बेटे को आप द्वारा संगति में स्वीकार किया गया है और इसका शुभ परिणाम निकला है। ठीक मार्ग दिखाना और गलत कार्यों से बचाना हमारा कर्तव्य है। आपने इसके लिए धन्यवाद और शुभ इच्छाएं भेजी हैं। मैंने

ईश्वर का धन्वाद किया है और (भविष्य में) मैं आप के लिए और भी अधिक प्रार्थना करूंगा। कैसा वरदान है कि इतना साम्राज्यिक गौरव और शाही ठाठबाट होते हुए भी आपने (सूफीवादी हकीकत) सत्य को स्वीकार कर लिया है और एक (मेरे जैसे) तुच्छ व्यक्ति के शब्द प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं"।

ख्वाजा सैफउद्दीन औरंगजेब की आध्यात्मिक प्रगति के संबंध में अपने पिता को नियमित रूप से सूचित करता था। ख्वाजा सैफब्द्दीम के एक पत्र के उत्तर में ख्वाजा मासूम ने निम्नलिखित अनुदेश भेजे, "तुमने जो कुछ सम्राट, धर्म के रक्षक, के संबंध में लिखा है इसे पूरा करना चाहिए (अर्थात् सम्राट को रूढ़िवादी इस्लामी सिद्धांतों में पूरी तरह प्रतिक्षित करना चाहिए। सम्राटों में इस पद्धति (अर्थात् इस्लाम के सच्चे पाठ की ओर झुकाव और इसके अनुकूल चलने की इच्छा) का होना एक आश्चर्यजनक बात है।" एक और स्थान पर ख्वाजा सैफउद्दीन ने औरंगजेब की आत्मा को पवित्र करने सम्बंधी तेज प्रगति के बारे में ख्वाजा मासूम को लिखा जिसके उत्तर में ख्वाजा मासूम ने लिखा, "तुमने लिखा है कि ईश्वर की कृपा से (औरंगजेब की) आत्मा के पवित्रीकरण में और आध्यात्मिक ज्ञान में प्रतिदिन वद्धि हो रही है। ऐसा क्यों न हो जब कि ईश्वर का अत्यन्त प्रिय (अर्थात् औरंगजेब) व्यक्ति धर्म और संसार का मुखिया है? (और हम) उसे पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान देने का यत्न कर रहे हैं।" ख्वाजा मासूम औरंगजेब को शरीयत तथा रूढ़िवादी इस्लाम के पूर्णतया अनुकूल बनाने संबंधी अपने उत्तरदायित्व के प्रति सजग था। ख्वाजा सैफउद्दीन को लिखे गए एक पत्र में वह कहता है : "यह दरवेश, फकीरों की रीतियों के अनुसार (सैफउद्दीन के मिशन में उसकी सफलता के लिए) ध्यान और प्रार्थना से मुक्त नहीं हैं। वह (औरंगजेब की) आत्मा को पवित्र तथा उसके कार्यों की (इस्लाम के नियमों के) पूर्णतया अनुकूल देखना चाहता है। वह (उस समय के) महान धार्मिक व्यक्तियों की तुलना में उसके (औरंगजेब) मन को (धार्मिक उत्साह से) परिपूर्ण पाता है। वह आशा करता है कि वह (औरंगजेब) तुम्हारे संपर्क में ईश्वर से आध्यात्मिक संसर्ग स्थापित कर लेगा, जो ईश्वर की निकटता के संबन्ध में महानतम स्थान है। यह (उद्देश्य औरंगजेब के लिए) प्राप्त करना सुगम है।" इसके अतिरिक्त औरंगजेब ख्वाजा मुहम्मद मासूम से नियमित रूप से पत्र–व्यवहार करता रहा। वह मुस्लिम धर्म शास्त्र के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर उसका परामर्श लेता था। औरंगजेब ख़्वाजा मुहम्मद मासूम और मुजद्दिद सरहिंदी के दूसरे बेटे ख़्वाजा मुहम्मद सैय्यद को कभी–कभी खिल्लत तथा उपहार देता रहता था। ख्वाजा मासूम औरंगजेब की नीति से बिल्कुल संतुष्ट था और स्वयं सम्राट को लिखे गए एक पत्र में वह इस भावना को अभिव्यक्त करता है। "(यह नम्र फकीर) इस्लाम के गौरव और इस्लामी सिद्धांतों के स्थायित्व (जो औरंगजेब की नीतियों का परिणाम है) के लिए आदर और धन्यवाद प्रस्तुत करता है। वह (औरंगजेब की) दीर्घायु, समद्धि तथा सर्वतोमुखी सफलता के लिए ईश्वर से सदा प्रार्थना करता है क्योंकि उसे (ख्वाजा मासूम को) बहुत लम्बे समय से उससे गहरा लगाव और निकट संबन्ध था। वह फकीरों की टोली में नम्रता तथा निवत्ति में अपना समय व्यतीत करता है। अतः इसलिए यह आशीर्वाद उसके हृदय की गहराई से उमड़ा है और आशा है कि ईश्वर कृपापूर्वक इस प्रार्थना का स्वीकार करेगा। और महानता के क्षितिज पर (औरंगजेब के) शासन का सूर्य तथा गौरव सदैव बना रहेगा।"

भारतीय इस्लाम में रूढ़िवादी सुधार आंदोलन के क्षेत्र में ही औरंगजेब को एक सुधारक के रूप में मूल्यांकित किया जा सकता है। औरंगजेब के मन में रूढ़िवाद एक दम प्रस्फूटित न हो यह चिर सिंचित प्रतिक्रियावादी प्रवत्तियों का तर्कसंगत परिणाम था। यह कहना अतिशयोक्ति नही है कि औरंगजेब का राजनीति प्रोक्ष रूप से सरहिंदी के स्वर से निर्धारित होती थी। उसकी आज्ञाएँ

तथा आदेश सुन्नी वर्ग के धार्मिक मुखियाओं द्वारा अनुमोदित तथा प्रतिहस्ताक्षरित होते थे। उसके सभी नैतिक सुधार तथा रूढ़िवादी विनियम राज्य तथा मुस्लिम समाज के जीवन को शरीयत के पूर्णतया अनुकूल लाने की इच्छा से प्रेरित थे।

औरंगजेब ने इस संतोष से सांस छोड़ी कि उसने सारा जीवन सच्चे इस्लाम के अर्पण कर दिया। किन्तु इस्लाम इस बात का साक्षी है कि वह इस्लामी आदर्शों को कार्यान्वित करने में असफल रहा। इस्लाम के लिए अथक प्रयत्न करने के बाद भी औरंगजेब को भारी असफलता का मुंह देखना पड़ा और उसके समय के लोगों को न अच्छे आदमी कहा जा सकता है और न अच्छे मुसलमान; औरंगजेब स्वयं एक धर्म परायण मुसलमान था, लेकिन एक विभिन्न जातियों, नसलों तथा संस्कृतियों के राज्य का बुरा शासक था। औरंगजेब के उपाय मुजद्दिद के दष्टिकोण से तो बिल्कुल ठीक थे किन्तु उन्होंने रोगी को मार दिया। इस्लाम के सार को ग्रहण करने के यत्न में औरंगजेब ने अपनी मत्यु से पूर्व मुस्लिम साम्राज्य को एक परछाई मात्र बना दिया और अपने वंशजों के लिए सांप्रदायिक वैमनस्य की विरासत छोड़ गया तथापि औरंगजेब ने अज्ञानी तथा कट्टर विचारों वाले व्यक्तियों के मन को जीत लिया जो उसे आलमगीर जिंदा पीर कह कर स्मरण करते हैं।

शाह वली उल्लह देहलवी तथा उसके बाद

मुजद्दिद अलफ–इन्सानी के मिशन अर्थात रूढ़िवादी विचारधारा के अनुसार आदर्श मुस्लिम राज्य स्थापित करने के लिए धार्मिक एवं राजनीतिक सुधार आंदोलन के कार्य को शाह वली उल्लाह मुजद्दिद देहलवी द्वारा आगे चलाया गया जो भारत में इस्लाम का एक और मुजद्दिद था। शाह वली उल्लाह दिल्ली में सूर्योदय के समय (1703 ई॰) में उत्पन्न हुआ। उसका नाम अज़ीमउद्दीन रखा गया जिससे उसकी जन्म तिथि भी प्राप्त होती है, तथापि बाद में उसे वलीउल्लह (ईश्वर का नायब) कहा जाने लगा। उसे केवल पांच वर्ष की आयु में स्कूल दाखिल करवा दिया गया। सात वर्ष की आयु में उसका खतना कर दिया गया और उसने रमज़ान का रोज़ा रखना शुरू कर दिया और दैनिक प्रार्थनाएँ करने आरम्भ कर दीं। उसने उसी वर्ष कुरान पढ़ कर समाप्त कर लिया और फारसी पढ़नी शुरू कर दी। दस वर्ष की आयु में उसने फारसी भाषा में निपुणता प्राप्त कर ली। चौदह वर्ष की आयु में उसका विवाह कर दिया गया। उसके पिता शेख अब्दुर रहीम ने ही उसे नक्शबन्दिया धर्मसंघ में दीक्षित किया और इसके बाद उसने सूफीवाद के सिद्धांतों का पालन करना आरंभ कर दिया। इसके पिता ने उसे उस समय खिलाफ़त सौंपी जब यह 17 वर्ष का था और इसके तुरन्त बाद उसके पिता की मुत्यु हो गई। शाह वली उल्लाह 12 वर्षों तक अपने शिष्यों को शिक्षा देता रहा। इसके बाद वह मक्का को चल पड़ा और वहां एक वर्ष रहा तथा इस समय के दौरान में दो बार हज किया। इसके बाद वह भारत लौटा और गुरूवार 14 वें रजब, 1145 हिजरी को दिल्ली पहुंचा। शेष सारा जीवन उसने भारत में व्यतीत किया और भारत में रूढ़िवादी इस्लाम के उत्थान के लिए यत्नशील रहा। उसकी मत्यु 1763 ई॰ में हुई और उसे दिल्ली में दफनाया गया।

शेख वली उल्लाह ने इस्लाम के इतिहास का तथा अपने युग के भारतीय मुसलमानों की परिस्थितियों का गहरा विश्लेषण किया। उसके मतानुसार यह सब समस्या, राजतंत्र पक्ष में खिलाफत की संस्था की समाप्ति के कारण है। लोग शासक संप्रभु को अंधाधुध श्रद्धांजलि अप्रित करने के अभ्यस्त थे और इस बात की ओर ध्यान नहीं देते थे कि वह इस बात का अधिकारी है अथवा नहीं। दूसरी बात यह थी कि मुस्लिम समाज में इजतिहाद की भावना क्रियात्मक रूप से समाप्त हो

चुकी थी। इस्लाम में अस्पष्टताएँ और भेद भाव ज्यों के त्यों बने हुए थे। शाह वली उल्लाह ने जटिल समस्याओं का स्वस्थ सामाधान खोज निकालने और अधिकतर इस्लाम में विरोधी विचारों का समन्वय स्थापित करने का यत्न किया। उसने प्रचलित बुराईयों के विरुद्ध नियमित रूप से अभियान चलाने और इस्लाम की सतह से नवाचार तथा उदासीनता को दूर करने का यत्न किया। उसने परम्पराओं, धर्मशास्त्र तथा रहस्यवाद पर कई पुस्तकें लिखीं। वह हदीस तथा तफसीर (टीका) की एक विचारधरा का प्रणेता है। उसने कुरान का फारसी में अनुवाद किया—जो संकुचित रूढ़िवादी पूर्वाग्रह के लिए एक चुनौती था। शाह वली उल्लाह ने एक पूर्ण पुरुष की इस्लामी अवधारणा के अनुसार मुसलमानों के जीवन को परिवर्तित करने का यत्न किया। किन्तु उसके यत्न अपने पूर्वजों से अधिक सफल न हो सके। यद्यपि शाह वलीउल्लाह अपने समय के मुस्लिम समाज को परिवर्तन करने में असफल रहा तथापि उसकी कृतियों को अब भी लाभ और प्रसन्नता से पढ़ा जा सकता है।

शाह वली उल्लह दहलवी का राजनीतिक गतिविधियाँ विशेषतया उल्लेखनीय हैं। उत्तरकालीन मुगलों के अधीन मुगल साम्राज्य का विघटन हो गया था। मुगल सिंहासन हिंदुस्तानी और तूरानी दरबारियों के बीच जोखिमपूर्ण खेल बन कर रह गया था और सम्राट् केवल एक निःसहाय दर्शक से अधिक कुछ नही ंथा। शाह वली उल्लाह अपने समय की राजनीति में गहरी रूचि रखत था और उसने इसमें अच्छी सूझ–बूझ का परिचय दिया। उसने यह निष्कर्ष निकाला था कि आर्थिक दिवालियापन और तुच्छ प्रशासकों का अत्याचार ही राजनीतिक अशांति और विद्रोह के लिए उत्तरदायी थे। उसने शासन करने वाले मुखियाओं और अमीरों व वजीरों का ध्यान इन बुराईयों की और दिलाया और उन्हें इनको दूर करने के लिए प्रेरित किया। किन्तु यह रोग असाध्य दिखाई देता था। शाह वली उल्लाह के मतानुसार मुगल सम्राट् की राजनीतिक सर्वोच्चता को तब तक पुनः स्थापित नहीं किया जा सकता था जब तक कि राजनीतिक मतभेद के असुविधाजनक घटकों, विशेषतया जाटों, सिक्खों तथा मराठों को राजनीतिक क्षेत्र से न निकाला जाए शाह वली उल्लाह ने तिमूर के वंशजों को इस कार्य के अयोग्य पाया। इसलिए उसने अपनी आशाएँ अहमद शाह अब्दाली तथा रोहिल्ला के सरदार नजीबउद्दौला पर टिकाई हुईं थीं, जो भारत में विजयी धर्म के पताका वाहक बन सकते थें वजी–उल्लाह ने अहमद शाह अब्दाली को एक लम्बा पत्र लिखा जिसमें उसने देश की राजनीतिक स्थिति का वर्ण किया और मुसलमानों की दयनीय स्थिति पर दुःख प्रकट किया तथा अब्दाली को उसकी सफलता का विश्वास दिलवाया। उसने कहा, "इस समय (मुस्लिम शासकों) आपके अतिरिक्त कोई इतना दूरदर्शी तथा युद्ध में निपुण नही ंहै, जिसके हाथ में सत्ता और शक्ति हो और जो काफिरों और विरोधी शक्तियों को कुचल सकें इसलिए निश्चित रूप से यह आपका कर्त्तव्य है कि हिन्दुस्तान पर आक्रमण करके मराठा आधिपत्य समाप्त किया जाए और मुसलमानों को गैर मुसलमानों के चंगुल से छुटकारा दिलाया जाए। यदि उपर कथित गति से कुफ्र फैलता रहा तो मुस्लिम राष्ट्र इस्लाम से विमुख हो जाएंगे और इनके लिए इस्लाम और गैर इस्लाम में कोई अंतर नहीं रहेगा। यह बहुत बड़ी विपदा होगी और आपके अतिरिक्त इसे टालने वाला अन्य कोई व्यक्ति नहीं है। हम ईश्वर के नाम में आपसे विनय करते हैं कि इस मामले की ओर ध्यान दें और पवित्र युद्ध करके शोभा अर्जित कीजिए और मुसलमानों को काफ़िरों के चंगुल से छुड़ाइए। यह आक्रमण नादिर शाह के आक्रमण (1739) की तरह नहीं होना चाहिए जिसने मुसलमानों को नष्ट कर दिया और मराठों और जाटों को ज्यों का त्यों छोड़ दिया। मुझे भय है कि यदि मुसलमान भी अधिक कमजोर हो गए तो इस्लाम का नाम भी बाकी नहीं रहेगा। उसने आगे

फिर इस्लाम के शत्रुओं के विरुद्ध लड़ने के गुणों और इसकी उपेक्षा करने की स्थिति में निर्णय के दिन होने वाले अपमान को भी स्पष्ट किया।

शाह वली उल्लाह नजीवउद्दौला के निकट संपर्क में था। रोहिल्ला सरदा प्रत्येक कठिनाई में शाह से परामर्श लेता था।

शाह वली उल्लाह नजीबउद्दौला को अपने पूर्वज्ञान से यह कह कर प्रोत्साहित किया करता था कि पूर्वोक्त को (किसी दैवी संदेश द्वारा) स्वप्न में यह सूचना दी गई है कि मराठे, जाट तथा सिख अन्ततः नष्ट हो जाएंगे। उसने नजीबउद्दौला को शत्रुओं के विरुद्ध 'अपनी सेना की गतिविधियों के संबंध में सूचित करने को कहा ताकि वह उनकी सफलता के लिए प्रार्थना कर सके। इसी प्रकार शाह वलीउल्लाह ने अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिज्ञों से भी संपर्क स्थापित किया और उन्हें गौर इस्लामी शक्तियों को दबाने के लिए प्रेरित किया। शाह वलीउल्लाह के प्रभाव का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता हे कि मुगल सम्राट अहमद शाह (1748-1754) तथा राजमाता, नवाब कुदसिया बेगम, जो अपने पुत्र के शासनकाल के दौरान सर्वाधिक शक्तिशाली थीं, शाह वजीउल्लाह से मिलने के लिए गए और यहाँ तक कि सम्राट् ने खाना भी उसी के साथ खाया।

अहमद शाह अब्दाली ने भारत पर नौ बार आक्रमण किया। उसका छठा आक्रमण जिसके कारण मराठों के विरुद्ध पानीपत का युद्ध (1760-61) हुआ। क्रियात्मक रूप से वलीउल्लाह द्वारा ही प्रेरित किया गया था। निःसंदेह अहमद शाह अब्दाली ने मराठों को बहुत बड़ा धक्का लगाया। किन्तु जर्जित मुगल साम्राज्य को इससे कोई लाभ न पहुंच सका।

अध्याय - 10
सूफ़ीमत का प्रभाव
Impact of Sufism

इतिहासकारों ने समय–समय पर इस प्रश्न को बड़ी बारीकी से समझना चाहा है कि भक्ति–आंदोलन पर इस्लाम अथवा सूफी विचारधारा का प्रभाव कहाँ तक पड़ा हैं **ताराचंद, यूसुफ हुसैन** आदि कुछ इतिहासकारों ने इस बात की पुष्टि की है कि शंकराचार्य के अद्वैतवाद और रामानंद की भक्ति–भावना पर इस्लाम संपर्क का गहरा प्रभाव पड़ा है। लेकिन इस मत का विरोध करने वाले दूसरे वर्ग के इतिहासकार यह मानते हैं कि बारहवीं शताब्दी से पहले दो भिन्न संस्कृतियों का संपर्क इतना निकटतम नहीं था कि आध्यात्मिक तौर पर वे एक दूसरे को पूर्ण रूप से प्रभावित कर सकें। तेरहवीं शताब्दी के बाद ही भारत में मुसलिम राजसत्ता तथा सामाजिक संगठन अपना प्रभाव दिखा सका है। लेकिन यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि यह प्रभाव खास तौर पर भक्ति–आंदोलन के मुख्य विचारों पर कितना पड़ा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि सूफियों और संतों में बहुत समानताएँ हैं, जैसे गुरु का महत्व, नाम–स्मरण, प्रार्थना, ईश्वर के प्रति प्रेम, व्याकुलता एवं विरह की स्थिति, संसार की क्षणभंगुरता, जीवन की सरलता, सच्ची साधना, मानवता से प्रेम, ईश्वर की एकता तथा व्यापकता आदि जो दोनों ही आंदोलन का आधार रही है। सूफ़ियों और निर्गुण संतों की आस्था धर्म तथा समाज के कर्मकांडों में न रहकर भावनात्मक एवं साधनात्मक रहस्यवाद में रही है।

इन समानताओं के होते हुए भी **प्रोफेसर अजीज अहमद** ने कहा कि इस्लाम का भक्तिभावना पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है, यह अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि भले ही मध्यकाल से भक्ति–आंदोलन को विशाल लोकप्रियता प्राप्त हुई हो परन्तु इसके बुनियादी विचार भारतीय परंपरा में ही मौजूद रहे हैं। भले ही कबीर और नानक जैसे महान संतों के विचारों में सूफी विचारधारा का हमें कई बार मिश्रण दिखाई पड़ता हो परंतु यह मानना कठिन होगा कि भारतवर्ष में रहस्यवाद और भक्ति–भावना का विकास सूफ़ी साधना के द्वारा हुआ है। भारत का संपूर्ण उपनिषद्–साहित्य रहस्यवाद से ओतप्रोत है तथा भवद्गीता में भक्ति–भावना का सुंदर बीजारोपण है। यही नहीं संतों द्वारा जाति–प्रथा ब्राह्मणों के आडंबरों की कटु आलोचना आदि से प्राचीन भारत में बौद्धधर्म का महत्वपूर्ण अंग थी। आगे चलकर नाथपंथी योगियों ने भी इन सुधारक परंपराओं को प्रोत्साहन दिया।

संक्षेप में, इतना ही कहा जा सकता है कि भक्ति–आंदोलन तथा सूफी–साधना दोनों ने ही ईश्वरीय प्रेम के द्वारा मानवता का पथ प्रशस्त किया है। संतों का मन निर्मल होता है और जो सिद्धांत उन्हें अपने लक्ष्य की ओर ले जाने में उपयुक्त प्रतीत होते हैं उन्हें वे निस्संकोच भाव से ग्रहण कर लेते हैं। भारतीय संस्कृति एवं साधना के संपर्क में आने पर सूफियों ने इस संस्कृति से बहुत–कुछ–ग्रहण कर लिया। नाथपंथी साधकों, योगियों आदि का प्रभाव तो इन पर जगह–जगह

देखा जा सकता है। भावों के मिश्रण के साथ–ही–साथ उन्होंने भारतीय भाषा एवं बोलियों को अपनाया। परिणामस्वरूप बाबा फरीद ने पंजाबी साहित्य को अनूठी देन दी है। कुतुबन, मंझन, जायसी और नूर मुहम्मद जैसे सूफी कवियों का साहित्य अवधी भाषा में है। शेख़ गेसूदराज के समय तक हिंदी कविता भजन तथा संगीत के मिश्रण से एक नया आकर्षण प्राप्त करती है। बाबा फ़रीद तथा निजामुद्दीन औलिया का योगियों से संपर्क रहा था तथा शेख निज़ामुद्दीन ने योगियों की साधना–पद्धति को मुक्त मन से स्वीकार किया। भारतवर्ष में सूफी परंपरा, खासतौर पर चिश्ती–सिलसिला, काफी हद तक अपने विचारों में एक सच्ची रहस्मय अनुभूति तथा ईश्वरीय प्रेम भावना पर केंद्रित रहा है। हालाँकि एक समय था जब राज्य–सेवा इस्लाम–धर्म की सेवा थी परन्तु इस्लाम की विशालता तथा राजकीय सफलता के साथ ही बहुत–सी बुराइयाँ भी उत्पन्न हो गई थी। यह भी कहा जा सकता है कि उलेमा वर्ग के निजी–स्वार्थ तथा अमीरों की धन–लालसा आदि ने सच्चे साधकों को सरकार से दूर रहने के लिए प्रेरित किया। भारत में शेख मुइनुद्दीन के बाद बख्तियार काकी, बाबा फरीद और निजामुद्दीन जैसे चिश्ती शेख़ों ने राजकीय सम्मान प्राप्त होने के बावजूद अपनी आध्यात्मिक स्वतंत्रता को कायम रखा था। बाबा फरीद को बल्बन का दामाद बताया जाता है परंतु उन्होंने अपने परिवार को अत्यंत दयनीय आर्थिक अवस्था में रखा। यह भी कहा जाता है कि मजबूरी में उन्होंने एक बार बल्बन को किसी की सिफारिश के लिए पत्र भी लिखा था।

इसी प्रकार शेख़ निजामुद्दीन औलिया लगभग साठ वर्ष तक सल्तनत के शासकों के समकालीन रहे। परन्तु वे किसी दरबार में नहीं गए और उनके बारे में प्रसिद्ध है कि मेरे घर के दो दरवाजे हैं अगर सुल्तान एक से अंदर आता है तो मैं दूसरे से बाहर चला जाता हूँ। कहा जाता है कि गयासुद्दीन तुगलुक ने बंगाल–विजय से लौटते समय शेख़ को संदेश भेजा था कि वह दिल्ली छोड़ दें। शेख़ निज़ामुद्दीन औलिया ने विचार प्रकट किया था कि 'दिल्ली दूर अस्त' यानी दिल्ली अभी दूर है'। किसी घटनावश सुल्तान की दिल्ली पहुंचने से पहले ही मत्यु हो गई। मुहम्मद तुगलक के प्रयत्नों के बावजूद सूफियों ने सरकार से संबंध रखना उचित नहीं समझा था।

चिश्ती–सिलसिले न केवल राज्य संबंधों से दूर थे अपितु वे आर्थिक सहायता तथा जागीरों आदि को भी स्वीकार नहीं करते थे। नए विचारक आधुनिक काल में मानने लगे कि चाहे चिश्तियों ने इस बात को कबूल न किया हो फिर भी किसी–न–किसी प्रकार की आर्थिक सहायता उन्हें सरकार तथा अन्य संस्थाओं से अवश्य प्राप्त होती थी। जैसा कि हमें ज्ञात है, चिश्ती ख़ानकाहों में हजारों की संख्या में गरीब लोगों को ज़मात खाना में वक्त–बेवक्त भोजन–वस्त्र आदि की सहायता मिलती थी। शेख़ की दया तथा सहायता के पात्र न केवल ख़ानकाह में रहने वाले लोग थे अपितु घूमने–फिरने वाले वे सूफी साधक भी थे जिन्हें अचानक सहायता की जरूरत पड़ जाती थी।

प्रारंभिक चिश्ती सूफियों ने काफी हद तक सरकार तथा राजकीय शान–शौकत से अपने को दूर रखा हे। परन्तु गेसूदराज के समय तक चिश्तियों की इस विचाराधारा में काफी परिवर्तन आ चुका था और अब यह जरूरी नहीं समझा जाता था कि आर्थिक कष्ट और रहस्यमय ज्ञान से ही प्रभु की कृपा प्रापत हो सकती है। ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि दक्षिण में चिश्ती सूफियों ने शासक वर्ग के साथ संबंध स्थापित करते हुए राजकीय सहयोग द्वारा समाज–सेवा की थी।

सुहरावर्दी सिलसिले ने तो आरंभ से ही राज्य से अपना संबंध रखा था। उनका विचार था कि सरकार के सहयोग तथा आर्थिक सहायता से वे समाज के दुखी व्यक्तियों के कष्टों का निवारण कर सकते हैं। यही नहीं, शेख बहाउद्दीन जकरिया के अनुसार वे शासकों से संबंध स्थापित कर

अकसर उनकी विचारधारा तथा नीतियों में भी परिवर्तन ला सकते थे। अगर उलेमा वर्ग 'शरा' के प्रतिनिधि बनकर शासकों को कट्टर नीतियों की ओर अग्रसर कर सकते हैं तो यह मुमकिन है कि शासकों का सूफ़ी विचारधारा तथा शेख़ से संबंध उदार विचारों को प्रोत्साहित कर सकता है। यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि सुहरावर्दी सिलसिला आर्थिक दष्टि से संपन्न था। कहा जाता है कि आवश्यकता के समय सल्तनत के शासक भी शेख़ से आर्थिक सहायता की कामना करते थे। सुहरावर्दी सिलसिले के शेख़ों ने धन–संचय को भी गलत नहीं समझा था बशर्ते कि वह अच्छे कार्यों में लगाया जाए। सुहरावर्दी सूफी अपने परिवारों को भी अत्यंत दुःखी जीवन व्यतीत करने का उपदेश नहीं देते थे। उनका विचार था कि साधारण जीवनयापन के द्वारा भी ईश्वर–प्रेम को पाया जा सकता है। शारीरिक कष्ट को जिस रूप में बाबा फ़रीद जैसे संतों ने समझा था वह सुहरावर्दी सिलसिले के विचारों में आवश्यक न था। उनकी ख़ानक़ाहों में तो हर तरह की आवश्यकताओं के लिए सामान उपलब्ध था।

भारत में आरंभ से ही सूफ़ीमत तथा सूफ़ी साधकों को राजकीय सम्मान के साथ विशाल लोकप्रियता प्राप्त होती रही है। परंतु उलेमा वर्ग ने हमेशा ही सूफ़ी धर्म एवं साधना को नफरत की दष्टि से देखा था तथा समय–समय पर सूफ़ीमत तथा उनके तौर–तरीकों का विरोध भी किया था। पंद्रहवीं शताब्दी तक इस विवाद ने कुछ सूफ़ी साधकों के भीतर भी यह संदेह उत्पन्न कर दिया था कि भारतीय वातावरण में सूफ़ीमत अतयंत उदार हो रहा है और वह शरीयत की पाबंदी से काफी दूर जा रहा है। ऐसी स्थिति के कारण एक उग्र प्रतिक्रिया का होना अनिवार्य था।

प्रतिक्रियावादी विचारधारा

भारतवर्ष में शेख़ सरहिंदी ने नक्शबंदी–सिलसिले के नेतत्व से एक ऐसी विचाराधारा को प्रोत्साहन दिया जिसका मुख्य उद्देश्य सूफ़ीमत तथा वहदत उल वुजूद का विरोध करना था। इस तरह का प्रतिक्रियावादी आंदोलन मूलतः दो कारणों से थाः प्रथम, सम्राट अकबर की अत्यंत उदार नीतियों के परिणामस्वरूप भारत में इस्लामी राज्य का क्या रूप होगा। दूसरे, हिंदुओं के प्रति अकबर की धार्मिक नीति भी उन्हें मानवतावादी तथ्यों पर आधारित थी जिनका संदेश निर्गुण भक्तों तथा सूफ़ियों ने दिया था। अकबर ने हिंदुओं को एक आवश्यक बुराई के रूप में नहीं समझा था। इस बादशाह की नजर में हिन्दुओं को मुस्लिम–राज्य के उतने ही अधिकार प्राप्त थे जितने कि मुसलमानों को। अकबर ने सूफ़ियों के वहदत–उल–वुजूद के सिद्धांत पर विश्वास रखते हुए इस बात पर जोर दिया था कि हर इंसान को अपने ढंग से धर्म को मानने का अधिकार। किसी को भी किसी धर्म–विशेष को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। यही कारण था कि अकबर की सुलहे कुल (Sulh-i-kul) विचारधारा कट्टर वर्ग तथा उलेमा के लिए असहनीय थी।

धर्म को लेकर शेख़ सरहिंदी जैसे प्रतिक्रियावादी व्यक्तियों ने भरपूर कोशिशों से सूफ़ीमत तथा अकबर की नीतियों का विरोध किया, क्योंकि उनकी निगाह में शरीयत का अस्तित्व ही मिट रहा था। शेख़ सरहिंदी ने इस बात का भी प्रचार किया कि जो खुदा संसार को बनाने वाला है वह मानव के समान नहीं हो सकता।

आगे चलकर शाह वली उल्ला ने भी कुरान तथा शरीयत की पाबंदी को ऊँचा घोषित किया। उनका प्रयास था कि जहाँ तक हो सके वुजूद और शहूद में समन्वय स्थापित किया जाए क्योंकि दोनों ही रास्ते ईश्वर और उसके रहस्यों को मानने के लिए हैं वे मानते थे कि विवाद का कारण आपसी नासमझी है। कहा जा सकता है कि शाहवली उल्ला के विचारों में व्यवहारिकता थी जब कि सरहिंदी में धर्मांधता का अंधा रूप था।

शाह में महत्वपूर्ण बात यह थी कि उन्होंने धार्मिक उदारता तथा सहनशीलता को आदर दिया। जो कुछ भी रहा हो, अंत में शहुदिया प्रतिक्रियावादी आंदोलन की असफलता ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत जैसी सामाजिक संस्कृति के देश में सूफ़ी मत में उत्पन्न सभी गैर–इस्लामी तत्वों को उखाड़ना कठिन है। मुहम्मद गोरी की शासन–व्यवस्था के साथ ही हम भारत में सूफ़ियों को मानवीय प्रेम का बीज खाते हुए देखते हैं। इन सूफ़ियों ने भारतीय वातवरण के अनुकूल प्रचार ही नहीं किया, अपितु सुन्दर साहित्य की भी सष्टि की। इस साहित्य में मानव–प्रेम की भावना का प्राधान्य होने के कारण मानवतावादी तत्व प्रबल थे। साथ ही इन सूफ़ी साधकों ने बड़ी उदारता से भारतीय संस्कृति के साथ समझौता कर लिया था।

भारतीय इतिहास में मध्यकालीन युग प्रारंभ से ही संघर्षों का युग कहा जा सकता है। इस्लाम के आगमन के बाद इस देश की जनता एवं शासकों के लिए अनिवार्य था कि परस्पर सहयोग और समन्वय की भावना को महत्व दिया जाए। इसी विचारधारा के परिणामस्वरूप कबीर, नानक आदि संतों का प्रादुर्भाव हुआ था। इन संतों ने कुप्रथाओं, आडंबरों एवं पथकतावादी तत्वों का विरोध करते हुए पारस्परिक सहयोग का उपदेश दिया। यह अकसर मान लिया जाता है कि हिंदू–समाज के पिछड़े वर्गों को इस्लाम ने धर्म परिवर्तन का नया अवसर दिया परन्तु सच्चाई यह हे कि उनके मुसलमान होने पर भी उनकी सामाजिक तथा धार्मिक–अवस्था में कोई खास परिवर्तन नहीं आया। तथ्यों को अनदेखा करने के कारण उलेमा वर्ग ने समय की पुकार का एहसास नहीं किया। सच तो यह है कि सूफ़ीमत और सूफ़ियों ने ही इस्लाम को बदलते हुए सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण में रहने की शक्ति प्रदान की थी।

प्रो॰ गिब के अनुसार, "इस्लाम के इतिहास के भीतर सक्रिय सूफ़ियों ने इस्लाम के सांस्कृतिक पथ को तो चुनौती दी है किन्तु वे उसे कभी भी अभिभूत नहीं कर सके। विभिन्न देशों में प्रसारित सूफ़ी विचारधारा ने इस्लाम की गतिहीनता को हटाकर गतिशील विचारो का दोहन किया है। सच्चे अर्थों में इन विचारों ने ही उसे शक्ति प्रदान करने का कार्य किया है।"

यह सूफ़ियों के प्रयत्नों का ही फल था कि इस्लाम–धर्म में उदार तथा गतिशील तत्वों को प्रेरणा मिली। आगे चलकर यही प्रेरणा भारत में हिंदू–मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग के लिए लाभदायक सिद्ध हुई। मध्यकालीन भारतीय सूफ़ियों ने एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी किया कि वे अधिक–से–अधिक जनसाधारण के संपर्क में आए। इसके विपरीत मुस्लिम–शासक वर्ग तथा उलेमा वर्ग ने अपने को शायद ही कभी सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए उपलब्ध कराया हो। सूफ़ियों ने ईश्वर को पाने के लिए जो 'सफ़र' निर्धारित किया उसका उद्देश्य केवल प्रभु को पाने तक सीमित न होकर समाज–सेवा भी था। मुइनुद्दीन चिश्ती ने गरीबों और दुःखियों की सेवा को उच्च कोटि की भक्ति माना था। उनका कहना था कि समाज के कष्टों का निवारण ही ईश्वर–प्रेम का एक सच्चा तरीक हैं। निज़ामुद्दीन औलिया के शब्दों में एक महान शेख़ का कर्तव्य है कि वह दूसरों के दिलों के दर्द को दरियाफ़्त करे, उनके साथ सहानुभूति करे ताकि एक–दूसरे के लिए मित्रता और प्रेम जाग्रत हो। श्रद्धालु के हृदय में खुदा का राज छुपा होता है। बाबा फ़रीद और निज़ामुद्दीन औलिया जैसे महान संतों ने अपना उद्देश्य केवल अपनी आध्यात्मिक उन्नति तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु उनका यह निरंतर प्रयास था कि अपने ज्ञान तथा तजुर्बे द्वारा समाज तथा मानव को कल्याण का मार्ग दिखाए जाए। बल्बन जैसे शासकों ने भले ही निम्नवर्ग के व्यक्ति से बात तक करना उचित न समझा हो परन्तु उसके अपने ही राज्य में सूफ़ियों ने जनसाधारण के कल्याण के लिए कोई कसर नहीं छोड़ी थी।

भारत में खानकाहों का उदार वातावरण हिंदू और मुसलमान को दोनों को ही प्यार देने में सफल रहा। यही नहीं, सूफ़ियों ने अहिंसा और शांति से समस्याएँ सुलझाने के लिए जनता को प्रेरित

भी किया। निज़ामुद्दीन औलिया ने सामाजिक तनाव को कम करने के लिए जनता का ध्यान बार–बार भाईचारे की ओर आकृष्ट किया और अपने शिष्यों को निरंतर सामाजिक उत्तरदायित्व की याद दिलाई।

मध्यकालीन युग में बढ़ते हुए शहरीकरण से बहुत–सी बुराईयाँ उत्पन्न हो गई थीं। **अमीर खुसरो** ने **'क़िरान-उस-सादैन'** में और **बरनी** ने अपनी पुस्तक **'तारिख़-ए-फ़िरोजशाही'** में जमाखोरी, दास–प्रथा, काला बाजारी, शराब, वेश्यावत्ति आदि अनेक सामाजिक बुराइयों का वर्णन किया है जो शायद अमीर वर्गों के धन से बढ़ रही थीं। ऐसी स्थिति में सूफ़ी संतों ने प्रचार तथा ख़ानकाहों के माध्यम से मनुष्य की कमजोरियों तथा सांसारिक आकर्षणों की निंदा करते हुए समाज–सुधार का प्रयत्न किया।

भारतवर्ष में सूफ़ीमत ने ऐसे महत्वपूर्ण काव्य तथा साहित्य को जन्म दिया है जिसके माध्यम से वह उदार विचारों को स्वतंत्र रूप से जनता तक पहुँचाने में समर्थ हुआ है। यही कारण है उर्दू तथा हिंदी का सूफ़ी–साहित्य आध्यात्मिक –रहस्यमय भावनाओं के साथ ही मानवतावाद की भावनाओं से भी ओतप्रोत है।

यह सूफ़ीमत का ही प्रभाव था कि उर्दू काव्य में प्रायः मंदिर–मस्जिद, हिंदू–मुसलमान आदि का भेदभाव दष्टिगत नहीं होता है क्योंकि सू फ़ी–साहित्य इस्लामी शरीयत का नहीं, अपितु मनुष्यमात्र की एकता का प्रतिपादक रहा हैं। परिणाम यह हुआ कि उदार उर्दू कवियों ने जैसे जफर, मीर, दर्द ग़ालिब आदि ने, अपनी कविता में खुदा और मनुष्य की वास्तविकता को गहराई से पहचाना है।

संक्षेप में, सूफ़ी संतों ने जनता को यही संदेश दिया है कि मनुष्य–मनुष्य के बीच भेदभाव की दीवार व्यर्थ है। सभी मानव समान हैं तथा उन्हें प्रेम से गले लगाना चाहिए। सभी धर्मों का लक्ष्य विभिन्न साधनों द्वारा एक ही स्थान पर पहुँचना है और वह है प्रभु का साक्षात्कार। संपूर्ण मानव जाति एक है, धर्म तथा देश के नाम पर लड़ना कोरी मुर्खता है। उलेमा वर्ग ने शरीयत की पवित्रता की दुहाई देकर हिन्दू–मुसलमानों की धार्मिक तथा सांस्कृतिक पथकता पर जोर दिया था परंतु सूफ़ियों ने उस महान विचारधारा को प्रवाहित करने में सहयोग दिया जहाँ खुदा की नजर में सब समान है। यूसुफ़ हुसैन ने लिखा है कि सूफी संतों ने सामूहिक जीवन को एक नए धरातल पर ढालने की कोशिश करते हुए एक ऐसे समाज की कामना की, जिसमें हर वर्ग के लोग अपनी मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का पूर्ण अवसर पा सकें।

प्रोफेसर रिज़वी के शब्दों में हम कह सकते हैं कि सनातन पंथी इस्लाम ने शरीयत द्वारा हिन्दुओं के लिए जो दर्जा नियुक्त किया था वह भारत जैसे देश के लिए –– जहाँ की अधिकांश जनता हिंदू थी – व्यवहारिक नहीं था। ऐसी स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि सूफ़ियों के उदार विचारों ने समय की वास्तविकता को धार्मिक औचित्य प्रदान किया। संपूर्ण मानवता को सूफ़ियों ने दिव्य प्रेम की आड़ में जो विश्व–प्रेम का पाठ पढ़ाया वह मानव समज तथा जीवमात्र के लिए अत्यंत कल्याणकारी सिद्ध हुआ। दया, प्रेम, सहानुभूति, क्षमा, सहकारिता आदि मानव–गुण विश्व–प्रेम के ही अनुचर रहे हैं। विश्व की शांति–स्थापक संस्थाएँ भी मध्यस्थों द्वारा इसी संदेश का प्रचार करती है जिसकी व्यापक स्थापना सूफ़ीमत के आधार पर की जा सकती।

UNIT-III

अध्याय - 11

अकबर के धार्मिक विचारों का क्रम-विकास : रूढ़िवादीता से उदारवाद की ओर; सुलह-ए-कुल; तौहीद-ए-इलाही

Evolution of Akbar's Religious Ideas:

From Orthodoxy to Liberalism; Sulh-i-Kul; Tawhid-i-Ilahi

बादशाह अकबर जो कि एक उदारवादी सम्राट माना जाता है, वो भी वाद–विवाद से घिरा हुआ है। ऐंगलो–इन्डियन, जदुनाथ सरकार और श्रीराम शर्मा इत्यादि उसे एक उदारवादी सम्राट कहते हैं। दूसरी ओर राष्ट्रवादी इतिहासकार उसे एक उदारवादी और बुद्धिमान व्यक्ति समझते हुए यह मानते हैं कि उसने हिन्दुस्तान में जो विभिन्न संस्कृतियाँ है उनको संगठित किया। लेकिन कुछ मुस्लिम और हिन्दू इतिहासकारों ने उसे एक साम्प्रदायिक सम्राट करार दिया। खासतौर से पाकिस्तान बनने के बाद वहाँ के कुछ इतिहासकारों ने उसे इस्लाम का शत्रु भी माना है। साम्प्रदायिक हिन्दू इतिहासकारों का कहना है कि उसने हिन्दुओं को मूर्ख बनाया और राजपूत औरतों के साथ शादियाँ की।

अब कुछ इतिहासकारों ने वैज्ञानिक अध्ययन के बाद यह प्रमाणित किया है कि अकबर वास्तव में एक उदारवादी व्यावहारिक सम्राट था। उनकी यह विचारधारा अकबर के अमीर वर्गों के सम्बन्धों पर आधारित है। उनका यह मानना है कि अकबर ने अपने अमीर वर्ग में विभिन्न साम्प्रदायों और जातियों से अमीरों को शामिल किया है, इसलिए यह कट्टर धर्मान्ध नहीं हो सकता।

आधुनिक इतिहासकार, **प्रो. इकतिदार आलम खां** और **प्रो. अतहर अली** ने अकबर की धार्मिक नीति को समझने के लिए अकबर के काल को दो हिस्सों में बाँटा है :

(1) 1560-1580 ई.।

(2) 1580-1605 ई।

वास्तव में देखा जाए तो अकबर का राज्यरोहण 1556 ई. में होता है लेकिन उस वक्त वो नाबालिग

होने की वजह से उसका राज्य के कार्य का भार बैरम खां ने उसके वकील के तौर पर संभाला। लेकिन 1560 में उसने राज्य की बागडोर अपने हाथ में ली और अपनी नीतियों को लागू किया। 1560 और 1580 का समय अकबर की नीतियों की संरचना का है और दूसरा अपने राज्य को मजबूती देने का है और दूसरा समयकाल जो 1580 से 1605 का है उस काल में उसने अपनी नीतियों को लागू किया।

अकबर को सम्राट बनने के बाद जो अमीर वर्ग विरासत में मिला तो उसमें दो जातियों के लोग हैं, एक तूरानी और दूसरा इरानी व पर्शियन। 1555 ई. में कुल 51 मनसबदारों के नाम हमें मिलते हैं उसमें 27 तूरानी (52.9%) और पर्शियन 16 (31.37%) और जिन लोगों के वर्ग का पता नहीं लगता वह 8 थे (15.68%)। इसके बाद 1565-1575 में हमें अमीर वर्ग का स्वरूप बदलता हुआ नज़र आता है। इस काल में दो नये अमीर वर्ग, जो कि हिन्दुस्तानी मुसलमान और राजपूत या हिन्दू है। इसके साथ हमें यह भी नज़र आता है कि इरानी अमीरों की तादाद में बढ़ते हुए नजर आती है। 1555 ई. में जो उनकी तादाद 16 थी वह बढ़कर 48 हो गई है। निम्नलिखित तालिका से यह बात नजर आती है :

तालिका–1565–75 ई.

कुल मनसबदार –176

तूरानी	इरानी व पर्शियन	हिन्दुस्तानी मुसलमान	राजपूत व हिन्दू	अस्पष्ट
67	48	25	18	18
38.06%	27.27%	14.2%	10.22%	10.22%

अकबर ने जब यह पाया कि दो वर्गों का अमीर वर्ग होने की वजह से राजनीतिक संकट में उसे एक वर्ग पर निर्भर रहना पड़ता है। उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि तूरानियों के नम्बर इरानियों के मुकाबले में कम बढ़े हैं। उसका कारण तूरानियों का खैइया मिर्ज़ा शरफूदीन और शाह अबुलमाली के विद्रोह के समय नगर–गरम था। जबकि पर्शियन अमीरों ने विद्रोहियों के खिलाफ काफी चुस्ती दिखाई। दूसरी तरफ उसने हिन्दुस्तानी मुसलमानों और राजपूतों को अमीर वर्ग में शामिल करके यह भी साफ कर दिया कि अब वह सिर्फ तूरानी य पर्शियन अमीरों पर ही आश्रित नहीं रहेगा। अकबर ने अपने संबंध शेखज़ादा (हिन्दुस्तानी मुसलमान) और राजपूतों के साथ वैवाहिक संबंध भी स्थापित किए। उसने आमेर के राजा भारमल और दिल्ली और आगरा के हिन्दुस्तानी मुसलमानों के साथ संबंध स्थापित किए। उसने 1562 ई. में धार्मिक यात्रा कर और 1564 ई. में जज़िया कर समाप्त कर दिया। अकबर के इन फैसलों से यब बात साफ हो गई कि यह धर्म के आधार पर अपनी जनता में कोई भेदभाव नहीं रखेगा।

अकबर के इसी काल में कुछ विरोधाभास नज़र आता है। उसमें से एक हमें यह दिखाई देता है कि 1568 ई. में जब चित्तौर फतह किया उसने उस विजय को काफिरों पे इस्लाम की विजय बताया। हालांकि फतहनामा लिखने की एक तकनीकी भाषा शैली है जो पुराने समय से चली आ रही है। इसे हमें अकबर की धार्मिक कट्टरता नहीं समझनी चाहिए। दूसरा उदाहरण अकबर का फरमान जो बिलग्राम के मोहतसिल के नाम से है उसमें यह लिखा गया है कि बिलग्राम के परगना में हिन्दुओं को मूर्ति पूजा करने से रोका जाए। और दूसरा उसने 1575 ई. में दोबारा

से जज़िया लागू करना है। यह माना जाता है कि अकबर ने यह सब कुछ इसलिए किया कि इरानी, तूरानी और खासतौर से हिन्दुस्तानी मुसलमानों का समर्थन पा करके राजपूत राजा जो कि भारमाल के अलावा किसी और ने अकबर की नौकरी स्वीकार नहीं की थी, उनको शैखज़ादा, तूरानी और इरानी अमीरों को साथ ले करके मजबूर करे कि वो मुगल साम्राज्य में शामिल हो जाए।

महज़र– (1579 ई.)

अकबर ने सन् 1579 ई. में महज़र की घोषणा की। आमतौर से यह माना जाता है कि अकबर इस घोषणा के तहत सारे रूढ़ीवादी मुसलमानों की हमदर्दी बटोरना चाहता था। वास्तव में ऐसा नहीं था, वह तो सिर्फ हिन्दुस्तानी मुसलमानों का सर्वेसर्वा होना चाहता था। समकालीन इतिहासकार बदायूंनी और निज़ामुद्दीन ने महज़र के मूल पाठ को उद्धारित किया है। उसमें अकबर को अमीर–उल मोमनिन और बादशाह–ए–इस्लाम जैसे उपनामों से पुकारा गया है। **प्रो. नूरूल हसन क**ा कहना है कि अकबर को खालीफा की बजाए सोच समझ कर उपर्युक्त उपनाम दिए गए हैं। उपनाम खलीफा इसलिए नहीं दिया गया क्योंकि अकबर का इरादा हिन्दुस्तानी मुसलमानों का सर्वेसर्वा बनना था न कि दुनिया के मुसलमानों का।

इसके साथ हमें यह भी मालूम होता है कि अब तक अकबर जो ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती अजमेर की दरगाह (1568 से 1579), हर साल जाया करता था वो अब कम होता चला गया। अकबर के दरबारी इतिहासकार **अबुल फज़ल** का यहाँ तक कहना है कि अकबर की इन दरगाहों पर कोई रूचि नहीं रही। अकबर ने इसी काम में रूढ़ीवादी मुसलमानों को खुश करने के लिए खुतबा (जुमे की नमाज़ के धार्मिक प्रवचन) भी दिया।

लेकिन यह सब अकबर का रवैइया 1580 ई. के बाद बदल गया। अकबर अपने आप को जो कि बादशाह–ए–इस्लाम करार दिया था वो सब समाप्त हो गया। क्योंकि 1580–1581 ई. में इरानी और तूरानी अमीरों ने अकबर के खिलाफ जो विद्रोह किया उसमें गरमजोशी से हिस्सा लिया। यह विद्रोह जो अकबर की नई कर वसूलने की नीति थी जिसमें दाग लगाने की नीति को लागू किया उसके विरुद्ध था। अब अकबर इस नतीजे पर पहुंचा कि वो केवल मुसलमानों का सर्वेसर्वा नहीं हो सकता, बल्कि सम्राट होने के कारण सभी धर्मों का सर्वेसर्वा है और इसीलिए उसने 1580 ई. में जज़िया को दोबारा से समाप्त किया। अकबर अपनी भूल को सुधारते हुए उसने महज़र को ठण्डे बक्से में रखा और उसने नई नीति जो कि सुलहकुल (सबके साथ शान्ति) के नाम से जानी जाती है का अनुसरण किया। यह एक तरह से अकबर की धार्मिक रूढ़ीवादी नीति की समाप्ति और उदारवादी नीति की शुरूआत थी।

(II)

अकबर की सुलहकुल (Peace with all or absolute peace) की नीति का ध्येय सभी धर्मों के साथ सामान व्यवहार करने का था। अकबर की जो उदारवादी नीति थी उसके पीछे अनेक तत्वों का हाथ था। उसमें सबसे पहले उसके अपने परिवार के सदस्य, उनके गुरुजनों का प्रभाव था। अकबर के जो गुरु थे – बैरम खां और मीर अब्दुल लतीफ कज़वीनी, वो उदारवादी प्रकृति के इन्सान थे। इसी तरह से सुन्नी तूरानी मुनीम खां भी उदारवादियों में गिना जाता है। मीर अब्दुल लतीफ कज़वीनी तो दोनों कट्टरवादी शिया–सुन्नी सम्प्रदायों की निंदा किया करता था।

अकबर की उदारवादी नीति तैमुरिद राजनीति का एक हिस्सा माना जाता है। अकबर के वंश

में जो राजनीति स्वारूप था वह एक धार्मिक सहिष्णुता का था। अल्लाउद्दीन अता जुवैनी, **यसा-ए-चंगेजी** में लिखता है कि सम्राट को सभी सम्प्रदायों को समान समझना चाहिए और उनमें भेदभाव नहीं करना चाहिए।

अकबर ने 1578 ई. में जो इबादतखाने की शुरूआत की उसमें सभी धार्मिक लोगों को बुला करके उनकी विचारधाराओं को समझना, उसकी एक उदारवादी नीति का ही सबूत था। अकबर ने इस इबादतखाने में इस्लाम के नियमों को भी आलोचनात्मक दष्टि से देखा।

अकबर के कुछ कार्य जैसे हिन्दुओं को मुसलमान बनाना और हेमू की पराजय को रिज़कुल्लाह मुशताकी, जो कि दिल्ली का शेखज़ादा था उसका यह लिखना कि अकबर को भगवान ने इस्लाम की रक्षा के लिए दुनिया में भेजा है। यह इस बात को साबित करता है कि अकबर अपने पूर्वजों की तरह इस्लाम धर्म को मानता था और उतना ही रूढ़ीवादी था जितना कोई अन्य रूढ़ीवादी मुसलमान हो सकता है।

अकबर की धार्मिक विचारधारा का क्रम विकास हमें उसकी राजपूत औरतों से शादियाँ करने से भी पता चलता है। इन पत्नियों का अकबर के धार्मिक विचारों पे साफ–साफ असर नज़र आता है। जैसे उसका दरबार में 'होम' का आयोजन करना। समकालीन इतिहासकार बदायूंनी का लिखना है कि जब एक ब्राह्मण जो मथुरा का था, उसको इस बात पे कैद कर लिया था कि उसने पैगम्बर हज़रत साहब के लिए अपशब्दों का प्रयोग किया था। जब इस बात का दरबार की राजपूत रानियों को पता लगा तो उन्होंने अकबर से याचनाऐं की कि ब्राह्मण को छोड़ दिया जाए। लेकिन जब मुल्लाह अबद–उन–नबी जो सद्र–उस–सुदुर था, उसने उसका कत्ल करा दिया तो राजपूत औरतों ने इस बात पर विरोध किया कि सद्र–उस–सुदुर ने अपनी मनमानी की है और उसके खिलाफ कार्यवाही करनी चाहिए। बदायूंनी का कहना है कि इसका यही कारण था कि अबद–उन–नबी का मरतबा अकबर की नजरों में गिर गया। दूसरे इतिहासकार रफीयुद्दीन शिराज़ी का कहना है कि अकबर अपनी हिन्दू पत्नियों के प्रभाव में आ करके ही उसने दासों के खरीदने और बेचने पर रोक लगाई। उनका यह कहना था कि अगर दासों को इस बड़ी मात्रा में निर्यात किया गया तो कुछ समय के बाद साम्राज्य में श्रमशक्ति की कमी हो जाएगी। यह भी कहा जाता है कि अकबर ने अपनी हिन्दू पत्नियों के प्रभाव में आ करके ही गौमांस, प्याज़ और लहसुन वर्जित कर दिया।

सती

अकबर ने अपनी राजपूत पत्नियों की सूचना पर ही राजपूत राजकुमारी को सती होने से बचाया। जब बघेला राजा बलभद्र, जिसने कि बीकानेर की राजकुमारी से शादी की थी, और उसकी मत्यु होने पर जब जवान राजकुमारी के सती होने की तैयारियों की खबर अकबर की पत्नियों ने अकबर को दी तो वह तुरन्त कुछ राजपूत सरदारों के साथ मौके पर पहुँचा और जवान राजकुमारी को सती होने से बचाया।

जब राजपूत सरदार जैमल की मत्यु के बाद, उसकी विधवा जो कि राजा उदय सिंह जोधपुर की बेटी थी, उसके बेटे ने अपनी माँ को सती होने पर मजबूर करना चाहा तो अकबर ने उसे तुरन्त बन्दी बनाने का हुक्म दिया।

हिन्दू त्यौहारों का दरबार में मनाना भी अकबर की धार्मिक सहिष्णु विचारधारा की ओर इशारा करती है। अकबर के दरबार में दशहरा, दिवाली, होली, शिवरात्रि एवं राखी आदि त्यौहार मनाये जाते थे। सूरज की पूजा करना पारसी परम्परा का अनुसरण करना था। सूरज की पूजा का

मतलब यह भी था कि सम्राट को सूरज की तरह होना चाहिए। जैसे सूरज बिना भेदभाव के सबको रोशनी और गर्मी देता है उसी तरह सम्राट को भी किसी के साथ भेदभाव किए बिना व्यवहार करना चाहिए। परम्परागत चले आ रहे **'नौ रोज'** त्यौहार का मनाना बराबर जारी रहा।

अकबर के धार्मिक विचारधारा का क्रमिक विकास इससे भी मालूम होता है कि उसने हिन्दू विचारधारा का आदर करते हुए गाय के वध पर रोक लगाई। न केवल रोक लगाई बल्कि गाय के चराने के लिए खेती योग्य जमीनें भी **मदद-ए-माश** दान में दी। अकबर ने कुछ दिन ऐसे निश्चित किए। जिनमें किसी भी जानवर का वध नहीं हो सकता था। उसने मछली के शिकार पर भी रोक लगाई। ये सब अकबर के सिद्धान्त हिन्दू, बुद्ध और जैन धर्मों की अहिंसा के सिद्धान्त का सूचक है। इसलिए अकबर ने सभी धर्मों के धार्मिक सिद्धान्तों का आदर किया।

लेकिन अकबर की इस धार्मिक सहिष्णुता को अकबर की नई विचारधारा तौहीद–ए–ईलाही से या कल्पित नाम दीन–ए–ईलाही से भ्रमित नहीं करना चाहिए। वास्तव में अकबर ने एक नये धर्म की शुरूआत नहीं की। **दीन-ए-ईलाही** शब्द समकालीन इतिहासकारों ने कही पर भी नहीं लिखा है। अबुल फज़ल ने **आईन-ए-ईरादात-ए-गाज़ीनान** शब्द का इस्तेमाल किया है।आईन–ए–ईरादात–ए–गाजीनान का अर्थ – **देवी सिद्धान्त के अध्यादेश** है। अकबर की इस नई विचारधारा को धर्मनिर्पेश विचारधारा के नाम से पुकारा जा सकता है। अकबर की यह नई विचारधारा यह दर्शाती है कि अकबर अब सिर्फ मुसलमानों का ही नहीं बल्कि सभी धर्मों के लोगों का सम्राट है। अकबर ने अपनी इस विचारधारा को किसी पर भी नहीं थोपा। हिन्दुओं में बीरबल के अलावा कोई इस का सदस्य नहीं बना। राजा मानसिंह कच्छवाह, आमेर के राजा, ने इस विचारधारा को अपनाने से साफ इनकार कर दिया। मानसिंह का कहना था कि वह केवल हिन्दू और इस्लाम धर्म को ही जानता है, यह (तौहीद–ए–ईलाही) क्या विचारधारा है, वह कुछ नहीं जानता।

जैसा कि हमने पहले पढ़ा है कि अकबर का उद्देश्य कोई नया धर्म शुरू करने का नहीं था। अगर वह एक नये धर्म की शुरूआत करता तो वह सुलहकुल की नीति के विरुद्ध होता। वह तो एक ऐसे लोगों को अपनी ओर आकर्षित करना चाह रहा था जिससे वे लोग व्यक्तिगत रूप से उसके आभारी या वफ़ादार रहें। दरबारी इतिहासकार अबुल फज़ल के वर्णन के अनुसार अकबर का उद्देश्य राजा और लोगों के बीच एक इकरारनामा या सामाजिक अनुबंध रवा–ए–रोज़ी (Riwa-i-Rozi) का था।

यह समझना भी गलत है कि अकबर इस्लाम धर्म के विरुद्ध था। वास्तव में अकबर धार्मिक विचारधाराओं से अपर उठकर तर्क संगत और विवेकी का नज़रिया रखता था। वह सभी धार्मिक विचारधाराओं को पुरानी परम्पराऐं समझता था। उन सब विचारधाराओं की नकल करना उसके अनुसार अकल (बुद्धिमता) की बात नहीं थी। उसका मानना था कि अगर **'तकलीद'** (नकल) ही करनी थी तो सारे पैगम्बर नकल ही करते और इसका मतलब है कि समाज में कोई भी परिवर्तन नहीं होता।

धार्मिक परम्पराओं को मानने के साथ हमें 'अकल' से भी काम लेना चाहिए। अकबर की यह समझ कट्टर और संकुचित विचारधारा के विरुद्ध थी।

अकबर औपचारिक और परम्परावादी धर्म से अलग हटकर बात करता था। धर्मों में घुसी बुराइयों की निन्दा करता था। इनकी वजह से अकबर पर तरह–तरह के इल्ज़ाम लगे। कट्टर मुल्लाओं या उलेमाओं ने उसे इस्लाम धर्म का शत्रु समझा और कुछ लोगों ने उसे नास्तिक या अधार्मिक बताया। ईसाई पादरी (जेसुइट) जो कि ईबादतखाना में धार्मिक वार्तालाप में हिस्सा लेते थे उन्होंने अकबर को ईसाई धर्म में बदलने का दावा किया। वास्तव में अकबर सभी धर्मों

के धार्मिक लोगों की बातें गौर और दिलचस्पी से सुनता था इसलिए वे लोग यह समझते थे कि अकबर उनके धार्मिक विचारों से प्रभावित हो गया है और उसने उनके धर्म को अपना लिया है।

अब्दुल कादिर बदायूंनी और शेख अहमद सरहिन्दी ने अकबर को इस्लाम और **शरीयत** (इस्लाम धर्म के नियम) के विरुद्ध बताया। उन्होंने अकबर पर शरीयत को ना मानने का दोषी बताया। यह ही लेखक नहीं बल्कि राजकुमार सलीम जो कि बाद में मुगल बादशाह जहांगीर बना उसने भी अपने एक **फरमान** (1601) में यह लिखा कि मेरे पिता अकबर कुछ शरारती लोगों के बहकाने पर मस्जिदों में जो मौलवी पदाधिकारी जैसे **खातिब, मौअज्ज़न** और **ईमामों** के देखभाल का बन्दोबस्त कर रखा था उसे समाप्त कर दिया। इसके साथ ही जो सामुहिक तौर पर नमाज होती थी उस पर भी रोक लगा दी गई। उसने बहुत सारी मस्जिदों को गोदाम और तबेलों में बदल दिया। शहजादा सलीम ने अपने 1601 ई. के **फरमान** में यह भी लिखा कि अकबर का ऐसा करना अशोभनीय था।

केवल उपर्युक्त लोग ही नहीं बल्कि जेसुईट फादर भी अकबर के समय में मस्जिदों की बर्बादी की बात करते हैं। इसके अलावा न्यामतउल्लाह, **तारीख-ए-खान-ए-जहाँनी** (1612 ई.), का लेखक भी जहांगीर के समय में लिखता है कि अकबर के पिछले तीस सालों में मस्जिदें, मदरसे और खानकाहें परिन्दों और पशुओं के घरों में बदल गए थे। इसी तरह से मोहम्मद सादिक अपनी किताब **तबाकात-ए-शाहजाहनी** जो उसने 1634 ई. में लिखी, लिखता है कि अकबर अपने शासन के अन्तिम सालों में अपने धर्म (इस्लाम) से विचलित हो गया था।

इतने लेखकों का अकबर के बारे में इस्लाम धर्म से विचलित होने के लिखने के पीछे कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। वास्तव में यह कहा जाता है कि अकबर ने **"सुयूरगाल"** (माफी की जमीन या लगान) के रूप में जो अनुदान दे रखा था उसमें कटौती करने लगा। अबुल फज़ल ने **आईन-ए-अकबरी** में लिखा है कि सभी अनुदान भूमि के एक गाँव में हस्तांतरण कर दिया। 500 बीघा से ज्यादा की अनुदान भूमि को सरकार ने जब्त कर लिया या फिर दोबारा से बादशाह ने इस अनुदान को बहाल करने की मंजूरी दी। 100 बीघा से ज्यादा की अनुदान भूमि से 3/5 को सरकार ने जब्त कर लिया। इस नियम को ईरानी और तुरानी औरतों पर लागू नहीं किया गया। अगर किसी ने भी अपने अनुदान भूमि को ट्रांसफर करना चाहा तो उसे अपने एक चौथाई भाग से वंचित कर दिया गया। इन से बहुत सारे काज़ियों को नुकसान पहुँचा। एक अनुदानी की मत्यु पर अगर उसके पास 15 बीघा से ज्यादा ज़मीन है तो उसका अनुदान वापस ले लिया गया। या फिर अनुदानी की मत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी बादशाह के सामने यह साबित करे कि वे मरने वाले के सही उत्तराधिकारी है। 100 बीघा से कम के अनुदान को **सदर-उस-सुदूर** के द्वारा नियमित करवाना आवश्यक कर दिया गया।

साफतौर से ऐसे नियमों से धार्मिक लोगों के आर्थिक हितों को नुकसान पहुंचा। अकबर फालतू खर्च को रोकना चाहता था। अनुदान में भूमि दी गई, भूमि परम्परागत तौर पर वंशानुगत हो गई थी। यहाँ तक कि जिस व्यक्ति को यह अनुदान दिया गया था उसके वंश के लोग अब वो काम जिसके बदले अनुदान दिया गया था करते है या नहीं। अकबर की इन सब सख्तियों का असर इन धार्मिक लोगों पर पड़ा तो वे अकबर को बुरा भला कहने लगे।

वास्तव में 1595 ई. में शहज़ादा मुराद जो कि दक्षिण में था अकबर को यह खबर भेजी कि

अगर कोई उसके कैम्प में धर्मशास्त्रियों की नकल में नमाज अदा कर रहा हो तो क्या उस पर पाबन्दी लगा देनी चाहिए या फिर उसके हाल पर छोड़ देना चाहिए? इस सवाल का अर्थ यह ही था कि ऐसे आदमी जो रूढ़ीवादी इस्लाम की **'तकलीदी'** यानी कि 'नकल' के रूप में मान रहे हो उन्हें इसकी नसीहत करनी चाहिए कि वह **'अक़ल'** यानी कि बुद्धि से काम ले। इस सवाल का जवाब जो अकबर ने भेजा वह काफी रूचिपूर्ण है। अकबर ने मुराद को यह निर्देश दिया कि ऐसे लोगों पर किसी तरह का दबाव नहीं डालना चाहिए क्योंकि ऐसा करने का मतलब होगा 'सुलहकुल' के नियम का उल्लंघन करना।

ऐसा लगता है कि अकबर रूढ़ीवादी इस्लाम से अलग हो रहा था और जैसा कि शहज़ादा सलीम के फरमान से भी पता लगता है कि 1601 में उसने सामूहिक नमाज पर रोक लगा दी थी। अकबर के इस दौर में कठमुल्लाओं ने अकबर पर तरह–तरह के आरोप लगाए। हालांकि यह सही है कि अकबर रूढ़ीवादी और परम्परावादी इस्लाम को अच्छा नहीं समझता था। यह बात अबुल फज़ल के इस कथन से भी साबित होती है कि अकबर ने अब यदाकदा नमाज़ पढ़ना शुरू कर दी ताकि जो अकबर की इस बात की बदनामी और निंदा कर रहे थे उनके मुंह बन्द हो जाएं।

अकबर वास्तव में उदार सूफी विचारधारा से भी काफी प्रभावित था। 'अकबरनामा' की शब्दावलियों से मालूम होता है कि अकबर उदार सूफीवाद से प्रभावित था। वह पिरी, मुर्शिदी और मुरीदी में विश्वास रखता था। उसका मानना था कि परम्परावादी नमाज़ के जरिए खुदा की वास्तविकता को नहीं पहचाना जा सकता, बल्कि सिर्फ अपने आप और अपने पीर के माध्यम से खुदा की वास्तविकता को जाना जा सकता है।

सूफीवाद के साथ ही अकबर निर्गुण भक्ति विचारधारा का अनुयायी था। निर्गुण भक्तिवाद परम्परावादी हिन्दू और इस्लाम के नियमों की आलोचना करते हैं। अकबर का यह दष्टिकोण कबीर, दादू और नानक की याद दिलाते हैं।

अकबर **'वहदत-उल-वजूद'** का भी मानने वाला था। **वहदत-उल-वजूद** का अर्थ है कि खुदा की मौजूदगी हर कण–कण में होती है। इस विचार धारा को मानने का मतलब है कि हर पत्थर और हर एक वस्तु में भगवान मौजूद है। साफतौर से यह खैइया मूर्ति पूजा करने वालों के साथ सह–अस्तित्व का था। वे लोग जो मूर्ति पूजा के खिलाफ थे और वह लोग मूर्ति पूजा करते थे, उनको एक साथ लाकर शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व के लिए खड़ा करना था।

अकबर किसी भी धर्म के विरुद्ध नहीं था, वह तो रूढ़ीवादी और परम्परावादी धार्मिक रिवाजों के खिलाफ था। ना तो उसने इस्लाम धर्म को नुकसान पहुँचाया और ना ही हिन्दू धर्म को। उसने अपने धर्म इस्लाम को भी नहीं छोड़ा। वह मुसलमान था, मुसलमान रहा और मुसलमान ही मरा। शेख अब्दुल हक–मोहद्दीस देहलवी और उसके बेटे शेख नुरूल हक जो सत्रवीं शताब्दी के इस्लाम–विधिवेत्ता माने जाते है अकबर की भूरी–भूरी प्रशंसा करते है।

अध्याय - 12

मुसलमानों की रूढ़िवादिता और 16 वीं और 17 वीं शताब्दी में मुगल राज्य

Muslim Orthodoxy and the Mughal State in the 16th and 17th Century

तुर्कों ने जब 12 वीं शताब्दी में भारत में अपने राज्य की नींव रखी तो उनके साथ ही उनका धर्म यानि इस्लाम और उनके धार्मिक पंडित भी यहाँ आए। उस समय धर्म तथा राजनीति को अलग नहीं समझा जाता था। दुनिया के समस्त समाजों और संस्कृतियों में धर्म राज्य का ही एक हिस्सा था। तुर्क जो कि मुसलमान थे तथा भारत में बाहर से आए थे और बहुत ही कम संख्या में थे, इस्लाम के अनुयायी थे जबकि हिन्दुस्तान की जनता हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। इन दो विचारधाराओं में काफी अन्तर था।

इस पहलू को समझने के लिए हमें तीन तत्वों को आवश्यक रूप से ध्यान में रखना चाहिए :

(i) राजा, राज्य तथा उनका अपना हित,

(ii) धार्मिक पंडित,

(iii) राज्य की जनता।

राजा का हित इस बात में था कि उसका राज्य सुचारू रूप से चले, राज्य में शान्ति रहे तथा उसका राज्य फले फूले।

धार्मिक पंडितों का वजूद या अस्तित्व धर्म से था। उनका सर्वोपरि हित भी धर्म में ही था। धर्म मजबूत रहे, राजा धार्मिक निमयों को माने, धार्मिक लोगों को खुश रखे, राज्य धार्मिक सिद्धान्तों के अनुसार चलाया जाये, यही उनका ध्येय था।

राजा तथा धार्मिक पंडितों के सिद्धान्त साधारण व्यक्ति के व्यवहार को लेकर टकराते थे। राज्य साधारण जनता के साथ एक व्यवहारिक सम्बन्ध बनाना चाहता था क्योंकि राज्य की जनता से ही राजा तथा उसके सहयोगी शासक वर्ग को उनके अधिशेष का एक बड़ा हिस्सा प्राप्त होता था। इस आय के बिना राज्य को चलाना कठिन था। धर्म को लेकर बुद्धिमान शासक जनता के प्रति अच्छा व्यवहार करके राज्य में शान्ति बनाए रखना चाहते थे। राजा अपना यह कर्त्तव्य समझता था कि अपनी शान्ति प्रिय जनता के जान माल की सुरक्षा करे।

धार्मिक पंडित दो प्रकार के थे :

(i) **रूढ़िवादी** – जो राज्य को मजबूर करके इस्लाम धर्म के नियमों के आधार पर राज्य चलाना चाहते थे।

(ii) **उदारवादी तथा सहिष्णु** – ये सभी धर्मों के सह अस्तित्व में विश्वास रखते थे। वे उन राजाओं तथा राज्यों का साथ देते थे जो उदारवादी और सहिष्णु थे। ये लोग राजा और राज्य के लिए एक शक्ति थे।

साधारण जनता को धर्म के आधार पर दो बड़े भागों में विभक्त किया जा सकता है :

(i) मुस्लिम,

(ii) गैर मुस्लिम। इसमें हम हिन्दू, जैन और बौद्ध मतावलम्बियों को सम्मिलित कर सकते हैं।

जो मुस्लिम बाहर से यानि मध्य एशिया से आए थे वे संख्या में बहुत कम थे तथा धीरे–धीरे भारतीय संस्कृति के प्रभाव में आ रहे थे। अधिकतर मुसलमान जो विभिन्न कारणों से धर्म परिवर्तन करके मुसलमान हो गए थे उनकी भी संस्कृति भारतीय थी।

एक तरफ ऐसे कठमुल्ला थे जो इस्लाम के सिद्धान्तों या नियमों को कठोरता से लागू करना चाहते थे। ये नियम राजा, राज्य तथा गैर मुस्लिम जनता के हित में नहीं थे। यही कारण है कि जब सुल्तान इल्तुतमिश के समय में कुछ रूढ़िवादी मुसलमानों ने **शरीयत** (इस्लामी नियम) के अनुसार राज्य को चलाने पर ज़ोर डाला तो इल्तुतमिश के वज़ीर निज़ामुल मुल्क जुनैदी ने कूटनीति का सहारा लेते हुए यह कहकर टाल दिया कि जब मुसलमानों की संख्या बढ़ेगी तब वे **शरीयत** को लागू करेंगे। इसके पश्चात् जब सुलतान अलाउद्दीन के समय काज़ी मुगीस ने अलाउद्दीन पर राज्य को **शरीयत** के अनुसार चलाने को कहा तो उसने दो टूक शब्दों में उत्तर दया। कि वह यह नहीं जानता कि **शरीयत** क्या कहती है, लेकिन वह यह जानता है कि उसके राज्य के हित में क्या है और क्या नहीं, तथा उन्हीं नियमों का अनुसरण करेगा।

इसी प्रकार जब सुल्तान फिरोज़ तुग़लक ने केवल वे ही कर लगाने के आदेश दिये जो **शरीयत** द्वारा लगाए जा सकते थे तो उसके एक वरिष्ठ अमीर आईन–उल–मुल्क ने जवाब दिया कि अगर कर **शरीयत** के अनुसार लगाए जायेंगे तो खर्च भी **शरीयत** के अनुसार करना होगा जो कि सम्भव नहीं था। इसी प्रकार ऐसे **उलेमा** भी थे जो रूढ़िवादिता के विरुद्ध थे। जब सिकन्दर लोदी ने कुरूक्षेत्र में हिन्दुओं के धार्मिक स्थलों को ध्वंस करने का निश्चय किया और उलेमा से इस कार्य की जब वैद्यता हासिल करनी चाही तो उलेमा ने उसे ऐसा करने से मना किया। सुल्तान सिकन्दर लोदी ने जब काज़ी अब्दुल्ला तथा अन्य उलेमा को बुलाया और हिन्दुओं के धार्मिक स्थलों को ध्वंस करने की आज्ञा माँगी तो कुछ ब्राह्मण काज़ी अब्दुल्ला से मिले और उनसे यह जानना चाहा कि इस्लाम धर्म के नियम क्या अन्य धर्मों के धार्मिक स्थलो को तोड़ने की आज्ञा देते हैं? काज़ी अब्दुल्ला उनकी बात के मर्म को समझ गया और उसने सुल्तान से स्पष्ट शब्दों में कहा कि हिन्दुओं के प्राचीन धार्मिक स्थलों को गिराया नहीं जा सकता। सुल्तान बेहद नाराज़ हुआ, लेकिन काज़ी अब्दुल्ला अपने फैसले पर अड़ा रहा और सुल्तान के दबाव में नहीं आया।

16 वीं शताब्दी में जब मुगलों ने अपने राज्य की नींव डाली तो उनकी परम्परा के अनुसार जिसे **यरना-ए-चंगेजी** कहते हैं और जिसके अनुसार सभी धर्मों के लोगों के साथ समानता और सहिष्णुता का व्यवहार करना चाहिए, अपने साम्राज्य को चलाया। जिन मुगल बादशाहों ने इस परम्परा का अवुसरण किया उनके राज्य में शान्ति रही तथा राज्य का पूर्ण विकास हुआ, किन्तु जिन बादशाहों ने इस परम्परा का अनुसरण नहीं किया उनका राज्य पतन के कगार पर पहुँच गया।

बादशाह अकबर का दष्टिकोण धार्मिक समानता और उदारता का एक प्रमुख उदाहरण है। उसके समय में भी धार्मिक रूढ़िवादी तथा धार्मिक उदारवादी दोनों तरह के दष्टिकोण रखने वाले व्यक्तियों का पता लगता है। शेख़ अबुल फज़ल, शेख़ अब्दुल नबी इत्यादि उलेमा रूढ़िवादिता के विरुद्ध थे। अबुल फज़ल **तफ़लीद** (नक्ल) के विरुद्ध था और **अक्ल** या बुद्धि से धर्म को मानने की बात करता था। यही कारण है कि एक दिन जब राजा टोडरमल दरबार में अकबर से मिलने नहीं आया तो अकबर ने इस बारे में पूछताछ की कि टोडरमल दरबार में क्यों नहीं आया? पता चला कि टोडरमल जिस मूर्ति की पूजा करता था वह गुम हो गई। इस कारण वह काफी निराश तथा उदास है। तब **अबुल फज़ल** के कथनानुसार अकबर ने कहा कि टोडरमल **"सादा लहू"** यानि सीधा सादा है। वास्तव में जिसकी पूजा करते हैं उसकी सूरत तो दिल में होती है। यह घटना अबुल फज़ल के रूढ़िवादिता के विरुद्ध दष्टिकोण को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है।

दूसरी ओर अबुल फज़ल का समकालीन अब्दुल कादिर बदायूंनी है जो रूढ़िवादी विचारधारा का पुजारी नज़र आता है। वह अकबर के उन विचारों को इस्लाम धर्म के विरुद्ध समझता है जो समन्वय की बात करते हैं तथा साथ ही समयानुसार, तर्क संगत तथा प्रगतिशील होते थे।

अकबर सभी धर्मों के पंडितों से बात करता था। ब्राह्मण भी उनमें से एक थे। वह सभी विचारों को खुले रूप से सुनता था यहाँ तक कि वह उन बातों को भी सुनता था जो इस्लाम धर्म के विरुद्ध होती थीं। बदायूंनी लिखता है कि अकबर हर वह बुराई सुनने को तैयार है जो हमारे शानदार और सच्चे धर्म के विरुद्ध होती है।

वह दिल्ली के शेख़ ताजुद्दीन की भी बुराई करता है क्योंकि वह विश्व देवतावादी और सर्वेश्वरवाद की बात करता है। **बदायूंनी** लिखता है कि शेख ताजुद्दीन ने ही अकबर के इस्लाम धर्म के अनुसार रूढ़िवादी विचारधारा के काफिर हमेशा नर्क में ही रहेंगे इस बात का भी शेख़ ने खण्डन किया है।

रूढ़िवादी मुसलमानों ने अकबर के उन सब क्रियाओं को जैसे 'होम' करवाना, शिव की पूजा, सूरज की आराधना इत्यादि को इस्लाम धर्म के विरुद्ध बताया। यहाँ तक कि कुछ लोगों ने अकबर के इन कर्मों को ग़ैर–इस्लामी कहकर जौनपुर में विद्रोह कर दिया। वास्तव में ध्यान से सारे तथ्यों को पढ़ा जाए और समझा जाये तो पता चलता है कि विद्रोही अकबर से इसलिए नाराज़ हो गए थे क्योंकि उसने **मदद-ए माश** या **सुयूरगाल** (माफी की ज़मीन) वापस ले ली थी। इससे नाराज़ होकर इन लोगों ने धर्म का सहारा लेकर अकबर पर यह इल्ज़ाम लगाया कि वह इस्लाम धर्म में नए–नए आविष्कार कर रहा है। इन विद्रोही सरदारों ने, जिनमें प्रमुखतः काबुल के मुहम्मद मासूम, मुहम्मद मासूम खान, मुईज्जुल मुल्क और अरब बहादुर थे, जौनपुर के **काज़ी-उल कज़ात** (मुख्य काज़ी) मुल्ला मुहम्मद यज़दी से विद्रोह के पक्ष में **फतवा** (धार्मिक आदेश) ले लिया। बड़ी संख्या में विद्रोही फौज ने ज़मीन के एक बड़े भाग पर कब्ज़ा कर लिया, लेकिन अन्त में अकबर ने विद्रोहियों को आगरा बुलवा कर मरवा दिया। इस प्रकार रूढ़िवादियों को एक ज़बर्दस्त धक्का लगा।

रूढ़िवादियों में शेख़ अहमद सरहिन्दी का नाम भी अग्रणीय है। वह एक कट्टर सुन्नी मुसलमान (मुसलमानों का एक सम्प्रदाय) था और वह बादशाह तथा राज्य को इस्लामी नियमों के अनुसार

चलाना चाहता था। वह हिन्दुओं के लिए अपशब्दों का प्रयोग करता था, साथ ही उन उदारवादी मुसलमानों को भी बुरा भला कहता था जो राम और रहीम को एक समझते थे। उसका कहना था कि राम की तुलना रहीम से करना ऐसा ही है जैसे किसी हरिजन या मेहतर की तुलना रहीम से करना। वह **कुरान** के बाहर किसी भी विज्ञान को मानने को तैयार नहीं था। एक बार अबुल फज़ल और शेख़ अहमद सरहिन्दी एक सभागार में बैठे थे। अबुल फज़ल ने इमाम ग़ज़ाली (इस्लामी कानून के विद्वान) के इस कथन कि **कुरान** के बाहर कोई विज्ञान नहीं है निन्दा करते हुए कहा कि ग़ज़ाली की यह समझ अज्ञानता की निशानी है। अबुल फज़ल के इस कथन पर शेख़ बहुत नाराज़ हुआ और सभा छोड़ कर चला गया। शेख़ चाहता था कि हिन्दुओं को अपमानित किया जाये। उसका कहना था कि उन पर **जज़िया** कर लगाया जाये। उन्हें अच्छे कपड़े न पहनने दिए जायें और उनको खूब परेशान किया जाए। शेख़ केवल हिन्दुओं के लिए ही रूढ़िवादी और कट्टर पंथी नहीं था बल्कि वह शिया मत (मुसलमानों का एक सम्प्रदाय) के मानने वालों को भी इसी प्रकार बुरा भला कहता था। उसका कहना था कि ये लोग हिन्दुओं से भी गए गुज़रे हैं। शेख़ इनकी तुलना कुत्तों से करता था। उसने उनके विरुद्ध एक किताब **रद-ए खाफिज़** लिखी और उनके सम्प्रदाय की विचारधारा का खण्डन किया। शिया सम्प्रदाय के लोगों की तुलना काफिरों से भी की।

इन सब बातों से यह कहा जा सकता है कि रूढ़िवादिता और संकीर्ण विचारधारा केवल किसी एक धार्मिक वर्ग के विरुद्ध ही नहीं होती है बल्कि एक ही धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के विरुद्ध भी दष्टिगत होती है। शेख़ अहमद सरहिन्दी का आरोप था कि हिन्दुओं को अपने धर्म का पालन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी जबकि मुसलमानों को वह स्वतन्त्रता नहीं थी। उसके अनुसार इस्लाम का वजूद खतरे में था और इस्लाम को ज़बरदस्त धक्का पहुँच रहा था। जहाँगीर के बादशाह बन जाने के बाद उसने उसके बड़े–बड़े **मनसबदारों** को पत्र लिखे और उन्हें प्रेरित किया कि वे जहाँगीर को प्रभावित करें। वह स्वयं जहाँगीर से मिला और एक असफल प्रयत्न किया कि अकबर के समय में इस्लाम को जो धक्का पहुँचा था उसे जहाँगीर दुबारा से उबारने की कोशिश करते हुए इस्लाम को एक नई शक्ति दे। इस्लाम को पुर्नजीवित करने के लिए उसने अपने दूत विभिन्न कस्बों और शहरों में भेजे। जहाँगीर इन सब बातों से नाराज़ हो गया और उसने अपने राज्य के लिए शेख़ तथा उसकी कट्टर विचारधारा को एक ख़तरा समझा। शेख़ को कैद कर लिया गया। उसे ग्वालियर के किले में बन्दी बनाकर रखा गया जहाँ का निरीक्षक राजपूत राजा अनिराय सिंह दालान को बनाया गया।

इसी प्रकार शिया मत में भी कट्टर पंथियों का कोई अभाव नहीं था। काज़ी नुरूल्ला शुस्त्री सुन्नियों की आलोचना करता था। उसने भी एक पुस्तक **मजालिस-ए मोमनीन** लिखी जिसमें शिया सम्प्रदाय की प्रशंसा की। शिया विद्वानों की जीवनियाँ भी लिखीं। उसने आगरा को घणास्पद तथा काफिरों का स्थान बताया। इस प्रकार की साम्प्रदायिक घणात्मक विचारधारा राज्य की शान्ति के लिए एक खतरा थी। एक मत के अनुसार जहाँगीर ने काज़ी को कोड़े लगाने की सज़ा सुनाई और कहा जाता है कि कोड़े लगने के दौरान ही काज़ी की मत्यु हो गई।

शहज़ादा खुर्रम एक लम्बे समय के विद्रोह के बाद शाहजहाँ के नाम से बादशाह बना। जिन अमीरों ने विद्रोह के समय उसका साथ दिया था वह उनको अधिक पसन्द करता था। **अमीर वर्ग** दो भागों में बँट चुका था :

(i) वह वर्ग जिसने विद्रोह के समय शाहजहाँ का साथ दिया था। शाहजहाँ ने उन अमीरों के **मनसब** बढ़ाये और बड़े पदों पर सुशोभित भी किया।

(ii) वह अमीर वर्ग जिसने विद्रोह के समय शाहजहाँ का विरोध किया था। शाहजहाँ ने उनके साथ भेद–भाव किया और उनकी पदोन्नति रोक दी।

इस प्रकार के वातावरण में शाहजहाँ ने धार्मिक लोगों का सहारा लिया। यह कहा जाता है कि शाहजहाँ के शासन के प्रारम्भिक 20 वर्षों में धार्मिक रूढ़िवादिता मज़बूत हुई। **सजदा** तथा **पाबोस** को समाप्त करके उसने **तसलीम** करने का आदेश दिया। तथा निर्देश दिया कि अब बादशाह से मिलने वाले लोग उसको पाबोस नहीं करेंगे। इस्लाम धर्म के अनुसार **सजदा** अथवा **पाबोस** या **सिर का झुकाना** केवल ईश्वर के सामने ही वाजिब था। दूसरे के सामने इस तरह का अभिवादन ग़ैर इस्लामी माना गया। अतः **तसलीम** करने का हुक्म दिया गया। लेकिन इटली के यात्री **मनूची** के कथनानुसार **तसलीम** करना सजदे से कम नहीं था। एक बार जब वह शाहजहाँ से मिला तो उसका लिखना है कि "मेरा सिर ज़मीन से थोड़ी ही दूर रह गया था।" हिन्दुओं पर धार्मिक यात्रा कर भी लागू किया गया।

यह भी जानकारी प्राप्त होती है कि शाहजहाँ ने राजौरी में यह आदेश दिया कि जो मुस्लिम लड़कियाँ हिन्दुओं से शादी करती हैं और मरने पर उन्हें जलाया जाता है, उसको रोका जाए। यह कहना मुश्किल है कि यह धार्मिक रूढ़िवादिता है या फिर सामाजिक और राजनैतिक कारणों को ध्यान में रखते हुए बादशाह ने ऐसा आदेश दिया।

शाहजहाँ की रूढ़िवादी नीति उसके द्वारा पुराने मन्दिरों को तुड़वाने और नए मन्दिरों का निर्माण बंद करवाने से पता लगती है। इलाहाबाद, गुजरात तथा बनारस में मन्दिरों को ध्वंस करवाने के सबूत समकालीन स्त्रोतों में पढ़ने को मिलते हैं। ओरछा में वीर सिंह बुन्देला द्वार बनवाये गये प्रसिद्ध मन्दिर को शाहजहाँ की फौजों ने ध्वंस किया। यहाँ पर बात ध्यान देने की है कि इस मन्दिर को उस समय तोड़ा गया जब जूझार सिंह बुन्देला ने शाहजहाँ के विरुद्ध विद्रोह किया था। शाही फौजें जब विद्रोह को कुचलने के लिए ओरछा पहुँची तो उन्होंने उस मन्दिर को कि जो राजा तथा प्रजा का समान रूप से आस्था का धार्मिक स्थल था, उसे तुड़वा कर वहाँ की प्रजा का यह विश्वास कि उन्हें राजा तथा भगवान ही बचा सकता है, समाप्त कर दिया।

आधुनिक इतिहासकारों का यह कहना भी तर्क संगत लगता है कि तुर्कों तथा मुग़लों ने मन्दिर इसलिए तुड़वाये ताकि स्थानीय शासक जो इन मन्दिरों से अपने राज की वैधता लेता था, उसकी इस वैधता को समाप्त कर दिया गया। आक्रमणकारी के लिए अपनी राजनैतिक वैधता स्थापित करने के लिए यह आवश्यक था कि वह स्थानीय राजा की वैधता को समाप्त कर दे।

रूढ़िवादिता की कोई सीमा नहीं होती। शाहजहाँ ने गोलकुण्डा के सुल्तान कुतुब उल मुल्क को भेजे अपने फरमान में सुन्नी मुसलमानों का चैम्पियन होने का दावा किया। कुतुब उल मुल्क, जो शिया सम्प्रदाय का था, को मजबूर होकर अपने आपको सुन्नी होने का दावा करना पड़ा। तथा उसने अपने राज्य में भी सुन्नी नियमों को लागू किया।

शाहजहाँ ने न केवल मुसलमानों को ही पद और मनसब दिये अपितु हिन्दुओं को भी पद और मनसब प्रदान किये। यह और बात है कि मुसलमानों में उसने उन तुरानी, ईरानी और हिन्दुस्तान

मुसलमानों को पसन्द किया जो उसके वफादार रहे, इसी प्रकार से हिन्दुओं में उन राजपूत तथा मराठा इत्यादि अमीरों को नवाज़ा जो विद्रोह में उसके साथ रहे।

दूसरे ओर इतिहासकारों का यह भी कहना है कि धीरे–धीरे युवराज दारा शिकोह का राज्य की नीति पर प्रभाव पड़ने लगा। उसकी उदारवादी नीति ने रूढ़िवादिता को धक्का पहुँचाया। दारा शिकोह समन्वय की नीति का समर्थक था। उसने मन्दिरों को दान दिया। बाबा लाल वग़ैरह से मिलकर हिन्दू धर्म को समझने की कोशिश की। उसने उपनिषदों का अनुवाद करवाया। फारसी में किया गया यह अनुवाद **सिर्र-ए-अकबर** के नाम से जाना जाता है। उसने एक ग्रन्थ **मजमा-उल बहराइन** (दो समुद्रों का मिलन) की रचना करवाई। इस का अर्थ – दो समुद्रों का मिलन अर्थात् दो संस्कृतियों यानि हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति का मिलन है। दारा ने अपनी अंगूठी पर 'प्रभु' नाम खुदवाया।

इन सब उदारवादी विचारों का प्रभाव रूढ़िवादी लोगों पर पड़ा। जब उत्तराधिकारी को लेकर राजनैतिक संकट उठा तो शहज़ादा औरंगजेब ने इसका लाभ उठाया। उसने अपने पिता शाहजहाँ को कैद करके अपनी तीनों भाइयों तथा दारा के बेटे सिपहर शिकोह इत्यादि को मरवा दिया था। इन सब पर पर्दा डालने या कहा जा सकता है कि इसे दबाने के लिए धर्म का सहारा लिया। उसने ऐसी धार्मिक नीति अपनाई जिससे धार्मिक संकीर्ण विचारधारा के लोग और रूढ़िवादी व्यक्ति औरंगजेब को समर्थन दें। रूढ़िवादियों को खुश रखने के लिए औरंगजेब ने **जज़िया** कर जिसे बादशाह अकबर द्वारा समाप्त कर दिया गया था, दोबारा से हिन्दुओं पर लगाया।

यद्यपि यह कहा जाता है कि धार्मिक कट्टरता के कारण ही औरंगजेब ने अनेक मन्दिरों को तोड़ा जिसके प्रमाण भी मिलते हैं और इनहें ध्वंस करने की वैधता इस्लाम धर्म से ली गई है जिसमें मूर्ति पूजा वर्जित है, किन्तु इसके साथ ही औरंगजेब ने अनेक मन्दिरों को, जिनमें वन्दावन के मन्दिर भी सम्मिलित हैं, **मदद-ए माश** अनुदान दिया। उसने अनेक हिन्दू साधुओं को भी दान दिया।

राजस्थान राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में सुरक्षित स्रोतों, मुख्यतया **अखबारात-ए दरबार-ए मुअल्ला** से जानकारी प्राप्त होती है कि सहारनपुर के हिन्दुओं ने औरंगजेब को सूचित किया कि वहाँ एक मन्दिर को सूचित किया कि वहाँ एक मन्दिर को तुड़वा कर मस्ज़िद बनवा दी गई है। इस पर औरंगजेब ने वहाँ के अधिकारी जहाँगीर मलजान को आदेश दिया कि वह वहाँ के काज़ी और हिन्दुओं को दरबारे शाही में भेजे।

औरंगजेब के आदेशों से यह भी मालूम होता है कि उसने उन हिन्दुओं से जो धार्मिक यात्रा पर जाते थे, ज़कात (कर) वसूल न करने के आदेश दिए।

औरंगजेब ने शक्ति–के आधार पर धर्म–परिवर्तन को बुरा माना और उस पर अंकुश लगाने की कोशिश की। कारागार के कुछ कैदियों ने जब मुसलमान बनने की इच्छा प्रकट की तो **बक़ाया नवीस** ने औरंगजेब को यह रिर्पोट भेजी कि कुछ क़ैदी इस्लाम धर्म को स्वीकार करना चाहते हैं। इस पर औरंगजेब ने जवाब लिखवाया कि वे किसी लालच में तो इस्लाम धर्म को स्वीकार नहीं कर रहे हैं? इस बात की पुष्टि करने के लिए औरंगजेब ने यह आदेश दिया कि उन कैदियों को दरबार में हाज़िर किया जाए।

औरंगजेब की धार्मिक रूढ़िवादिता उसके चरित्र के वाद–विवाद से घिरी हुई है। कहीं पर तो उसकी धार्मिक कट्टरता साफ दष्टिगत होती है जिसको साबित करने के उदाहरण ऐतिहासिक स्रोतों से भी मिलते हैं। लेकिन दूसरे ओर उन्हीं के विरुद्ध मन्दिरों को दान देने का वर्णन, जो कि इस्लाम धर्म के अनुरूप नहीं है, भी प्राप्त होता है।

औरंगजेब के समय में हिन्दू मनसबदारों की संख्या का बढ़ना भी औरंगजेब की कट्टर धार्मिक नीति के विरुद्ध एक पक्ष समझा जाता है। वास्तव में औरंगजेब के काल में आर्थिक समस्या के बढ़ते हुए खतरे ने जहाँ एक ओर ऐसी स्थिति पैदा की जहाँ किसानों का शोषण हुआ और उन्होंने विद्रोह कर झण्डा खड़ा कर दिया, वहीं दूसरी ओर औरंगजेब ने इन समस्याओं पर काबू पाने के लिए तथा मुस्लिम रूढ़िवादियों को खुश करने के लिए ऐसे संकीर्ण कदम उठाए जो उसके राज्य की संकीर्ण और रूढ़िवादी नीति को दर्शाते हैं।